श्रमणोपासक

समता विशेषांक

सम्पादक मण्डल :

- श्री जुगराज सेठिया
- डॉ० मनोहर शर्मा
- डॉ० शान्ता भानावत

श्रमणोपासक

(समता विशेषांक)

- २५ अगस्त १९७८, वीर निर्वाण सं० २५०४
- वर्ष : १६ • अंक : ३–४
- रजिस्ट्रेशन संख्या : आर. एन. 7387/63

शुल्क :

आजीवन सदस्यता : 151.00 रु०
वार्षिक शुल्क : 15.00 रु०

- वाचनालयों एवं पुस्तकालयों के लिये :
  वार्षिक शुल्क : 10.00 रु०
- इस अंक का मूल्य : 10.00 रु०

प्रकाशक :

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर–334001 (राजस्थान)

- तार : साधुमार्गी • फोन : 627

मुद्रक :

[illegible]
[illegible]
[illegible]

परम श्रद्धेय

आचार्य श्री नानालालजी महाराज

के

साधना-समतामय जीवन-दर्शन

और

तेजस्वी व्यक्तित्व

को

सादर सविनय

समर्पित
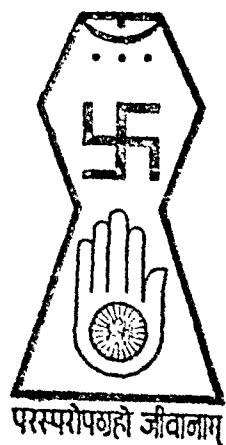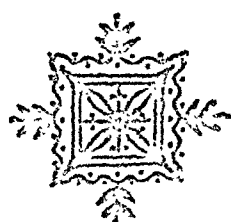
यह आवश्यक नहीं कि लेखकों के विचारों से संघ एवं संपादक की सहमति हो ।

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

समता-दर्शन

(पृ० : १ से १३८)

द्वितीय खण्ड

समता-व्यवहार

(पृ० : १३९ से १९६)

तृतीय खण्ड

समता-समाज

(पृ० : १९७ से २६४)

चतुर्थ खण्ड

परिचर्चा

(पृ० : २६५ से २८२)

पंचम खण्ड
संघ-दर्शन
(पृ० : २८७ से ३०६)

षष्ठ खण्ड
विज्ञापन

समता प्रकृति का ही नहीं व्यक्ति, समाज और युग का धर्म भी है। जब-जब समता-धर्म से विचलित हुआ गया है, तब-तब प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता और युग में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। इन सबको रोकने, सबमें संतुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिए समता भाव की सम्यक् रूप में प्रतिष्ठा होना आवश्यक है। इस दृष्टि से समता सिद्धान्त विज्ञान भी है और कला भी। विज्ञान के रूप में समता का सिद्धान्त भूत पदार्थों में संगति बनाये रखता है, तो कला के रूप में चेतना के स्तर पर, शेष सृष्टि के साथ आत्मौपम्य भाव स्थापित करते हुए समाज में सामंजस्यपूर्ण सौहार्दपरक निर्मल दृष्टि विकसित करता है।

आज हमारी सृष्टि ही नहीं दृष्टि भी विषम, विकारग्रस्त और मलिन हो गई है। व्यक्ति अन्दर-बाहर राग-द्वेष से उत्पन्न क्रोध, अहं, लोभ, भय आदि मनोविकारों की ग्रंथियों से ग्रस्त है। उसे अपने जीने की अदम्य चाह है पर दूसरों के जीवन के प्रति उसमें सम्मान और सहानुभूति की भावना नहीं है। वह बाहरी तौर पर समता, समाजवाद और स्वतंत्रता की बात करता है पर भीतर से अपने अहं की तुष्टि के लिए अपनी सुविधाओं के इर्दगिर्द विषमता का जाल बुनता रहता है। भय और लोभ के कारण वह निर्भय नहीं हो पाता। जब तक अन्दर-बाहर की ग्रंथियों से व्यक्ति मुक्त नहीं हो पाता, उसमें समदर्शिता आ नहीं सकती। जब समदर्शिता का भाव आने लगता है तब व्यक्ति में अपने-पराये का भेद नहीं रहता, न उसमें जीने की आकांक्षा रहती है, न मरने की कामना। यह समदर्शिता आत्मा से फूटती है। जिसकी आत्मा संयम में, नियम में व तप में सुस्थिर रहती है, उसे समभाव की साधना होती है। इसके लिए व्यक्ति को भीतर पैठना पड़ता है, परिधि से केन्द्र की ओर अभिमुख होना होता है।

आज का दुखान्त यह कि व्यक्ति का केन्द्र उसकी आध्यात्मिकता छूटती जा रही है और वह निरन्तर परिधि अर्थात् भौतिकता की ओर भागा जा र

है। जीवन में गति अपेक्षित है पर यदि वह रास्ते के गड्ढों, अवरोधों और संकटों को झेल नहीं पाती तो दुर्घटना होना निश्चित है। इस दुर्घटना से अपने को बचाने के लिए जीवन में समताभाव का विकास होना आवश्यक है। व्यावहारिक तौर पर जीवन में समताभाव का वही स्थान है जो मोटर में स्प्रिंग या कमानी का। जिस प्रकार रास्ते के गड्ढे या अन्य अवरोधों का स्प्रिंग या कमानी के कारण अनुभव नहीं होता, वैसे ही जीवन के संकटों से समताभाव द्वारा बचा जा सकता है।

समझने की बात यह है कि समताभाव कोई निष्क्रिय वृत्ति या 'नेगेटिव एप्रोच' नहीं है। यह एक सक्रिय और जागरूक वृत्ति है। जीवन की टूटन को भरने और समाज की विषमता को पाटने की यह व्यावहारिक कुंजी है। इससे एक ऐसी अनुभव-किरण फूटती है कि हम अपने दुःख से दुःखी नहीं होते वरन् दूसरों के दुःखों को मिटाने के लिए तत्पर होते हैं, अग्रसर होते हैं। सुख-दुःख से परे आनन्द की अनुभूति का नाम है समता।

समता बहुआयामी और बहुप्रभावी तत्त्व है। उसे केवल दर्शन के धरातल से ही नहीं समझा जा सकता। जीवन-व्यवहार के विभिन्न प्रसंगों और समाज-संवेदना की विविध परतों में रखकर ही उसका ओज और तेज पहचाना जा सकता है।

इसी भावना से समता-दर्शन, समता-व्यवहार और समता-समाज इन तीनों खण्डों में समता विषयक विचारों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में संकलित किया गया है। चतुर्थ खण्ड 'परिचर्चा' से सम्बद्ध है। परिचर्चा द्वारा 'समता' के स्वरूप और सम्बन्धों को विभिन्न दृष्टियों से देखने का अवसर मिला है। विभिन्न धर्मों में समता विषयक चिन्तन हुआ है। देश-काल के कारण उसमें विचारों की तर-तमता संभव है, पर सबकी मूल आत्मा एक है। अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी विद्वान् लेखकों ने हमारे निवेदन पर अपनी मूल्यवान रचनाएँ भेजकर, जो सहयोग प्रदान किया, तदर्थ हम उनके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

समाज में 'समता' के चिन्तन-क्रम को बल मिले और उसकी प्रतिष्ठापना हो, इसी भावना के साथ यह ग्रंथ पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

—शान्ता भानावत

प्रथम खण्ड

समता-दर्शन

१
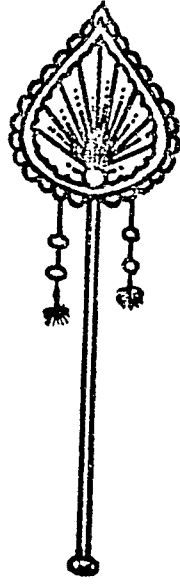
समता–दर्शन

□ आचार्य श्री नानालालजी म० सा०

सुमति चरण कज आतम अर्पणा, दर्पण जेम अविकार । सुज्ञानी
मति तर्पण बहु सम्मत जाणिए, परिसर्पण सुविचार ।। सुज्ञानी

वहिरातम तजि अन्तर आतमा, रूप थई स्थिर भाव । सुज्ञानी
परमातम नुं हो आतम भाववुं आतम अर्पण दाव ।। सुज्ञानी

इस विशाल विराट् विश्व को देखने का प्रसंग है। देखना किससे ? दृश्यते अनेन इतिदर्शनः जिससे देखा जाय वह दर्शन की संज्ञा पाता है याने कि दृश्य देखना। जिसके माध्यम से देखने का प्रसंग उपस्थित हो अथवा दृश्यते अस्मात् जिससे विलग रूप में देखने का प्रसंग हो या दृश्यते अस्मिन्—जिसके भीतर में देखने का प्रसंग हो-तो ऐसा होता है दर्शन।

दर्शन की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या का इस वक्त विशेष विवेचन नहीं किया जा रहा है, केवल सांकेतिक भाषा में कुछ अभिव्यक्ति है। जहाँ सामान्य जन का ध्यान, दृष्टि पर जाता है, कारण कि देखने का अभ्यास नेत्रों को होता है, वहाँ गहराई की बात आगे है। ये नेत्र माध्यम हैं—साधन हैं, लेकिन देखने वाला नेत्रों के पीछे है। जिसने देखा जाता है, वह देखने वाला तत्त्व स्वयं अपने आपको भी जानता है और दृश्य पदार्थ को भी वह समझता है। ये दोनों गुण जिनमें हो, वह एक दृष्टि से दर्शन है। उसको देखने का जहाँ यत्न होता है, वहाँ दर्शन शब्द आभासित होता है। दोनों के पीछे विशेषण जुड़ा है, देखना क्या ?

यह 'देखना क्या' ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रारंभ और अन्तिम रूप से एक भव्य आत्मा को देखनी है समता। समता देखना बन पड़ता है समता को समझने और आचरण में लाने के बाद। इसलिये समता को देखना ही समता-दर्शन है एवं जो समता को देखता है, वह समदर्शी कहलाता है।

समता-दर्शन की मार्मिकता :

आँखों पर चश्मा चढ़ा हो तो जो कुछ दिखाई देगा, वह चश्मे के काच के रंग में दिखाई देगा, अपने स्वाभाविक रंग में नहीं। आत्म-चक्षुओं पर भी जब तक ममता का चश्मा चढ़ा है तो वह वस्तु स्वरूप को यथावत् नहीं देखने देता है। इस कारण समता का दर्शन हो तो ममता का दर्शन छूटना चाहिये। जब समता का दर्शन होता है, समभाव जागृत बनता है, तभी समानता की दृष्टि का निर्माण होता है तथा जो जैसा है व जो जहाँ है, वह उसी रूप में दिखाई देता है।

विभिन्न रूपों के भीतर में विभिन्न आकृतियों के पीछे एक तत्त्व जो भीतर ही भीतर अंगड़ाई ले रहा है और बाहर की समग्र परिस्थितियों का जो संचालक है, उस तत्त्व को यथावत् रूप में देखने की क्षमता समता-दर्शन देता है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वह तत्त्व आत्मा है जिसकी संज्ञा है आत्मिक चेतना और जिसका व्यक्तित्व ज्ञान-स्वरूप होकर दिव्य तेज से आलोकित है। ऐसे आत्म-स्वरूप को यथावत् देखना समता-दर्शन की दृष्टि से ही बन पड़ता है।

इस विश्व की जो सजीवता है, उसका मूलाधार ही यह आत्म तत्त्व है। आत्माओं के इस मेले 'समूह' की आन्तरिक दृष्टि में यदि समता का प्रवेश होने लगे तो इस सांसारिकता के मध्य भी आध्यात्मिकता का रंग गहरा हो सकता है।

समता-दर्शन की मार्मिकता इसी में है कि जो जैसा है या जो जहाँ है, उसको उसके यथार्थ रूप में देखने की चेष्टा की जाय एवं उस आधार पर समता-दर्शन की प्रतिष्ठा के लिये समुचित प्रयास किये जायं। भव्य आत्माओं के बीच में समानता का सूत्र जितना अधिक सुदृढ़ बन सकेगा, उतना ही अधिक समाज में समता का व्यापक प्रसार हो सकेगा।

आत्म तत्त्व के दो पक्ष :

इस चैतन्य तत्त्व आत्मा को ऐसी ही आन्तरिक दृष्टि से देखने की कोशिश करें। इसके स्वरूप पर वर्तमान में जितने आवरण चढ़े हुए हों—आच्छादन बने हुए हों, उनको भी यह दृष्टि देखे तथा आच्छादनों की परतों में जो ज्योतिर्मय आत्म-स्वरूप छिपा हुआ है, उसकी झलक भी यह दृष्टि ले। आन्तरिकता में दर्शन का [illegible] होना चाहिये। जब सही स्वरूप का

अवलोकन होगा, तभी व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में आभ्यन्तर समता-दर्शन की प्रतिष्ठा हो सकेगी।

इसी आभ्यन्तर दृष्टि की सहायता से व्यक्ति-व्यक्ति के हृदयों में रही हुई विषमताओं का भी ज्ञान होगा। तब दिखाई देगी विचारों की उलझनें, भ्रान्त धारणाएँ एवं अपने आपको ही न समझ पाने की कुंठाएँ। जिसकी आभ्यन्तर दृष्टि में समता-दर्शन समाविष्ट हो जाता है, वह इन उलझनों, धारणाओं और कुंठाओं को उनके यथार्थ रूप में समझ लेता है तथा उनसे ग्रस्त व्यक्तियों को उनके आच्छादनों से सचेत करता हुआ अपने जीवनादर्श से उन्हें आत्मिक आलोक का दर्शन कराता है।

आत्म तत्त्व के ये दोनों पक्ष ज्ञेय हैं कि एक आत्मा संसारी आत्मा है जिसके मूल स्वरूप पर मोहनीय आदि आठों कर्मों के न्यूनाधिक आच्छादन चढ़े हुए हैं और उन आच्छादनों के कारण उसका आलोकमय मूल स्वरूप दबा हुआ है। इस तत्त्व का दूसरा पक्ष है सिद्धात्मा। सम्पूर्ण आच्छादनों को हटा कर जब आत्मा पूर्णतया अपने मूल स्वरूप में आलोकमय बन जाती है तो वह सिद्ध हो जाती है। सिद्ध स्थिति ही इसका चरम लक्ष्य माना गया है जहाँ समदर्शिता अपने अन्तिम बिन्दु तक पहुँच जाती है।

आच्छादनों से आलोक की ओर यही आत्म तत्त्व की विकास यात्रा कहलाती है। इसी विकास यात्रा का दूसरा नाम है ममता से समता की ओर बढ़ना। ममता के भाव क्षीण होते हैं तो विषमता मिटती है एवं विषमता मिटती है तो दृष्टि, मति तथा गति में समता का संचार होता है।

व्यक्ति की उलझी हुई चेतन :

व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर में दृष्टिपात किया जाय तो जीवन का रंग-बिरंगा रूप अनेकानेक परिस्थितियों में उलझा हुआ दिखाई देगा। यह भीतर की उलझन ही बाहर की विविध परिस्थितियों में प्रकट होती है। आन्तरिक उलझनों के परिणामस्वरूप ही एक ही मानव जाति के विभिन्न वर्ग, विभिन्न दल, विभिन्न जातियाँ व विभिन्न सम्प्रदाय पैदा होते हैं। कितने अप्राकृतिक विभागों में मानवता विभक्त हो जाती हैं? यही कारण है कि आज के परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में विषमता का साम्राज्य दृष्टिगत हो रहा है, क्योंकि व्यक्ति की चेतना सुलझ नहीं रही है, बल्कि वह ज्यादा-से-ज्यादा उलझती हुई चली जा रही है।

वस्तुतः चेतना का सुलझा हुआ स्वरूप धर्म की दृष्टि से ही देखा जा सकता है जो मूल में समता की दृष्टि होती है। इस दृष्टि में न विषमता है और न द्वन्द्व-द्वन्द्व हैं। इसमें तो समता का सरोवर लहराता है जहाँ संसार की समग्र

आत्माओं के लिये शीतलता का सुख समाया हुआ है, किन्तु यह स्वरूप आन्तरिक दृष्टि से ही देखा जा सकता है। इसलिये सबसे पहले प्रत्येक आत्मा को स्वयं को देखना है, व्यक्ति-व्यक्ति में झांकना है और परीक्षा करनी है कि मैं कितना सम हूँ तथा कितना विषम हूँ ? मेरे भीतर की ऊर्जा किस सम्मिश्रण के साथ बह रही है जबकि मेरी आन्तरिक शक्ति की मूल आकांक्षा क्या है ? मेरे स्वरूप एवं मेरी शक्तियों की पवित्रता पर अपवित्रता के ये आच्छादन कहाँ से आ गये हैं ? सूर्य स्वयं प्रकाशमान होता है—उसे अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती तो फिर सूर्य से भी जिसकी उपमा नहीं है, वैसी तेजस्वी मेरी इस चेतना की शक्ति स्थिर क्यों नहीं है—अपनी सीमाओं से बाहर क्यों दौड़ रही है ? व्यक्ति इस रूप में गहरा चिन्तन करे तो उसकी उलझी हुई चेतना सुलझन की ओर आगे बढ़ सकती है। यह उलझन जितनी मिटती जायगी, यह विषमता का साम्राज्य भी लुप्त होता चला जायगा।

चेतना की उलझन का मूल कारण :

जब चेतना की मूल शक्ति अपनी सीमाओं से बाहर बहने लगती है तो उसे अपने से भिन्न अन्य तत्त्वों की अपेक्षा महसूस होती है। वह अपनी कर्मठता को भूलकर जब बाहरी तत्त्वों पर लुभाती है तो भीतर की चेतना में ग्रंथि या गाँठ बन जाती है—वह चाहे धन के रूप में हो, जन के रूप में हो, यशकीर्ति के रूप में हो, किसी महत्त्वाकांक्षा के रूप में हो, पद की कामना से हो या किसी अन्य विषय से। विभिन्न विषयों की विभिन्न ग्रंथियाँ मानव-मस्तिष्क में मजबूती से बंध जाती हैं और वे विचारों के सहज प्रवाह को जकड़ लेती हैं। जब तक इन ग्रंथियों को खोला न जा सके, तब तक आभ्यन्तरिक विषमता समाप्त नहीं की जा सकेगी। व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर की ग्रंथियों को सुलझाये बिना हजारों हजार प्रयत्न किये जायं—हजारों हजार आन्दोलन चालू किये जायं, जो राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक या किसी अन्य नाम से हों—भीतर की उलझनों तथा समस्याओं का समाधान निकाला नहीं जा सकेगा। यही मूल कारण है चेतना की उलझनों का—जिसे सुलझाये बिना कहीं कोई उलझन नहीं मिटेगी।

इतिहास साक्षी है कि इस दिशा में किन-किन प्रयत्नों के साथ क्या-क्या बना है ? ये प्रयत्न समता की अपेक्षा विषमता के मार्ग पर अधिक चले हैं और इसी का फल है कि मानव-जाति की उलझनें अधिक बढ़ी हैं—उसकी आन्तरिक अशान्ति भभक रही है। भौतिक विज्ञान के विकास में मनुष्य ने आत्मिक तत्त्व को भुलाया है। ईस्वी सन् १८५० के बाद जो वैज्ञानिक प्रगति १५० वर्षों में हुई, उससे भी अधिक प्रगति पिछले १५ वर्षों में हो गई है तथा उसकी गति द्रुत से द्रुततर बनी हुई है, किन्तु वैज्ञानिक विकास की यह तीव्रता मानव-जीवन की पवित्र दशा के विकास की परिचायिका नहीं है। इस भौतिक विकास ने उद्दंड सत्ताकांक्षाओं को जन्म दिया है तथा आन्तरिक दर्शन को आच्छादित बनाकर

मनुष्य को बाहर-ही-बाहर भटकते रहने के लिये विवश कर दिया है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह भयावह स्थिति है।

मूल में भूल को पकड़ें :

आदि युग में प्रधानतया इस चेतना के दो परिणाम आत्मा की पर्यायों की दृष्टि से सामने आये। एक पशु जगत् का तो दूसरा मानव जगत् का। पशु जगत् अब भी उसी पाशविक दशा में है जिस दशा में आदि युग में था, लेकिन मानव जगत् ने कई क्षेत्रों में उन्नति की है। आकाश के तारों को छू लेने के उसके प्रयास उसकी चेतना शक्ति के विकास के परिणाम रूप में देखे जा सकते हैं; किन्तु उसकी ऐसी चेतना शक्ति, पर-तत्त्व के सहारे चल रही है—स्वाश्रयी या स्वतंत्र नहीं है। चेतना शक्ति के इस प्रकार के विकास ने अपनी सार्वभौम सत्ता को जड़ तत्त्वों के अधीन गिरवी रख दिया है। अधिकांश मानव-मस्तिष्क जड़ तत्त्वों की अधीनता में, उनकी सत्ता में अपने आपको आरोपित कर के चल रहे हैं और यही तथ्य है जिससे समस्याएँ दिन-प्रति-दिन जटिलतर बनती जा रही हैं।

यद्यपि अलग-अलग स्थलों पर समता भाव के सादृश्य समाजवाद, साम्य-वाद आदि वादों के लुभावने नारे भी सामने आये हैं जो अधिकतम जनता के अधिकतम सुख को प्रेरित करने वाले बताये जाते हैं, किन्तु इन वादों के प्रचारकों-प्रसारकों ने यदि आत्मावलोकन नहीं किया, अपनी भीतरी ग्रंथियों को नहीं समझा तथा उन ग्रंथियों को समता दर्शन की दृष्टि से खोलने की चेष्टा नहीं की तो क्या ये वाद सफल हो सकते हैं ? लेकिन जो कुछ हो रहा है, बाहर-ही-बाहर हो रहा है—भीतर की खोज नहीं है।

जहाँ तक मैं सोचता हूँ, मेरी दृष्टि में ऐसे ये सारे प्रयत्न मूल में भूल के साथ हैं। इस भूल को नहीं पकड़ेंगे और नहीं सुधारेंगे तो सिर्फ टहनियों व पत्तों को संवारने से पेड़ हरा भरा नहीं रह सकेगा।

यह मूल की भूल क्या है ? यह लक्ष्य की भ्रान्ति है। आज अधिकांश लोगों ने जो मुख्य लक्ष्य बना रखा है—वह यह है कि सत्ता और सम्पत्ति पर हमारा आधिपत्य हो। ममता भरी यह बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा उनके मन में फलती-फूलती हुई दिखाई देती है। सत्ता और सम्पत्ति ये बाहरी तत्त्व हैं और इनको चेतन अपने अन्दर लपेटने को उतावला हो रहा है। यह प्रयत्न व्यक्ति के स्तर से लेकर विश्व के स्तर तक चल रहा है। जब तक यह आत्म-विरोधी लक्ष्य बना रहता है, समाजवाद या समतावाद कैसे आ सकता है ? सत्ता और सम्पत्ति के स्थान पर चैतन्य एवं कर्त्तव्य का जब तक प्रतिस्थापन नहीं होगा तब तक मानव जाति में समता-दर्शन के स्वप्न अधूरे ही रहेंगे।

समता के सिद्धान्त की दृष्टि से सबसे पहले मनुष्य को सत्ता और सम्पत्ति की समता समाप्त करनी होगी तथा यह लक्ष्य बनाना होगा कि उसकी सारी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का केन्द्र आत्म तत्त्व बन जाय। आत्माभिमुख बनकर ही सही कर्त्तव्यों का निर्धारण करना चाहिये तभी वे कर्त्तव्य सभी आत्माओं के लिये हितावह बन सकेंगे क्योंकि वहाँ समता का दृष्टिकोण होगा। मूल में इस भूल को पकड़ें तो सही विकास का रास्ता भी दिखाई देगा तथा सार्वजनिक जीवन-निर्माण का वायुमंडल भी बन सकेगा।

प्रवाहमान शक्ति का सदुपयोग करना सीखें :

शक्ति का प्रवाह तो वह रहा है। भौतिक शक्ति का प्रवाह भी वह रहा है और आध्यात्मिक शक्ति का प्रवाह भी अपनी सीमा में वह रहा है। इसी प्रवाहमान शक्ति को बांधकर उसका सदुपयोग किया जा सकता है। जिस प्रकार अनियंत्रित रूप में सभी ओर पानी वहता है, लेकिन जिस पानी को बांध दिया जाता है, उससे सिंचाई करके उत्पादन बढ़ाया जाता है और बिजली पैदा करके भौतिक सुख सुविधाएँ निर्मित की जाती हैं।

मुख्य प्रश्न है शक्ति के नियंत्रण का। नियंत्रित शक्ति का व्यवस्थित रूप से सदुपयोग सम्भव बनता है। चेतन शक्ति की भी यही अवस्था है। यदि चेतना का मन पर नियंत्रण नहीं है—मन बेकाबू है तो शक्तियाँ व्यर्थ हो जायंगी या उनका दुरुपयोग किया जायगा। किन्तु जो मन को वश में कर लेता है, वह प्रवाहमान शक्ति का भरपूर सदुपयोग करना सीख जाता है। अनियंत्रित मन ममता की गाँठें बांधता जाता है और जड़ तत्त्वों में उलझता जाता है। कभी-कभी यह उलझन इतनी जटिल हो जाती है कि सत्ता और सम्पत्ति की लिप्सा में मनुष्य सारे समाज या राष्ट्र के लिये संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देता है। यही नहीं, विश्व युद्धों का धरातल भी इसी लिप्सा पर बनता है और इसी लिप्सा से भयंकर एवं विनाशकारी शस्त्रास्त्रों का अम्बार लगाया जाता है।

मूल रूप से यदि एक ममत्व की भावना को घटाने की चेष्टा की जाय तो सारी उलझनें समाप्त होने लगेंगी। जो समस्याएं जटिल दिखाई देती हैं वे आसान बनकर हल हो जायेंगी। ममता मिटेगी और समता आयेगी। इस क्रम में दृष्टि बदल जाती है। जो दृष्टि स्वार्थ देखती थी, परहित नहीं, वह समता की पृष्ठ-भूमि में परहित के लिये सर्वस्व तक बलिदान करने को तत्पर बन जाती है। यदि ममत्व का अन्त कर दिया जाय और ममत्व की भावना से चेतन की स्थिति को मुक्त बनाकर चला जाय तो कर्त्तव्यपरायणता की स्थिति से प्रत्येक क्षेत्र में जीवन की भव्यता का निर्माण हो सकता है।

जड़ और चेतन का मेल :

दृश्यमान जगत् में यह सब जड़ और चेतन का मेल है। चेतन अपनी

सीमा को छोड़कर जड़ में लिप्त हो गया है, बल्कि जड़ को चेतन ने सिर पर चढ़ा लिया है और जड़ के अधीन होकर वह चल रहा है। चेतन के इस पतन के कारण ही उलझनें हैं—समस्याएँ हैं और अशान्ति है।

एक ड्राइवर इंजिन को चलाता है—उसके पहिये और ब्रेक को अपने काबू में रखता है, उसी तरह चेतन—जड़ को चलावे और जड़ को अपने काबू में रखे तब तो सांसारिक गतिक्रम का संचालन भी सुचारू बन सकता है। जड़ और चेतन के मेल से ही यह संसार बना है और यह मेल जिस आत्मा का बिल्कुल टूट जाता है, वह आत्मा इस संसार को छोड़कर मुक्त हो जाती है। यद्यपि जड़ और चेतन का मेल बन्धन का कारक है, फिर भी चेतन का जड़ पर नियंत्रण बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाने वाला होता है। इसके विपरीत जड़-चेतन को काबू में रखे तब तो बन्धन की जटिलता का कहना ही क्या?

आज कर्त्तव्य और सेवा की बात की जाती है किन्तु क्या इनमें चेतन शक्ति की प्रखरता के बिना वास्तविकता आ सकती है? नाम सेवा का लिया जाता है और की जाती है सौदेबाजी। एक व्यापारी जिस तरह वस्तु और मुद्रा के आदान-प्रदान की सौदेबाजी करता है, उस तरह धर्म और सेवा के क्षेत्र में भी सोच लिया जाता है कि मैं कुछ कर रहा हूँ तो उसका फल क्या मिलेगा? कई लोग शायद इस भावना से भी गुरु के चरण छूते हों कि उसके प्रभाव से उन्हें धनार्जन होगा या अन्य कोई लाभ। यह मनःस्थिति चेतन पर जड़ के कुप्रभाव को स्पष्ट करती है।

सच्चे कर्त्तव्य का बोध तभी हो सकता है जब चैतन्य शक्ति आत्म-नियंत्रित बन जाती है। जड़ के प्रति ममत्व के सारे बन्धन टूट जाने पर ही आत्म-नियंत्रण की अवस्था उत्पन्न होती है। समता की दृष्टि ही मुक्ति का मार्ग दिखाती है। द्वारकाधीश कर्मयोगी श्रीकृष्ण त्रिखंडाधिपति थे किन्तु सत्ता और सम्पत्ति के दास नहीं थे, इसीलिये उन्हें कर्त्तव्यों का सच्चा बोध था। वे सदा प्रातः अपनी मातुश्री का पद-वन्दन करते थे। यह सब श्रेष्ठ संस्कारों की बात है जो चेतन शक्ति के जागृत रहने पर पनपते हैं और पीढ़ियों तक परिपुष्ट बनते हैं। इस संदर्भ में आज की स्थिति माता, पिता एवं सन्तान दोनों के लिये विचारणीय है।

बन्धन और मुक्ति के संदर्भ में जड़ और चेतना के खेल को समझने तथा सही तरीके से इस संसार में खेलने की जरूरत है।

आत्म-प्रवंचना को रोकें :

जो समाज या राष्ट्र जितना अधिक चेतनाशील होता है, वहाँ की संस्कृति

उतनी ही आत्माभिमुखी होती है। ऐसी संस्कृति के श्रेष्ठ संस्कार जब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अवतरित होते हैं तो ऐसी प्रक्रिया के लिये अभिभावक एवं सन्तान दोनों को समान रूप से उत्तरदायी होना चाहिये। इसका पहला भार अभिभावकों पर होता है क्योंकि सन्तान वही सीखती है जो उसके माता-पिता करते हैं। अगर आप अपनी सन्तान को दोष देते हैं तो अपने आचरण को पहले देखना होगा और फिर दोनों ओर सुधार लाने की चेष्टा करनी होगी। वस्तुतः संस्कृति में विचार एवं वातावरण दोनों का समावेश हो जाता है।

जब संस्कारों की श्रेष्ठता घटती है और उनमें विकृति आ जाती है, तभी जड़-पूजा शुरू होती है तथा सत्ता-सम्पत्ति पा लेने के लिये एक पागलपन सा सवार हो जाता है। जालसाजी और धोखेबाजी की कई घटनाएँ नितप्रति समाचार-पत्रों में छपती रहती हैं। जड़ पदार्थों के लिये जो पागलपन है, वही आत्म-प्रवंचना की स्थिति है। धन पाकर यदि वह मदमत्त हो जाता है तो उसका अर्थ यही है कि वह अपनी चेतना के साथ धोखा कर रहा है याने कि अपने ही साथ धोखा कर रहा है। अपने साथ धोखा करके कोई अपना ही तो बिगाड़ेगा ! आत्म-प्रवंचना में ऐसा ही होता है, अतः इस वृत्ति को रोकना चाहिये, जिसके लिये एक मात्र उपाय है कि ममता से मन हटाकर समता से उसे सरस बनाया जाय।

वर्तमान में चारों ओर फैल रही ममता की माया पर जब दृष्टि उठती है तो यही दिखाई देता है कि लोग मुंह से समता और सिद्धान्तों के बारे में तो सुन्दर-सुन्दर बातें कहेंगे किन्तु आचरण के नाम पर शून्य बने रहेंगे। परिग्रह के प्रति ममता को घटाने के बारे में कोई सक्रियता नहीं लायेंगे। शायद हमारे उपदेश सुनकर कई यह न कह जाते हों कि महाराज, जो बातें आपसे सुनीं, आप ही के चरणों में चढ़ा जाते हैं। फिर दरवाजे से बाहर निकले और वे घोड़े तथा वही मैदान शुरू हो जाता है।

यह क्या दशा है—गहराई से सोचने की जरूरत है। आज जैसे सभी गहरी नींद में सो रहे हैं। जनता अज्ञान है तो नेता अपनी कुर्सियों की रखवाली में ही सब कुछ करते हैं, फिर जीवन की मूलभूल को सुधारने का व्यापक कार्य कौन करेगा ? आज चेतना शक्ति को जागृत बनाकर आत्मा की पराधीनता मिटाइये और आत्म-स्वतंत्रता की स्थापना कीजिये।

समता-दर्शन के प्रभाव से आच्छादन हटेंगे, आलोक फैलेगा :

विश्व के धरातल पर समता दर्शन के प्रभाव से ही मानवीय जीवन की मूलभूल का सुधार हो सकेगा। भूल की भूल सुधर जायगी तो इस आत्मा के आवरण तथा आच्छादन हटेंगे एवं आत्मा के मूल स्वरूप का आलोक फैलेगा।

मैं आप में से प्रत्येक को चाहे वह किसी भी जाति, पार्टी, धर्म, सम्प्रदाय या मान्यता का हो—यह चिन्तन करने का आग्रह करूंगा कि किस प्रकार के आचार-विचार से मन की ग्रंथियाँ खुलेंगी तथा समता-दर्शन से परिपूर्ण बनकर किस प्रकार की दृष्टि अपने को कर्त्तव्यपरायण बना सकेगी ? यदि समता को अपने विचार एवं व्यवहार में समाविष्ट करलें तो कर्मों के बन्धन स्वतः ही टूट पड़ेंगे तथा अन्तर्मन में ईश्वरत्व का आलोक प्रकाशित हो जायगा। स्वयं के समतामय जीवन से परिवार का नया ढांचा ढलेगा तो इस परिवर्तन के साथ समाज, राष्ट्र एवं विश्व में भी आध्यात्मिक अनुशासन का प्रसार हो सकेगा। समता के क्षेत्र में सिद्धान्त से जीवन-विकास तथा आत्मोन्नति एवं परमात्म स्थिति तक सहजता से पहुँचा जा सकता है। समता समग्र जीवन को समरस बना देती है।

२
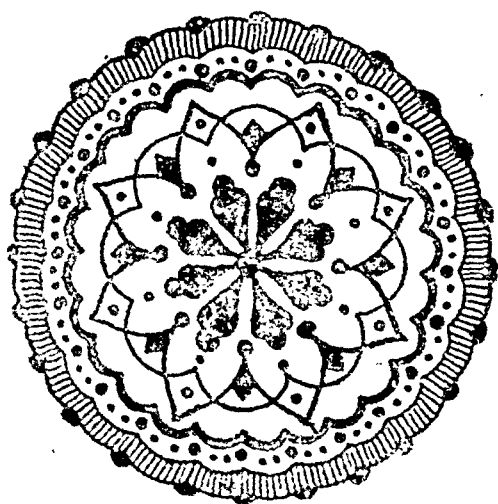
समता : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

□ डॉ० हरीन्द्र भूषण जैन

समता का अर्थ :

समता शब्द का सामान्य अर्थ है समानता की भावना। इसके अनेक रूप हो सकते हैं—अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में सुख-दुःख की भावना से ऊपर उठकर समान अनुभूति, अथवा न किसी के प्रति राग और न किसी के प्रति द्वेष, अथवा मानव-मानव में ऊँच-नीच की भावना का परित्याग, अथवा स्वप्रतिकूलता का दूसरे के प्रति अनाचरण आदि। संक्षेप में, विषमता में समत्व की अनुभूति ही समता है।

समता शब्द 'सम' और 'ता' इन दो पदों के योग से बनता है। 'सम्' (वैक्लव्ये) धातु से 'अच्' प्रत्यय[1] होकर 'सम' पद बना जिसका अर्थ है समान[2]। 'ता' (तल्) भाववाची प्रत्यय है[3]। अतः समता का अर्थ हुआ समानता का भाव[4]।

'सम' शब्द प्राकृत एवं संस्कृत में समान रूप से प्रयुक्त होता है। प्राकृत 'सम' शब्द के संस्कृत में तीन पर्यायवाची हैं—सम, शम और श्रम। इसी प्रकार प्राकृत 'सम' शब्द से निर्मित समण (श्रमण) के भी संस्कृत में तीन

१—'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' ३.१.१३४, पाणिनि के इस सूत्र से 'सम्' का पचादि गण में पाठ होने के कारण 'अच्' प्रत्यय हुआ।

२—'समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक् साधारणः समानश्च' अमर कोश, २.१०.३६।

३—'तस्य भावस्त्वतलौ' ५.१.११९, पाणिनि के इस सूत्र से 'तल्' (त) हुआ, तदनन्तर स्त्रीवाची 'टाप्' (आ) प्रत्यय हुआ।

४—Equality, Impartiality—आप्टे की संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी पृ० १०६३।

पर्यायवाची होते हैं—समन, शमन और श्रमण, और 'समण' का अर्थ होता है, जो समता भाव का धारी है, जो अपनी वृत्तियों को शान्त रखता है और जो अपने विकास के लिए निरन्तर परिश्रम या तप (श्रमु तपसि खेदे च) करता रहता है[1]। अतः समता का अर्थ हुआ समभाव, शान्त भाव तथा श्रमशीलता अथवा तपःशीलता। दूसरे शब्दों में प्राणिमात्र के प्रति समत्व की उदार भावना से समन्वित आत्मोत्थान के लिए प्रशान्तवृत्तिता एवं तपःशीलता ही समता है।

समता की परिभाषा :

आत्मा की प्रशान्त निर्मल वृत्ति ही 'समता' है। वही सम्यक् चारित्र रूप मोक्ष का मूल है। आचार्य कुन्द-कुन्द (ई० प्रथम शती) ने चारित्र का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है :—

"चारित्तं खलु धम्मो–धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥"[2]

अर्थात्—मोह और क्षोभ से रहित आत्म परिणामरूप समत्व ही धर्म है, और उसी धर्म को सम्यक् चारित्र समझना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि (ई० दशम शती) ने 'तत्त्वप्रदीपिका-वृत्ति' में उक्त गाथा की टीका करते हुए 'समता' की निम्न प्रकार परिभाषा की है :— "स्वरूपे चरणं चारित्रं...., तदेव वस्तु स्वभावत्वाद्धर्मः। तदेव च यथावस्थितात्म-गुणत्वात् साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादित समस्त मोह क्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।"[3]

अर्थात्—अपने स्वरूप में आचरण ही वस्तु का स्वभाव होने के कारण धर्म है। वही धर्म साम्य अर्थात् समता है। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय, इन दोनों कर्मों के उदय से प्राप्त मोह और क्षोभ के अभाव से अत्यन्त निर्विकार जीव का स्वभाव ही समता है।

आचार्य जयसेन (ई० द्वादश शती) ने उक्त ग्रन्थ की अपनी 'तात्पर्य-वृत्ति' नामक टीका में 'सम' का अर्थ 'शम' करते हुए लिखा है—"धर्मो यः स तु शम इति निर्दिष्टः। स एव शमो मोह क्षोभ विहीनः शुद्धात्म परिणामो भण्यते, इत्यभिप्रायः।"[4]

१—श्री इन्द्र चन्द्र, 'भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ' सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ० ४-५।
२—आचार्य कुन्द-कुन्द, 'प्रवचनसार', संपादक—डॉ० ए० एन० उपाध्ये, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, गाथा क्र० १ ७।
३—वही, गाथा क्र० १,७ पर आ० अमृतचन्द्र की टीका, पृ० ७-८।
४—वही, गाथा क्र० १,७ पर आ० जयसेन की टीका, पृ० ७-८।

'श्रीमद्भगवद्गीता' योग शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। योग की परिभाषा बताते हुए उसमें कहा गया है कि 'समत्व' ही योग है। सिद्धि तथा असिद्धि, इन दोनों में समान भाव ही समत्व है। कृष्ण ने अर्जुन को शिक्षा दी कि हे धनञ्जय ! तू अनासक्त भाव से योग में स्थित होकर कर्म कर—

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥"[1]

गीता में 'समत्व' की मूर्धन्य प्रतिष्ठा स्थापित करते हुए उसे कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का साधन निरूपित किया गया है—बुद्धिमान् पुरुष पुण्य और पाप, दोनों का परित्याग कर देता है। अतः तू समत्व बुद्धियोग के लिए ही चेष्टा कर। यह समत्व बुद्धियोग ही कर्मों में चतुरता है, अर्थात् कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय है।"

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥"[2]

समता का स्वरूप :

'समणो समसुहदुक्खो'

सुख और दुःख, इन दोनों में एक समान अनुभूति, जीवन की सबसे महान् सफलता है। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक धर्म में सुख-दुःख को समान रूप से सहन करने पर बल दिया गया है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि यदि तू पाप से बचना चाहता है तो सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर, फिर युद्ध के लिए तैयार हो; न प्रिय को प्राप्त कर हर्षित हो और न अप्रिय को प्राप्त कर उद्विग्न; सुख-दुःख को समान समझने वाला धीर पुरुष निर्वाण का अधिकारी है :—

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥"[3]
"न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।"[4]
"समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।"[5]

जैन-धर्म में 'सामायिक' की बड़ी प्रतिष्ठा है। अणुव्रती गृहस्थ के चार शिक्षाव्रतों में और महाव्रती साधु के पांच चारित्रों में सामायिक का समावेश है[6]। राग-द्वेष की निवृत्तिपूर्वक समस्त आवश्यक कर्त्तव्यों में समता भाव का

१—श्रीमद् भगवद्गीता, २-४८।
२—श्रीमद् भगवद्गीता, २-५०।
३—श्रीमद् भगवद्गीता, २-३८।
४—श्रीमद् भगवद्गीता, ५-२०।
५—श्रीमद् भगवद्गीता, २-१५।
६—आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र ७-१६ तथा ९-१८।

अवलम्बन सामायिक है। आचार्य अमितगति ने 'सामायिक पाठ' में सामायिक के स्वरूप का अच्छा प्रतिपादन किया है :—

"दुःखेसुखे वैरिणि बन्धुवर्गे योगेवियोगे भुवने वने वा।
निराकृताशेषममत्वबुद्धे समं मनो मेऽस्तु सदापि नाथ ॥"[1]

अर्थात्—हे देव, सम्पूर्ण ममत्व बुद्धि से रहित मेरा मन सुख-दुःख, वैरी-बन्धु, संयोग-वियोग, भुवन-वन आदि विषमताओं में समत्व का अनुभव करे।

महावीर ने श्रमण और ब्राह्मण की परिभाषा बताते हुए कहा था—"मूंड-मुंडा लेने से कोई श्रमण और 'ओम्' 'ओम्' रटने से कोई ब्राह्मण नहीं होता; किन्तु ब्राह्मण बनने के लिए ब्रह्मचर्य और श्रमण बनने के लिए समता का धारण करना आवश्यक है।"

"न वि मुण्डिएण समणो, ओंकारेण न बम्भणो।
समयाए समणो होई, बम्भचेरेण बम्भणो ॥"[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समभाव को श्रमणत्व का मूल माना है :—

"सुविदितपयत्थसुत्तो संजमजवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥"[3]

अर्थात् जीवादि नव पदार्थ तथा तत्प्रतिपादक सूत्रों को जानने के पश्चात् संयम तथा तप से युक्त वीतराग श्रमण जब सुख-दुःख में समान अनुभूति करने लगता है तभी वह शुद्धोपयोगी कहा जाता है। इस प्रकार सुख-दुःख में समत्व की अनुभूति समता का अविकल स्वरूप है।

"वीतरागात् परो देवो न भूतो न भविष्यति।"

समता का एक दूसरा रूप भी है—न किसी के प्रति राग और न किसी के प्रति द्वेष। संक्षेप में हम इसे वीतराग भाव कह सकते हैं। गीता का 'स्थित-प्रज्ञ' वीतरागता का समन्वित रूप है। स्थितप्रज्ञ न तो दुःख में उद्विग्न होता है और न सुख में स्पृही। वह राग, भय तथा क्रोध—सभी पर विजय प्राप्त कर लेता है; वह सर्वत्र स्नेह का त्यागकर न तो शुभ में प्रसन्न और न अशुभ में दुःखी होता है; राग और द्वेष दोनों से रहित होकर, वशीभूत इन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता हुआ स्वाधीन आत्मावाला वह अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त करता है :—

१—आचार्य अमितगति 'सामायिक पाठ' ३।
२—उत्तराध्ययन, २५, ३१-३२। ३—प्रवचनसार, १-१४।

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थित धीर्मुनिरुच्यते ।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।
राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।"[1]

जैन-धर्म में वीतरागता, आप्त (ईश्वर) का लक्षण माना गया है :— "न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ।"[2] साधु, राग और द्वेष इन दोनों पर विजय प्राप्त करने के लिए ही साधुत्व का आचरण करता है :—रागद्वेष-निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ।"[3] आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि हिंसादि पापों से निवृत्ति के लिए रागद्वेष से निवृत्त होना आवश्यक है :—"रागद्वेष-निवृत्ते हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।"[4] वे, वासुपूज्य जिनकी स्तुति करते हुए कहते हैं :—"भगवन्, आप वीतराग हैं इस कारण आपको मेरी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं, और आप वीतद्वेष हैं इस कारण किसी की निन्दा से भी आपको कोई प्रयोजन नहीं । फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण पापरूपी मैल को हटाकर हमारे चित्त को पवित्र करता है ।"

"न पूजयाऽर्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिजाञ्जनेभ्यः ।।"[5]

जैन साधु ऐसा वीतराग होता है कि उसे शत्रु-मित्र, प्रशंसा-निन्दा, हानि-लाभ तथा तृण-सुवर्ण, इनमें समानता दिखाई देती है :—

"सत्तु मित्ते य समा पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धि समा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।"[6]

'दर्शनपाठ' में ठीक ही कहा गया है कि वीतराग के मुख को देखकर जन्म-जन्मान्तरों के पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं । वीतराग से महान् देव न तो कभी पैदा हुआ है और न होगा :—

"वीतरागमुखं दृष्टा पद्मरागसमप्रभं ।
नैकजन्मकृतं पापं दर्शनेन विनश्यति ।।
वीतरागात् परो देवो न भूतो न भविष्यति ।।"[7]

१—श्रीमद् भगवद्गीता—२-५६, ५७, ६४ ।

२—आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', १-६ ।

३—आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', ३-४७ ।

४—आचार्य समन्तभद्र 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', ३-४८ ।

५—समन्तभद्राचार्य, 'स्वयंभू स्तोत्र' १२-२ ।

६—आचार्य कुन्दकुन्द, 'बोध पाहुड' ४६ ।   ७—दर्शन पाठ, तृतीय तथा चतुर्थ श्लोक ।

कम्मुरणा बम्भरणो होई "ब्राह्मण कर्म से ही होता है" यह कथन है, महान् क्रान्तद्रष्टा महावीर का। मानव समाज में मनुष्य-मनुष्य में भेद करने की प्रवृत्ति, चिरकाल से चली आई है। कहीं पर यह भेद अमीर-गरीब का है तो कहीं पर ऊँच-नीच का। भारतवर्ष में वर्ण व्यवस्था ने इस ऊँच-नीच के भेदभाव को बढ़ाने में निरन्तर सहयोग दिया। परिणामस्वरूप, मानव समाज सवर्ण और अवर्ण, दो भागों में बंट गया और अवर्ण निरन्तर सवर्णों द्वारा शोषित होते रहे। इस समस्या से मुक्ति पाने के उद्देश्य से ही कृष्ण ने कहा था कि जो विद्वान् और समदर्शी पण्डित होते हैं वे आत्मिक दृष्टि से ब्राह्मण और चाण्डाल में तथा गाय, हाथी और कुत्ता आदि में कोई भेद नहीं करते :—

> **"विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
> **शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥"[1]**

स्मृतिकार मनु भी इस बात के समर्थक थे कि वर्ण व्यवस्था जन्मगत नहीं प्रत्युत कर्मगत होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि जो ब्राह्मण वेद का अध्ययन न करके अन्यत्र परिश्रम करता है वह उस जन्म में अपने कुल कुटुम्ब सहित शूद्र हो जाता है :—

> **"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।**
> **स जीवन्नेव शुद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥"[2]**

महावीर ने अवर्णों को सामाजिक महत्त्व प्रदान करने के लिए शूद्रों को प्रव्रज्या का विधान किया। 'उत्तराध्ययन' में हरिकेशबल नामक चाण्डाल के गुण सम्पन्न मुनि होने का उल्लेख है :—

> **"सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।**
> **हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥"[3]**

जन्म के आधार पर मानी गई वर्ण व्यवस्था का [illegible] किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, [illegible] व्यवस्था कर्म के आधार पर ही है :—

> **"कम्मुणा बम्भणो होई, [illegible]**
> **वइसो कम्मुणा होई, [illegible]**

इस प्रकार मानव-मानव में [illegible] सहृदय व्यवहार करना समता का [illegible] है।

१—श्रीमद् भगवद्गीता, ५-१८ २—[illegible]
३—उत्तराध्ययन १२-१ ४—[illegible]

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् :

अपने सुख-दुःख के समान दूसरे के सुख-दुःख का भी अनुभव करना, मानव-जीवन की परम श्रेष्ठ अनुभूति है। कृष्ण ने कहा था—हे अर्जुन, मुझे वह योगी परम श्रेष्ठ लगता है जो विश्व के समस्त प्राणियों के सुख-दुःख को अपने जैसा अनुभव करता है :—

> **"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।**
> **सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः॥"[१]**

महावीर ने कहा है—"सव्वे पाणा पियाउआ सुहसाया दुक्खपडिकूला"[२] अर्थात्—समस्त प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, उन्हें सुख अच्छा लगता है और दुःख प्रतिकूल।

सामान्य जन की सुख-दुःख की अनुभूति केवल स्वतः तक सीमित होती है। जीवन का यह एकाङ्गी एवं अत्यन्त सङ्कुचित दृष्टिकोण है। यही अनुभूति जब व्यापक रूप ग्रहण कर दूसरे प्राणियों के भी सुख-दुःख का अनुभव करने लगती है तब वह समता का विशुद्ध रूप धारण करती है। इसीलिए आचार्यों ने ठीक कहा है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"—जो अपने को प्रतिकूल लगे, उसे दूसरे के प्रति आचरण मत करो।

समता तथा साम्यवाद :

समता तथा साम्यवाद, ये दोनों सिद्धान्त उद्देश्यों की लगभग समानता के कारण एक जैसे प्रतीत होते हैं। पर वस्तुतः ऐसा है नहीं।

साम्यवाद एक राजनीतिकवाद है जिसका मुख्य उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवनोपयोगी साधनों को प्राप्त करने तथा अपने विकास करने का समान अवसर प्रदान करना है। इसमें व्यक्ति की प्रतिष्ठा है। इस वाद में उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसक अथवा अहिंसक, दोनों प्रकार के साधनों का प्रयोग निहित है।

इसी के समानान्तर एक दूसरा वाद समाजवाद है, जिसका उद्देश्य यथा-संभव अहिंसक रीति से समाज में आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक समानता की स्थापना करना है। इस वाद में व्यक्ति के स्थान पर समाज की प्रतिष्ठा सर्वोच्च मानी गयी है। समाजवाद की विचारधारा भारत के अनुकूल होने के कारण यहां प्रजातन्त्र का लक्ष्य समाजवाद की स्थापना, निर्धारित किया गया है।

समता अध्यात्मवाद है। यहां व्यक्ति और समाज, दोनों के साथ आत्मा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा है। यह केवल मनुष्यों में ही नहीं अपितु प्राणिमात्र में

समानता का पोषक है। इसका उद्देश्य बाह्य विषम परिस्थितियों के कारण आत्मा में उत्पन्न विषम भावनाओं पर समत्व की प्रतिष्ठा करके आत्मा का सर्वोच्च विकास करना है। महावीर ने कहा था :—

"जीविअं नाभिकँखेज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुअहो वि न सज्जेजा, जीविए मरणे तहा॥
मज्झत्थो निज्जरापेही—"[१]

अर्थात्—न तो जीने की आकांक्षा कर और न मरने की। दोनों में से किसी में भी आसक्ति न रख। मध्यस्थ रहकर कर्मों की निर्जरा याने मात्र आत्म-विकास का लक्ष्य रख।

सामाजिक समानता भी समता के लक्ष्य की परिधि में है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपरिग्रह का विधान है। अपरिग्रह का अर्थ है अपनी आवश्यकता के अनुसार परिग्रह को अत्यन्त सीमित करना अथवा उसको पूर्णतः त्याग देना। यदि समाज में संग्रह की भावना रहेगी तो ऊँच-नीच की भावना को भी प्रश्रय मिलेगा, विषमता दिनों-दिन उग्र होगी और सामाजिक सुख-शान्ति समाप्त हो जावेगी। यदि समाज महावीर के अपरिग्रह के सिद्धान्त का दृढ़ता के साथ पालन करे तो साम्यवाद तथा समाजवाद के उद्देश्यों की पूर्ति तो स्वतः हो जायगी, साथ में आत्म विकास का मार्ग प्रशस्त होगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साम्यवाद या समाजवाद समता का ही एक अंग है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि समता मानव-जीवन की महान् साधना एवं अनुपम उपलब्धि है। यही धर्म है, यही सुख और शान्ति का मूल है तथा इसी से निर्वाण की प्राप्ति होती है। गीता में कहा है—"जिनके मन में समता स्थित है उन्होंने तो इसी जीवन में संसार को जीत लिया।"

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।"[२]

१—आचाराङ्ग सूत्र, १-८-८।

२—श्रीमद् भगवद्गीता ५-१६।

३

समता : मनन और मीमांसा

□ श्री रमेश मुनि शास्त्री

समत्व की कसौटी :

जैन धर्म समता-प्रधान धर्म है। अन्तर्बाह्य विषमताओं का अन्त करना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है। इसकी संपूर्ण साधना का आधार-बिन्दु आत्म-शुद्धि है। समता का यह महान् आदर्श चिरन्तन सत्य की साधना का उपयोगी तत्त्व बना, एतदर्थ जैन-दर्शन में व्याख्यायित हुआ।

वस्तुतः वीतराग-प्ररूपित-मार्ग में समत्व की कसौटी यथार्थ है और यथार्थता का निर्णय-निश्चय ज्ञान पुरस्सर है। अज्ञानपूर्ण तर्कों के माध्यम से निश्चयों एवं निर्णयों का कोई मूल्य नहीं है। तथ्य यह है कि समत्व का निरूपण भी जैन दर्शन की उसी यथार्थ की भूमिका पर हुआ है। यही कारण है कि समग्र आचार दर्शन का सार समत्व की साधना में समाहित है।

जीवन के समूचे प्रयासों की फलश्रुति भी यही होनी चाहिये कि आत्म-शक्तियों का केन्द्रीकरण के द्वारा अपनी ऊर्जाओं का प्रकटीकरण किया जाय। पर मानव अपनी अनेक कामनाओं के कारण बिखरा हुआ रहता है, उसका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है। इतना ही नहीं, समत्व-केन्द्र से विलग हुआ व्यक्ति 'स्व' और 'पर' के दो विभागों में बँट जाता है, और उसका चिन्तन, राग और द्वेष के भँवर-जाल में उलझ जाता है; जिससे फलित यह होता है कि वह बाह्य-जगत् में मारा-मारा फिरता है।

राग आकर्षणात्मक पक्ष है और द्वेष विकर्षणात्मक पक्ष है। इन दोनों पक्षों के द्वारा नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना का सरल पथ अवरुद्ध हो जाता

है, जिससे तनाव और द्वन्द्व का वातावरण बना रहता है। मानसिक सन्तुलन की स्थायी व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

जैन सम्मत समत्व योग—राग और द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठकर जन-जन को आत्मस्थ होने की दिशा की ओर प्रेरित करता है। जैन नैतिक और आध्यात्मिक साधना को एक ही शब्द में कह देना हो तो यह कहना सर्वथा संगत होगा कि वह 'समत्व' की यथार्थ एवं प्रभावकारी साधना है।

समत्व योग और सामायिक :

'सामायिक' शब्द की निष्पत्ति 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अय्' धातु से हुयी है। 'अय्' धातु के तीन अर्थ हैं—

१—ज्ञान, २—गमन और ३—प्रापण। सम् उपसर्ग उनकी सम्यक्ता अथवा औचित्य का अवबोध कराता है। सम् का एक अर्थ यह भी होता है—राग और द्वेष की अतीत अवस्था।

वस्तुतः समत्वयोग अपने विराट् काय-रूप में सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र रूप साधना पथ को समाहित किये हुए है, समेटे हुए है। ये तीनों अर्थात् साध्य के त्रिविध साधन समन्वित रूप से मुक्ति प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण घटक हैं।

सामायिक का वर्गीकरण तीन प्रकारों से भी किया जा सकता है—

१. सम्यक्त्व सामायिक।
२. श्रुत सामायिक।
३. चारित्र सामायिक।

सामायिक के प्रथम भेद का अभिप्राय सम्यग्दर्शन से है, द्वितीय भेद का तात्पर्य सम्यक् ज्ञान से है और तृतीय का अर्थ है—सम्यक् चारित्र। यह प्रस्तुत त्रिविध साधना पथ समत्व योग की साधना ही है, और इन्हें भाव, ज्ञान और संकल्प की आधारभित्ति पर ही विविध रूप में विवेक्षित किया गया है।

विवेचित सन्दर्भ की गहराई में उतर कर चिन्तन किया जाय तो यह फलित होता है कि भाव, ज्ञान और संकल्प उक्त तीनों को सम बनाने का प्रयास सामायिक है और यही समत्व योग की साधना का रहस्य है।

समता और विषमता :

प्रत्येक जीवन का मूल-भूत उद्देश्य यही है कि समत्व का संस्थापन हो। इसके पूर्व यह भी जान लेना नितान्त अपेक्षित है कि समत्व से पराङ्मुख होने

का कारण क्या है ? जैन-दर्शन के अभिमत-आलोक में देखा जाय तो यह तथ्य अवगत होगा कि आसक्ति के कारण से ही आत्मा स्व केन्द्र से च्युत होती है, समत्व योग से विमुख हो जाती है। आसक्ति-वियुक्त आत्मा समत्व की मनोरम भूमिका पर अवस्थित हो जाती है।

वस्तुतः आसक्ति ही विषमता की जननी है, विभाव दशा है, पर परिणति है। इसी आसक्ति से जागतिक जीव बाह्य पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति में सुख और दुःख की कल्पना-संजोने में संलग्न रहता है। इस प्रकार आत्म-चेतना बाह्य परिस्थितियों से संपृक्त हो उटती है जिससे उसका विषमताओं से ऊपर उठना असम्भव हो जाता है, इसलिये समत्व-योग की साधना अति आवश्यक है। इसके माध्यम से आत्मा अपने स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है।

वस्तुतः समत्व-योग एक सफल अनुष्ठान है। इस के सन्दर्भ में विस्तार से विचार और जैन-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में अनुसन्धनात्मक विवेचन किया जाय तो जैन-साधना-पद्धति का रहस्य भी सहज में समझा जा सकता है।

४
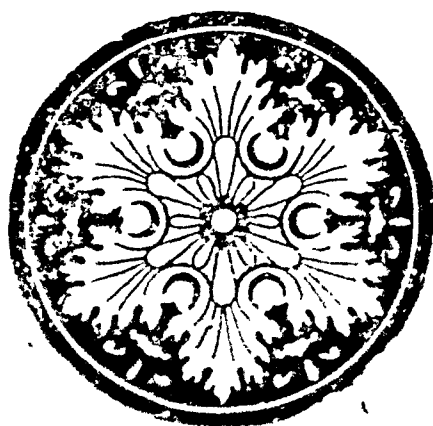
समता बनाम मानवता

□ डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

समता मानवता का निष्पन्द है। वर्बरता, पशुता, संकीर्णता, उसका प्रतिपक्षी स्वभाव है। राग-द्वेषादि भाव उसके विकार-तन्तु हैं। ऋजुता, निष्कपटता, विनम्रता और प्रशान्त वृत्ति उसकी परिणति है। सहिष्णुता और सच्चरित्रता उसके धर्म हैं।

यद्यपि सापेक्षता व्यापकता लिये हुए रहती है पर मानवता के साथ सापेक्षता को सम्बद्ध करना उसके तथ्यात्मक स्वरूप को आवृत्त करना है। इसलिए समता की सत्ता मानवता की सत्ता में निहित है। ये दोनों आत्मा की विशुद्ध अवस्था के गुण हैं।

व्यवहारत: मानवता के साथ सापेक्षता के आधार पर विचार किया भी जा सकता है पर वास्तविक समता उससे दूर रहती है। समता में 'यदि और तो' का सम्बन्ध बैठता ही नहीं। वह तो समुद्र के समान गंभीर, पृथ्वी के समान क्षमाशील और आकाश के समान स्वच्छ तथा व्यापक है। इसलिए समता का सही रूप धर्म है। वही उसका मर्म है।

धर्म को शाश्वत और चिरन्तन सुखदायी माना गया है पर उसके वैविध्य रूप में यह शाश्वतता धूमिल-सी होने लगती है। समता का स्वरूप धूमिल होने की स्थिति में कभी नहीं आता। वह तो विकार भावों की असत्ता में ही जन्म लेता है। क्रोधादिक विकार भाव असमता, विषमता, उद्धतता और संसरणशीलता की पृष्ठभूमि में प्रादुर्भूत होते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित रूप में ही ये विकार भाव तिरोहित होते हैं।

चारित्र का सम्यक् परिपालन बिना दर्शन और ज्ञान के नहीं हो पाता। दर्शन और ज्ञान आत्म-शक्ति किंवा आत्म-विश्वास और आत्म-ज्ञान के प्रतीक हैं। आत्म-विश्वास और आत्म-ज्ञान ही समता के मूल कारण हैं। इसलिए चारित्र को 'धर्म' कहा गया है।

धर्म तथा समता को राग-द्वेषादिक विकार भावों की अभावात्मक स्थिति कहा जाता है। ममत्व का विसर्जन और सहिष्णुता का सर्जन उसके आवश्यक अंग हैं। मानसिक चंचलता को संयम की लगाम से वशीभूत करना तथा भौतिकता की विषादाग्नि को अध्यात्मिकता के शीतल जल से शमन करना समता की अपेक्षित तत्त्व दृष्टि है। सहयोग, सद्भाव, समन्वय और संयम उसके महास्तम्भ हैं। श्रमण का यही स्वरूप है। इसी को कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में इन शब्दों में कहा है :—

चारित्तं खलु धम्मो यो धम्मो जो सो समो ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥

जैन-बौद्धधर्म में इसी प्रकार की समता का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उत्तराध्ययन और धम्मपद में समता का प्रशिक्षण इसी की परिसीमा से आबद्ध है। 'मोक्ष' का मार्ग भी यही है। इसमें अध्यात्म और दर्शन, दोनों अन्तर्भूत हो गये हैं। समता की गहराई में डूबा व्यक्ति ही सही आध्यात्मिक और दार्शनिक होता है।

समतावादी व्यक्ति निष्पक्ष, वीतराग, सुख-दुःख में निर्लिप्त, प्रशंसा-निन्दा में निरासक्त, लोष्ट-काञ्चन में निर्लिप्त और जीवन-मरण में निर्भय रहता है। उसका मन संसार के किसी भी पदार्थ की ओर आकर्षित नहीं होता। उसी को श्रमण कहा जाता है।

समता हर धर्म के साथ किसी-न-किसी सीमा तक बंधी हुई है। वीतरागता से जुड़ी हुई समता आध्यात्मिक समता है जो आगमों और कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों में दिखाई देती है। माध्यस्थ भाव से जुड़ी हुई समता दार्शनिक समता है जिसे हम स्याद्वाद, अनेकान्तवाद किंवा विभज्जवाद में देख सकते हैं तथा कारुण्यमूलक समता पर राजनीति के कुछ वाद प्रस्थापित हुए हैं। मार्क्स का साम्यवाद ऐसी ही पृष्ठ-भूमि लिए हुए है।

समता आत्मा का सच्चा धर्म है। इसलिए आत्मा को 'समय' भी कहा जाता है। 'समय' की गहन और विशद व्याख्या करने वाले समयसार आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। 'सामायिक' जैसी क्रियायें उसके 'फील्डवर्क' हैं। समत्व की उपासना ही समत्व योग है। अहिंसा उसी का एक अंग है। वर्गादि व्यवस्था की सीमा में समत्व योग की कल्पना सार्थक नहीं हो सकती। वह तो

एक निर्द्वन्द्व और शून्य अवस्था है जहां हर प्रकार का विकल्प अपने घुटने टेक देता है। निराकुलता और निर्विकल्पात्मकता उसके चिरस्थायी अंग हैं।

समता को यदि किसी धर्म विशेष से जोड़ना ही पड़े तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान जैन-धर्म की ओर आकर्षित होता है। मानवता का सर्वाधिक चिन्तन, मनन और संरक्षण करने वाला धर्म जैन-धर्म ही दिखाई देता है। समत्व का हर अंग-प्रत्यंग यहां भलीभांति पुष्पित और पल्लवित हुआ है। तथाकथित ईश्वर से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना ही नहीं वल्कि स्वयं में ही प्रच्छन्न ईश्वर अथवा तीर्थङ्कर बनने की क्षमता को उद्घाटित करना समता का प्रमुख कार्य है। समत्वयोगी किसी के 'प्रसाद' पर अवलम्बित नहीं होता। वह तो अपने पुरुषार्थ से ही मुक्ति रूप लक्ष्मी का परिणय करता है।

बौद्ध-धर्म में भी समता सन्निहित है परन्तु उसमें उसका उतना उज्ज्वल पक्ष दिखाई नहीं देता जितना जैन-धर्म में। समता अहिंसा की व्याख्या में जीवित रहती है। बौद्ध-धर्म की अहिंसा परिस्थितियों से संघर्ष करने की अपेक्षा उनसे तालमेल बैठालना अधिक जानती है जबकि जैन-धर्म की अहिंसा यह कभी नहीं कर पाती। वह इस क्षेत्र में समझौते के सिद्धान्त से बहुत दूर रहती है।

वैदिक अहिंसा बौद्ध अहिंसा से कहीं अधिक सांसारिक है। इसलिए उसकी समता का स्वरूप ही दूसरा है। प्रथम तो वहां समता का अस्तित्व सही अर्थों में है ही नहीं, यदि है भी तो एक सीमित क्षेत्र में जन्मना वर्णव्यवस्था की विषमताभरी गोद में समता का मूल्याङ्कन किया ही नहीं जा सकता। आश्रम व्यवस्था में अन्तिम अवस्था समता की प्रतिग्राहिणी अवश्य कही जा सकती है पर जहां प्रारम्भ से ही बीज-वपन न हों वहां उसका प्रतिफलित होना सहज संभाव्य नहीं होता।

अतः समता मानवता का प्रतीकात्मक धर्म है और धर्म की व्याख्या मानवता में सन्निहित है। व्यवहारतः उसे हेयोपदियात्मक विवेक की भी संज्ञा दी जा सकती है।

५

समता—समत्वं योग उच्यते

□ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

वेदों का शिरोभाग उपनिषद् है और उपनिषदों का सार सर्वस्व 'गीता'। इस 'गीता' में मानव पुरुषार्थ की उपलब्धि के निमित्त दो निष्ठाएँ कही गई—सांख्यनिष्ठा तथा योगनिष्ठा या कर्मनिष्ठा । कहा गया है—

संन्यासः कर्मयोगञ्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।

अर्थात् निःश्रेयस् की उपलब्धि संन्यास (त्याग) से भी हो सकती है और कर्मयोग से भी । परन्तु जब इन विकल्पों में से किसी एक के चयन की बात हो तो कर्मयोग को ही महत्त्व देना चाहिए । हां, कर्मयोगी की 'बुद्धि' में 'समता' की प्रतिष्ठा आवश्यक है । कारण, कर्म से 'ज्ञान' श्रेष्ठ है—बुद्धियोग श्रेष्ठ है—समत्वयोग श्रेष्ठ है । सर्वोच्च योग बुद्धिगत 'समता' की प्रतिष्ठा है ।

गीताकार का कहना है कि जिस संसार में जन्म लेना और मरना, श्वास-लेना और छोड़ना भी 'कर्म' है—यहां तक कि सृष्टि के निमित्त आद्य स्पन्द (जो सृष्टि मात्र का मूल है) जिसे गीताकार ने 'विसर्ग' कहा है—वह भी उत्पाद-विनाश-शील होने से कर्म ही है—क्या उन कर्मों को छोड़ना -उनका सामस्त्येन त्याग संभव है ? जब कर्म मात्र का सामस्त्येन त्याग असम्भव है—तब उसे संभव करने का सवाल ही नहीं उठता ? फिर जब कर्म त्याग संभव नहीं है और कर्म-त्रय संचित, क्रियमाण प्रारब्ध—से छुटकारा पाये बिना निःश्रेयस की उपलब्धि नहीं तो फिर क्या किया जाय ? यह प्रश्न केवल अर्जुन के सामने ही नहीं, वरन् मानव मात्र के सामने है । कर्म या कर्तव्य सपादन में प्रायः वैयक्तिक

रागात्मक लगाव बाधा उत्पन्न करते हैं। अर्जुन के समक्ष कर्त्तव्य सुनिर्णीत है—युद्ध, पर वैयक्तिक रागात्मक लगाव उसे रोकता है। कृष्ण का निर्णय है कि कर्त्तव्य और वैयक्तिक रागात्मक लगाव—दोनों में संघर्ष होने पर विश्वोपासना के माध्यम से निःश्रेयस् के अभिलाषी को रागात्मक लगाव त्याग देना चाहिए और दूसरी ओर कर्त्तव्य के परिणाम–अनुकूल या प्रतिकूल–से भी तटस्थ होना चाहिए। परिणाम में अनुकूलता की भूख भी साधक को कर्त्तव्यच्युत कर देती है। एक शब्द में कहना हो, तो कहा जा सकता है—लगाव यानी आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए। आसक्ति ही कर्मरूपी बिच्छू का डंक है—आसक्ति रूपी डंक को तोड़ देने से कर्मरूपी बिच्छू निरर्थक हो जाता है—कर्मचक्र विषमय परिणति नहीं प्राप्त करता। क्रियमाण का संचित बनना ही बन्द हो जाता है—भूने हुए बीज की तरह उसमें अंकुर उत्पन्न ही नहीं हो पाता। अनासक्ति पूर्वक किया गया कर्म जन्मान्तर का कारण नहीं बनता।

अभिप्राय यह कि कर्म करके भी कर्मचक्र से मुक्त हुआ जा सकता है, बशर्ते कर्म करने की कला ज्ञात हो जाय। यह कला आसक्ति का त्याग है—निष्काम कर्म है—परमेश्वर के प्रति कर्म का संन्यास या अर्पण है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कर्म का सामस्त्येन त्याग असंभव है—अतः कर्म करना ही होगा—वह चाहे विशिष्ट कर्म हो या सामान्य। कर्म करते हुए कर्मचक्र से मुक्त हो जाने का मार्ग–आसक्ति का त्याग है—कर्मफल के प्रति बुद्धिगत 'समता' अपेक्षित है। अनुकूल फल के प्रति झुकाव और प्रतिकूल फल के प्रति द्वेष यही विषमता है। दोनों के प्रति समान भाव रखना चाहिए, महत्त्व लोक निर्धारित विश्वात्मा की उपासना के निमित्त किए जाने वाले कर्त्तव्य को दिया जाना चाहिए। यह 'विषमता' आसक्तिवश होती है—जो कर्ता को रागांध बनाकर दूसरों की ही नहीं, स्वयम् की भी हिंसा करा डालती है। इसीलिए 'हिंसा' सबसे बड़ा अधर्म और 'अहिंसा' सबसे बड़ा धर्म है। वैदिक धर्म का मर्म निरूपित करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा कि 'पर उपकार' धर्म है और 'अहिंसा' परम धर्म है—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई

* * *

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा

* * *

'पर उपकार' सार श्रुति को

गोस्वामीजी की दृष्टि में श्रौत धर्म का सार 'परहित' और परमधर्म 'अहिंसा' है। आत्म-हिंसा और पर हिंसा से बचना हो, तो 'विषमता' (राग-

द्वेष) को छोड़ना होगा और आसक्ति तभी जाएगी जब 'समता' बुद्धि प्रतिष्ठित होगी। गीताकार ने कहा :—

'सेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति' संन्यासी–त्यागी वही है—जो 'सम' है—जिसे न कहीं राग है और न कहीं द्वेष। इस 'समता' को स्पष्ट करते हुए यह भी बताया गया कि—'समता' जिसकी बुद्धि में प्रतिष्ठित हो चुकी है—उसको सर्वत्र वही दिखता है चाहे विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण हो, गाय हो या हाथी, कुत्ता हो या चांडाल–उसके लिए 'साम्य' सर्वत्र प्रतिष्ठित है। ऐसी 'समता' में जिनका मन स्थित हो चुका होता है—वे लोग यहीं, इसी शरीर और इसी लोक में मृत्यु को जीत लेते हैं। यह 'सम' और 'ब्रह्म' एक ही है। 'साम्य' में जिसकी स्थिति हो गई वह 'ब्रह्म' ही हो गया और 'छांदोग्य उपनिषद्' में ठीक कहा है—ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति–ब्रह्मनिष्ठ–साम्यनिष्ठ–अमृतत्व को प्राप्त कर जाता है। उसे निश्रेयस मिल जाता है। ऐसे ही लोग सिद्धि-असिद्धि, अनुकूल-प्रतिकूल—जैसे द्वन्द्वों से अतीत हो जाते हैं—ठीक ही कहा है :—

'सिद्ध्यासिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते' यही है—वैदिक धर्म का 'समता' योग।

६

समत्व की साधना

□ श्री भंवरलाल पोल्याका

अर्थ और विज्ञान का वर्चस्व :

आज के मानव पर अर्थ और विज्ञान पूरी तरह हावी हो रहे हैं। वह इन दोनों को सुख-शांति की प्राप्ति का अमोघ उपाय जान, इनके पीछे पागल की भांति घूम रहा है। विज्ञान भांति-भांति के भौतिक आविष्कारों द्वारा प्रकृति को अपनी इच्छानुसार मोड़ना चाह रहा है और मानव को भौतिक साधनों द्वारा सुखी बनाने का प्रयत्न कर रहा है। इन साधनों के आविष्कार के लिए तथा इनके उपभोग के लिए अर्थ की आवश्यकता है, अतः आज मानव का उद्देश्य केवल येनकेन प्रकारेण अर्थ की प्राप्ति रह गया है। इसके लिए आज मानवता बलिदान हो रही है। मानव सद्गुणों का जिस तेजी से ह्रास हो रहा है यदि उसकी यही गति रही तो पता नहीं मानवता कितने गहन गर्त्त में जा डूबेगी कि इसका वहां से उद्धार करना असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य होगा। मानवता के इस पतन को रोकने तथा इसे ऊँचा उठाने का प्रयत्न आज की महती आवश्यकता है।

भौतिक सुख-सुविधाओं के पीछे दौड़ने की इस मानव-प्रवृत्ति ने कई प्रकार की विषमताओं को जन्म दिया है। आज मानव-मानव का, एक परिवार दूसरे परिवार का, एक जाति दूसरी जाति का, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शत्रु हो गया है। प्रत्येक अपने को उच्च और दूसरे को हीन दृष्टि से देखता है। और तो और एक ही धर्म के अनुयायियों में भी आज विषमता ने बुरी तरह अपनी जड़ जमा ली है। धर्म की एक शाखा के अनुयायी दूसरी शाखा के अनुयायियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करते हैं मानों वे उस धर्म के अनुयायी न होकर

अन्य किसी ऐसे धर्म के अनुयायी हों—जिसके साथ कभी मेल ही न हो सकता हो। वे आपस में तीन और छह का सा व्यवहार करते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विषमताओं ने घर कर लिया है जिससे मानव आज संत्रस्त और दुःखी है और वह एक ऐसे मार्ग की खोज में है जो उसे इस संत्रास से उबार सके।

इसका इलाज है जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समत्व का पालन। जिस प्रकार विष की औषध अमृत है, अंधकार का नाश करने के लिए प्रकाश की, अज्ञान को दूर करने के लिए ज्ञानार्जन की आवश्यकता है, उसी प्रकार वैषम्य का इलाज समत्व के अतिरिक्त अन्य नहीं है।

समता बनाम विषमता :

जैन-धर्म में समता का अपना वैशिष्ट्य है। वहाँ चारित्र को धर्म कहा है और समत्व को चारित्र[1] अर्थात् धर्म, समत्व और चारित्र तीनों भिन्न न होकर एक ही हैं।

समता के विलोम शब्द हैं 'विषमता', 'वैषम्य', विसमत्व जिनका अर्थ है ऊँच-नीच, छोटे-बड़े का भाव। वर्गभेद, जातिभेद, शोषण, अन्याय, अत्याचार, घृणा आदि के मूल में विषमता की भावना ही है जो रागद्वेष और मोह से उत्पन्न होती है। जहाँ वैषम्य है वहाँ राग-द्वेष का सद्भाव अवश्य है। जब तक राग-द्वेष और मोह का लेशमात्र भी अवशेष है, समत्व की साधना अधूरी है। पूर्ण समता का धारी वीतराग होता है। वह आत्मा की सर्वोच्च अवस्था है। इसके पश्चात् वह कृत-कृत्य हो जाता है। जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष भी अवश्य होता है। यदि किसी व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष के प्रति हमारा राग है

१—(i) चारित्तं समभावो।

—पंचास्तिकाय: गा. १०७

(ii) (क) वीतरागचारित्राख्यं साम्यं।

—प्रवचनसार गा. ५ की अमृतचन्द्रीय टीका

(ख) सम्मं साम्यं चारित्रम्।

—वही जयसेनीय टीका

(ग) समय सया चरे। सदा समता का आचरण करना चाहिये।

—सूत्र० २-२-३

(घ) समता सव्वत्थ सुव्वए। सुव्रती सर्वत्र समता का पालन करे।

—सूत्र० २-३-१३

(ङ) समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।

आर्यों द्वारा समत्व में धर्म कहा है।

—आचारांग-१-८-३

तो अन्य व्यक्ति अथवा वस्तु के प्रति द्वेष अवश्य ही हमारे मन में घर किये हुए है। राग कभी अकेला नहीं आता, द्वेष उसका अविनाभावी साथी है।[1] जब तक राग है तब तक आप्तता और हितोपदेशीपना आत्मा में आ नहीं सकता।[2]

श्रमण परम्परा का लक्ष्य :

श्रमण परम्परा का लक्ष्य राग-द्वेष को नष्ट कर समत्व को प्राप्त करना रहा है। वह साध्य भी है और साधन भी। समत्व का साधक ही 'समण' कहलाता है।[3] महावीर 'महासमण' इसीलिए कहलाते थे कि उन्होंने समत्व की साधाना पूर्ण करली थी। समभाव की पूर्णता पर मोक्ष की प्राप्ति निश्चित है, यह बात सन्देश से परे है।[4]

सब जीवों के प्रति समभाव समण के सम्पूर्ण आचारों में परम आचरण है।[5] 'समण' के लिए शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निंदा-प्रशंसा, स्वर्ण-पत्थर, जीवन-मरण सब समान हैं।[6]

'समण' साधना के छह आवश्यक कर्मों में सामायिक की प्रमुखता है। सब जीवों के प्रति चाहे वे त्रस हों अथवा स्थावर, समभाव रखना, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करना, अपना इष्ट करने वाले के प्रति राग तथा अनिष्ट करने वाले के प्रति द्वेष भाव न करना, सबका हित चाहना, किसी का भी बुरा नहीं चाहना, सांसारिक सुख-दुःखों को समान भाव से आत्मा में बिना किसी हर्ष विषाद के सहन करना, महल-मसान में कोई भेद न करना, धनी और निर्धन को समान भाव से देखना, धनी का आदर और निर्धन का तिरस्कार

१—यत्र रागः पदम् धत्ते द्वेषस्तत्रेति निश्चयः ।

—इष्टोपदेश टीका

२—न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ।

—आ० समन्तभद्रः रत्नक० श्रा० श्लो० ६

३—समयाए समणो होइ । —उत्तराध्ययन २५-३२

४—(i) उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसम्पत्ती ।

—आ० कुन्द-कुन्द : प्रवचनसार गा० ५

(ii) समभावभाविअप्पा लहइ मोक्खं न सन्देहो ।

५—सर्व सत्त्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम् ।

—आ० सोमदेवः नीतिवाक्यामृत

६—समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।

समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।

—आ० कुन्दकुन्दः प्रवचनसार गा० २४१

नहीं करना, अपनी प्रशंसा सुनकर मन में हर्षित न होना तथा निन्दा सुनकर खेद न करना, इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग पर दुःखी न होना, 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्', 'गीता' के महावाक्य का अक्षरशः पालन करना आदि सब सामायिक करने वाले तथा सामायिक आचार का पालन करने वाले के प्रमुख लक्षण हैं।[1]

'समण' की यह साधना प्रतिपल-प्रतिक्षण चलती रहती है। इससे च्युत हुआ नहीं कि समणत्व भंग हुआ। गृहस्थ भी इस समत्व की साधना करते हैं। वे त्रिकाल सामायिक करते हैं। इस समय वे आ० समन्तभद्र के अनुसार 'चेलोपसृष्टमुनिरिव' होते हैं। किसी भी प्रकार का उस समय उपसर्ग आने पर वे विचलित नहीं होते। वे सामायिक में बैठने से पूर्व प्रतिज्ञा करते हैं :—

इस औसर में मेरे सब सम कंचन अरु तृण।
महल मसान समान शत्रु अरु मित्रहिं समगण॥
जामण मरण समान जानि हम समता कीनी।
सामायिक का काल जिते यह भाव नवीनी॥

राग-द्वेष की निवृत्ति समभाव की प्रवृत्ति है। इसी पर सम्पूर्ण जैनाचार का महल खड़ा है। चारित्र के धारण-पालन का एक मात्र उद्देश्य राग-द्वेष की निवृत्ति ही है, अन्य कुछ नहीं।[2]

समत्व की साधना का सोपान अहिंसा :

समत्व की साधना का सोपान अहिंसा है। अहिंसा का पालक ही जीवन में समता को उतार सकता है। समता के लिए सब जीव समान होते हैं, सब जीवों के प्रति उसका मैत्री भाव होता है, किसी के प्रति भी वैरभाव नहीं होता। उसके द्वार सबके लिए खुले होते हैं। उसका उपदेश जीवमात्र के लिए होता है। इसीलिए तीर्थंकरों के समवसरण में मनुष्य, देव ही नहीं, तिर्यञ्च तक सम्मिलित होते हैं। यह उनकी समता का ही प्रभाव होता है कि निर्वैरी भी अपना

१—(क) जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणयं॥
—समणसुत्त २-८

(ख) समभावो सामइयं तणकंचणसत्तुमित्तविसओ त्ति।
—वही २-९

(ग) जो समो सव्वभूदेसु, तसेसु थावरेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवलिसासणे॥

२—रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।
—आ० समन्तभद्र र० क० श्रा० ४७

वैरभाव भूल साथ-साथ रहने लगते हैं। सिंह और गाय एक घाट पानी पीते हैं, साँप और नेवला एक साथ खेलते हैं, चूहा बिल्ली से भयभीत नहीं होता, सिंह को देखकर भी मृग डर कर भागते नहीं, निर्भय खड़े रहते हैं।

प्रमाद अर्थात् राग-द्वेष और मोह की अनुत्पत्ति ही अहिंसा है। समत्व का लक्षण भी यही है। हिंसा के अतिरिक्त अन्य कोई पाप नहीं है। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह तो केवल उदाहरण के लिए, मुमुक्षु को समझाने के लिए बनाए गये हैं। अहिंसा के अतिरिक्ति सब व्रत उसकी परिपालना के लिए ही हैं।[1]

समत्व का साधक अपने उपास्य के प्रति भी आग्रही नहीं होता। उसका किसी के प्रति भी कोई पक्षपात नहीं होता। जिसके रागादि दोष क्षय हो चुके हैं वही उसका उपास्य होता है फिर चाहे उसे ब्रह्मा, विष्णु, महादेव जिन आदि किसी भी नाम से पुकारें।[2]

किसी विशेष वेष अथवा वाद के प्रति भी उसका आग्रह नहीं होता। न वह श्वेताम्बरत्व को मुक्ति का साधन मानता है न दिगम्बरत्व को। नित्यत्ववाद, क्षणिकवाद से भी उसका कोई सरोकार नहीं। स्व पक्ष का आग्रह भी उसके नहीं होता। उसका लक्ष्य तो एक मात्र कषायों से मुक्त होना होता है।[3]

समता के साधक के लिए जाति का कोई महत्त्व नहीं है। उसके लिए सब मानव समान हैं, मानव-मानव में कोई भेद नहीं है। संसार के सब ही मनुष्यों की जाति एक है। उनकी गाय, घोड़े आदि के समान पृथक्-पृथक् जातियाँ नहीं हैं।[4]

समता का साधक क्रोध, भय, हास्य, लोभ और मोह के वशीभूत होकर जो स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव से सत् है उसको असत् और पर द्रव्य क्षेत्र काल

१—अहिंसाप्रतिपालनार्थमितरद्व्रतम्।

—आ० पूज्यपाद: सर्वार्थसिद्धि ७-१४

२—भवबीजाङ्कुरजनना: रागाद्या: क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

—आ० हरिभद्र सूरि

३—न श्वेताम्बरत्वे न दिगम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे।
न पक्षसेवाश्रयणेन मुक्ति:, कषायमुक्ति: किल मुक्तिरेव॥

४—(अ) नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।

—आ० गुणभद्र

(ब) मनुष्यजातिरेकैव। —आ० जिनसेन

भाव की अपेक्षा असत् है उसको सत् नहीं बताता। जो पदार्थ वास्तव में है उसे पर रूप नहीं कहता जैसे घोड़े को गधा कहना। दूसरे की निन्दा नहीं करता। जिस उपदेश को सुनकर मनुष्य पापरूप प्रवृत्ति करने लगे, ऐसा उपदेश नहीं देता। उसके वचन हमेशा हित, मित और प्रिय होते हैं। दूसरों के दोष बताने में उसकी वाणी सदैव मौनावलम्बिनी होती है।

सच्चा श्रमण हठी, दुराग्रही तथा एकान्ती नहीं हो सकता, क्योंकि संसार की प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। एक बार में शब्द पुद्गल होने से वस्तु के एक धर्म की मुख्यता को लेकर कथन किया जाता है। शेष धर्म गौण रहते हैं। इसीलिए उसकी वाणी, उसका उपदेश सापेक्ष होता है। वह 'ही' के स्थान में 'भी' का प्रयोग करता है। निरपेक्ष वाक्य सदा ही हठ पर आधृत होता है अतः वह विग्रह को पैदा करता है। सापेक्षवाद संसार के समस्त धर्मों, वादों और मान्यताओं के समन्वय की अव्यर्थ महौषधि है।

सच्चा साधु सममार्ग का राही होता है। वह किसी के भी धन, धान्य आदि का अपहरण नहीं करता क्योंकि ये व्यक्ति के बाह्य प्राण होते हैं। कहा भी है 'अन्नं वै प्राणाः', 'धनं वै प्राणाः' आदि। इसलिए वह वन, श्मसान, शून्य गृह आदि में निवास करता है।

समत्व के सेवी का अधिकांश समय ज्ञान के अर्जन, ध्यान अथवा तपस्या में व्यतीत होता है। इधर-उधर की ऐसी चर्चाओं से वह अपना कोई संबंध नहीं रखता, जिनका संबंध आत्महित से न हो।

वह सब प्रकार अन्तः और बाह्य परिग्रहों का त्यागी होता है। समधर्म का उपासक गृहस्थ भी बाह्य पदार्थों का संग्रह तो करता है किन्तु उनमें ममत्व भाव नहीं रखता। वह उसे राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है और आवश्यकता पर बेझिझक राष्ट्र को अर्पण कर देता है। महामात्य भामाशाह का इतिहास प्रसिद्ध कथानक इसका ज्वलन्त उदाहरण है। महावीर-काल में आनन्द श्रावक भी इसी श्रेणी में था। इसके लिए किसी दबाव अथवा कानून की आवश्यकता नहीं होती। यही सच्चा अहिंसक समाजवाद है। पाश्चात्य समाजवाद में यह कार्य कानून से तथा साम्यवाद में हिंसा से, जोर जबरदस्ती से सम्पन्न किया जाता है जबकि समता धर्म उपासकों का यह समाजवाद अन्तस्फुरित होता है। वह जानता है कि सारी विषमताओं की जड़ यह परिग्रह ही है।

• • •

७

समता के सोपान

☐ श्री रतनलाल कांठेड़

पदार्थ-बोध से समता का ग्रहण :

अपने आत्म स्वरूप को किस प्रकार से प्राप्त किया जावे, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया और मेरा वास्तविक स्वरूप व जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, यह प्रश्न प्रत्येक जिज्ञासु को ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक मानव–मस्तिष्क में उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि जीवन के साथ मौत का प्रश्न मुँह बाये खड़ा रहता है।

इस विषय में ऋषि, मुनियों व महात्माओं ने आत्मा के विभिन्न पहलुओं पर भिन्न-भिन्न रूपकों से अन्वेषण कर भिन्न-भिन्न पक्षों के माध्यम से आत्मा के रहस्योद्घाटन का उपक्रम किया है। उसका निष्कर्ष यह है कि आत्मा का आत्म तत्त्व के रूप में अनुभव किये बिना समभाव की अथवा समता-दर्शन की प्रतीति नहीं होती। आत्मा की सत्ता एक है, आत्मा अखंड है, आत्मा के असंख्यात प्रदेश हैं, उसके एक प्रदेश का भी कभी त्रिकाल में भी नाश नहीं होता, आत्मा के चैतन्य धर्म की सत्ता का कभी बाध नहीं होता। आत्मा ध्रौव्य उत्पाद व्यय लक्षण वाला है और 'सत्वेयस्य सत्वं अन्वय: यदभावे यदभाव: व्यतिरेक', अर्थात् जिसके सत्व से जिसका सत्व हो वह अन्वय हेतु होता है और जिसके अभाव से जिसका अभाव हो, उसे व्यतिरेक हेतु होता है, आत्मा का अस्तित्व होने से ज्ञान का अस्तित्व है, आत्मा नहीं वहां ज्ञान नहीं; जैसे जड़ वस्तुएँ अचेतन व ज्ञान रहित हैं, इस प्रमाण से आत्मा की सिद्धि अन्वय व व्यतिरेक से होती है। आत्मा है। आत्मा कर्म की कर्त्ता है, आत्मा ही भोक्ता है। इस प्रकार आत्मा ही कर्म को बांधती है, आत्मा ही कर्म को छोड़ती है। इसी से मोक्ष है और मोक्ष के उपाय है। इन तथ्यों पर विशेष विचार करके

विवेक ख्याति प्राप्त करने से आत्मानुभव होता है। निजात्मा का ज्ञान होने से वहिरात्म भाव का नाश होकर अन्तरात्मत्व प्रकट होता है।

इस प्रकार अपने में आत्मा परमात्मपना अनुभव कर शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने के लिये सतत अनासक्त होकर साधक जब समत्व (समता) भाव में स्थिर होने का पुरुषार्थ करता है तब वह अपने में परमात्मपना सत्ता से रहा हुआ है, ऐसा देखता है। 'स्वयं स्वतन्त्र, अखण्ड परमात्मा मैं हूँ, क्योंकि पर पुद्गलादि रज मात्र भी मेरे नहीं, न मैं उनमें हूँ, असंख्यात प्रदेश में सत्ता से रहा हुआ वही मैं हूँ, शेष सांसारिक पर्याय रूप मैं कभी भो अस्तिभाव से नहीं हूँ', ऐसे कहने पर शेष शरीर, धन आदि मैं नहीं हूँ, ऐसा प्रत्यक्ष हो जाता है। पुनः द्रव्य से आत्मा असंख्य प्रदेश रूप नित्य है और ज्ञानादि पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है, द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य, द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुव रूप और पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद व व्ययरूप, ऐसा आत्मरूप मैं हूँ। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नित्य और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अनित्य ऐसा आत्मरूप मैं हूँ, स्व से सत्तारूप और पर से असत्तारूप ऐसा आत्मा, वही मैं हूँ, द्रव्य की अपेक्षा व्याप्त और ज्ञानादि पर्यायों की अपेक्षा से व्यापक अर्थात् 'विभु' ऐसा आत्मारूप मैं परमात्मा हूँ, द्रव्य की अपेक्षा से गुण और गुण से अभिन्न तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कथान्चित भिन्न ऐसा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्यमय मैं आत्मा हूँ। केवल ज्ञान, केवल दर्शन तथा क्षायिक चारित्र आदि जिसके गुण हैं', ऐसा परमात्मा वह मैं हूँ। 'मैं सोऽहं हूँ', 'सोहं' शब्द वाच्य मेरा आत्मा है, वही मैं हूं। उसके विना शेष के सर्व जड़ धर्म मेरे नहीं, उनमें मेरापन नहीं, ऐसा दृढ़ निश्चयी, आत्मानुभवी, अनुभवज्ञानी, आनन्दघन स्वरूप को अपने में ही संवेदन करता है, वह अपने आत्म वैभव से भौतिक बाह्य पदार्थो को स्व से परे निस्सार देखता है। ऐसा अनासक्त, ममत्वहीन, निस्पृही, निर्ग्रन्थ व निर्मोही कर्तव्याचरण करता हुआ भी आत्मलीन होता है और वही समता गुण में प्रवेश का अधिकारी कहा जा सकता है।

विभाव का क्षय करने से समता-प्राप्ति :

इस प्रकार आत्म तत्त्व का ज्ञाता द्रष्टा ज्ञेय पदार्थों को जानता और देखता है। पर पदार्थों में वह ज्ञायक तदाकार नहीं होता, आत्म ख्याति जागृत होने से वह अपनी विवेक ख्याति द्वारा हेय, ज्ञेय व उपादेय के भेदों में प्रवेश करता है। यह जीव अनादि काल से अज्ञानवश विभाव आश्रित होकर कर्म संचय करता हुआ देव, नारक, मनुष्य और तिर्यन्च गतियों में भ्रमण करता हुआ, शुभ, अशुभ, पाप-पुण्य-रूप पर्यायें करता हुआ आपही कर्त्ता व आपही भोक्ता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः' ऐसा गीताकार ने भी कहा

है। सत्ता की प्रतीति के अज्ञान वश पर पदार्थ में आसक्त जीव गतियों में सुख-दुःख का, साता-असाता का वेदन करता हुआ, भव-भव में भटकता है; किन्तु उस अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं कर पाता जिसे पंचम गति रूप मोक्ष कहते हैं। वैभाविक गुण जीव की अनादि योग्यता हेतु रूप है, वही कर्म बंध का कारण है और वही गति कराता है। यदि ऐसा नहीं हो तो कर्त्ता और भोक्ता का तथा कर्म और बंध का व संसार और मोक्ष का प्रश्न ही न हो; तब शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, शुद्ध-अशुद्ध व स्वभाव और विभाव का तथा त्याग-ग्रहण, जप-तप अनुष्ठान, सद्-असद् आदिका भी प्रश्न न रहेगा।

वस्तुतः जीव परिणामी स्वभाव युक्त होने से ज्ञान चेतना युक्त है। वह पौद्गलिक पदार्थों को असत्ता रूप जानकर त्यागता है, तभी विभाव से स्वभाव में प्रविष्ट होता है। जिस-जिस अंश में विभाव का त्याग करता है, उस-उस अंश में जीव परिणाम शुभाशुभ व अशुद्ध-शुद्ध कहलाते हैं। इन जीव के परिणाम रूप अध्यवसायों से जीव का शुभ-अशुभमय, पाप-पुण्यमय तथा शुद्ध-अशुद्ध का मूल्यांकन होता है जिन्हें जैनागमों में १४ गुणस्थान रूप सोपानों से जाना जाता है। इसी से समता गुण के ग्रहण व अभिवर्धन का अनुमान प्रमाण होता है। ज्यों-ज्यों गुणस्थान चढ़ता है, त्यों-त्यों जीव समता शिखर की ओर बढ़ता है. एतदर्थ चौथे गुणस्थान जिसे अविरति सम्यक् दृष्टि गुणस्थान कहा है, उससे नीचे के तीन मिथ्यात्व गुणस्थान छूटते हैं अर्थात् जीव और अजीव का सम्यक् बोध हो जाता है; किन्तु पुरुषार्थ की दृढ़ता ऊपर के सद् आचरण रूप व्रत ग्रहण, अशुभ का त्याग, शुभ, पुण्य ग्रहण अवस्था है, किन्तु सम्यग् प्राप्त गुणी छठे मुनि गुणस्थान के मनोरथ को सदैव लक्ष में रखता है।

आगार व अणगार धर्म :

भगवान् महावीर स्वामी ने करुणार्द्र होकर, आगार धर्म और अणगार धर्म की व्यवस्था कर, चतुर्विध संघ की स्थापना की है तथा १५ प्रकार से सिद्ध होने की घोषणा की है, जिसमें गृहलिंग सिद्ध भी मान्य है। अभिप्राय यह है कि अनादिकालीन, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि १८ विभाव रूप पापों से परिमुक्त होनेके लिये तदनुरूप पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। सम्यक् दर्शन, ज्ञान की सिद्धि होने पर सम्यक् आचरण स्वाभाविक रूप में आता है। ऐसा न होना पुनः ज्ञान की श्रेणी में आकर श्रावक अथवा साधक नीचे के गुणस्थानों में भटक जाता है, जहाँ पूर्ण दृढ़ श्रद्धान रूप समता का ग्रहण नहीं माना जाता। जीव अगुरु-लघु स्वभावी अर्थात् हानि-वृद्धि रूप परिणामों का धारक है। अतः यथाकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरणादि, पांच करण का आगमों में विधान है।

*दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी निश्चय और व्यवहार के भेदों से दो प्रकार [illegible]

है, किन्तु वाह्याभ्यान्तर शुद्धि के आशयों से अनेकांत दृष्टि से सापेक्ष कर अपनी स्थिति व पुरुषार्थ के आधार से इन पर सम्यक् विचार करना ही दोनों नयों का ग्रहण है और वही स्याद्वाद न्याय से यथातथ्य सिद्ध होता है । अस्तु, अपना आत्मावलोकन कर आत्म-शुद्धि हेतु समता-प्राप्ति अथवा गुण श्रेणी में वाधक आचरणों से आँखें मूंद कर ज्ञान का दावा करना हास्यास्पद है। यश, कीर्ति, मान, सन्मान अभिमान, लोकैषणादि का मोह, निर्ग्रन्थ, ममत्व के त्यागी साधक साधु को द्रव्यलिंगी की श्रेणी में ला पटकता है तो संसार व्यस्त श्रावकों का अनासक्त आचरण किस धरातल पर है, इसका मूल्यांकन करना तो एक टेढ़ी खीर ही हो सकेगा, अतः आगम प्ररूपित ६ आवश्यक का आदर कर, श्रावक को ५ अणुव्रत धर्म और १२ प्रकार के श्रावक धर्म का आचरण विभाव मुक्ति में पूर्णरूपेण अंगीकृत करने योग्य है। वह पांचवें गुणस्थान को, समता गुण को दृढ़ करता-करता यदा-कदा ऊपर भी पहुँच सकता है तथा छठे गुण-स्थान का मुनि छद्मस्थ व प्रमत्त माना गया है, इसलिये भगवान् महावीर ने गणधर गौतम स्वामी के प्रश्नोत्तर में "समयं गोयम मा पमाए" कहा। यदि तुमने षटद्रव्य और नौ तत्त्वों के भेद को नय-निक्षेप व अनुमान-प्रमाणादि से सम्यग् प्रकार जान लिया हो तो एक समय (क्षण) मात्र का भी प्रमाद न करो, अर्थात् विभाव का त्याग कर दो। ऐसा जानकर मुनि इस काल में भी सातवें अप्रमत्त गुण को प्राप्त हो जाता है जहाँ समता गुण नीचे के गुण स्थानों से असंख्याता गुणा अधिक दृढ़ होता है।

यहाँ समता अतिवलवान रूप में आरूढ़ होती है। यहाँ अनेकानेक कर्म के दलिये आश्रव द्वार के वंद होने से रुक जाते हैं तथा अपूर्व संवर भाव से पूर्व संचित कर्म निर्जरित हो जाते हैं तथा पुनर्वंध रुक जाते हैं, तव ज्ञाता, शुभाशुभ वंधों को हेय जानकर त्यागता है और वह अन्तर रमण में मग्न अप्रमत्त साधु शुद्ध अध्यावसाय रूप परिणामों से शुद्धतर व शुद्धतर से शुद्धतम की ओर प्रयाण कर सकता है। काल लब्धि पकने पर शुक्ल ध्यान से यथाख्यात चारित्र के वल से शैलेशिकरण योग से तव मुक्त दशा, मोक्षधाम की प्राप्ति रूप समभाव रूप समता शिखर को प्राप्त करता है। किन्तु, इससे पूर्व क्षयोपक्षम भाव से सोपान चढ़ने का पुरुषार्थ दृढ़ होना अनिवार्य है। इसलिये आगमों की व गुरु की शरण लेना, मार्ग में वढ़ने का एकमात्र उपाय है, क्योंकि अनादिकालीन कर्म के कारणों का उपशम, क्षयोपशम व क्षायिक के भेद में प्रवेश कर, श्रावक धर्म व साधु धर्म के धरातल से कर्मक्षय का उपाय करना चाहिये।

कर्मक्षय से समता सहज है :

यदि विभाव को जान लिया तो स्वभाव में लीन अध्यात्मज्ञानी को कर्माश्रव का द्वार खुला रखना अभिप्रेत नहीं होता, प्रत्युत् निर्जरा गुण का वेग

वढ़ता जाता है जिससे अनंत काल के अनंत कर्म झड़ने लगते हैं। संवर में अनुरक्त, अनासक्त योगी यह जानता है कि संसार में सशरीरी मनुष्यों को संयोग-वियोग रूप पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट रूप अध्यवसायों के कारण आर्त व रौद्र ध्यान उत्पन्न होते हैं और ये विभाव रूप हैं। विषय कषायों में आसक्ति अथवा ममत्ववश जीव के लेश्या परिणाम विकृत बनते हैं जो नील, कृष्ण रूप-हिंसा क्रोधादि से आवद्ध हैं। रोग-चिंता, अग्रसोच, हिंसानुवन्धी रौद्रध्यान, मृषानुवन्धी रौद्रध्यान, स्तेयानुवन्धी रौद्रध्यान, और परिग्रहानुवन्धी रौद्रध्यान, ये चारों पापमय कालिमा युक्त हैं। कर्मों की विचित्र गति है। कर्म मूल आठ प्रकार के हैं। कर्मों की १५८ प्रकृतियाँ हैं। एक वार का किया हुआ पाप दश गुणा विपाक देता है जिससे कर्मोदय के समय उपयोग नहीं रखा जावे तो अन्य कर्म वंधते हैं और इस प्रकार कर्म-परम्परा वढ़ती है। मूल कर्म अल्प होते हैं और वे साता-असाता के वेदन से अत्यधिक हो जाते हैं। उस समय वह आत्मा राग-द्वेष में परिणत होती है और वंधती है। स्वजनों का मोह, पिता-पुत्र, स्त्री-मातादि का कौटुम्बिक मोह, शरण-अशरण आदि सात भय व उनमें आसक्ति, धन, वैभव, मकान, वाहन का मोह, मानापमान, यश, कीर्ति का मोह, इस प्रकार कर्म वंध की स्थिति, मन, वचन व काया के योगों से वृद्धि को प्राप्त होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व चारित्र की २८ प्रकृतियों के वंध तथा पुण्य वंध ये आस्रवरूप लोह व सोने की वेड़ी रूप संसार के दुःख-सुख रूप माने जाने से वंध हैं। अतः ऊपर के स्थान में पुण्य भी हेय है। इस भेद को जानने से समता का भेद ज्ञान होता है। संसार के सुखादि सुखाभास हैं। अज्ञानी वेदन करता है, वह वांधता है। ज्ञानी साता-असाता को भ्रमजाल जानकर, समभाव में स्थिर-स्थित होता है। वही समता के महान् तत्त्व का ज्ञाता होकर मोक्ष मार्ग का राही वनता है। स्व-पर का भेदज्ञान कर्मों के कार्यकलापों से समझ लेने वाला पुरुष उस अभेद स्वरूप का ज्ञाता होता है। वही समता-ग्रहण की भूमिका का अधिकारी है।

आत्म उपयोग ही सम भाव है :

अज्ञानी वाल जीव दया के पात्र हैं। अज्ञान ही अंधकार है, ज्ञान ही प्रकाश है, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् अंधकार से प्रकाश की ओर वढ़े चलो। जाति की अपेक्षा, सामान्य नय से, सभी जीवात्माएँ समान हैं। उनमें व हममें समानता है। विशेष नय की अपेक्षा सभी जीव अनेकानेक व स्वतन्त्र हैं, अपनी-अपनी सत्ता में हैं व कर्मों से तिर्यन्च नारकादि जाति धारण करते हैं। सभी जीवात्मा सुखाभिलाषी हैं, मानव विकासशील प्राणी है। उनमें विवेक व विचार शक्ति है। वह बुद्धि प्राप्त है। मानव भव दुर्लभ है। देवता भी इस भव हेतु लालायित रहते हैं। अस्तु, मानव जीवात्मा प्रत्येक जीव में बन्धुत्व आरोपित करे, उसे सुख दे अर्थात् अभय प्रदान करे, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं। इस प्रकार आत्मा गुण से सबों को समान करने से स्वयं समता व निर्भय बना जाता

है। यह भाव विश्व बन्धुत्व, विश्व शांति व विश्व कल्याण का जन-जन को पाठ पढ़ाता है 'जीयो और जीने दो' का महावीर का उद्‌घोष इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों का प्रदाता है। इस सिद्धान्त से मानव 'तिन्नाणं तारियाणं' के सूत्र पद का अधिकारी बन स्वयं मुक्त बुद्ध हो जाता है। 'उपयोगे आत्मा' यह आत्मा का लक्षण है। इस हेतु चार मैत्री भावना (१) मैत्री, (२) कारुण्य, (३) प्रमोद और (४) माध्यस्थ, इन्हें आत्मोपयोग में लेने से मानव, जगत् का प्रिय त्यागी वनकर शुद्ध मानवता का उदाहरण उपस्थित करता है। उसका कोई वैरी नहीं रहता न वह किसी का वैरी रह पाता है। भारतवर्ष आज भी ऐसे त्यागियों, मनीषियों, संतों व महात्माओं की पूजा करता है व उन्हें सर झुकाता है तथा प्रेरणा प्राप्त करता है।

समता से ममता का ह्रास :

व्यष्टि से समष्टि का निर्माण होता है। जब उक्त प्रक्रिया से, आत्म-उपयोग से, प्रत्येक प्राणी आत्मावलोकन करेगा तो वह अपने भीतर अपने को स्वतन्त्र, अनुभव करेगा। 'आय अकेला जाय अकेला, चार दिनों का मेला' इस सिद्धान्त से एकत्व अनुभव कर भौतिक पदार्थों से निश्चित ही विरक्ति व निर्ममत्व भाव को ग्रहण करेगा। ये नश्वर वैभव विलास यहीं धरे रह जाते हैं, 'सव माल पड़ा रह जावेगा, जब लाद चलेगा बनजारा' इस प्रकार वह अपने को ही दया की दृष्टि से देखने लगेगा। 'स्व दया' मोक्ष का कारण है। तब विश्व के प्रति उस व्यक्ति में करुणा जागृत हो उठेगी। परिणामतः यदि प्रत्येक व्यक्ति इस दर्शन का सम्यग् धारक बनेगा तो चारों ओर मानव में, दया, सौहार्द, सहिष्णुता, सहानुभूति, विनय, विवेक, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, स्नेह, वात्सल्यादि सद्‌गुण प्रकट होंगे और तब विश्व समाजवाद का स्वप्न साकार हो उठेगा, राष्ट्र समृद्ध होंगे, परिवार सुखी बनेंगे, कर्त्तव्यपरायणता जगेगी, विश्ववन्धुत्व स्थापित होगा। तब कोई पड़ोसी भूखा नहीं सोवेगा, दरिद्रता व गरीबी के चिह्न शेष नहीं रहेंगे। तब महावीर का दर्शन 'जीयो और जीने दो' का फल प्रत्यक्ष हो सकता है व मानव स्वयं इस भव सागर से तिरता हुआ अपने स्वजनों को अर्थात् मानव मात्र को भव सागर से तैरने का पाठ पढ़ा सकेगा। इस प्रकार समता दर्शन इहलोक और परलोक का सुख प्रदाता है तथा यह दर्शन विश्व कल्याणकारी है, नर से नारायण बनने का रहस्य इस समता दर्शन में समाहित है, जो सम्यग्‌मति व सम्यग् चक्षुओं से अवलोकन करने से उजागर हो उठता है।

ममत्व त्याग से समत्व का ग्रहण :

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि अध्यात्म विचारधारा के प्रसार से ही व्यक्ति में समता गुण को प्राप्त करने की भूमिका बनती है। अशांति का,

विषमता का, विग्रह, कदाग्रह, दुराग्रह का कारण मात्र अज्ञान है तथा अनात्मा, बहिरात्मा का कारण भी स्वतन्त्र आत्म-स्वरूप की प्रतीति का अभाव होना है। फलतः अज्ञान में आबद्ध मानव, भौतिक जड़वाद के मोह में नर से नारायण के बजाय नर से नरपिशाच बन जाता है और तब विश्व-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है। राष्ट्रीय सम्पत्ति के मालिक मुट्ठी भर लोग, अपने चरित्रभ्रष्ट कौशल से धनाढ्य, शरमाएदार बन बैठते हैं तथा गरीब और अधिक अभाव-ग्रस्त तथा दरिद्र बन जाता है। राष्ट्र असमृद्धि का रूप ले लेता है। इस प्रकार समाज व कुटुम्ब क्षत-विक्षत होते देखे जा सकते हैं। तृष्णावश मानव मोहान्ध होकर, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, विषयासक्ति तथा निर्लज्जता के दुर्गुणों को अपनाकर भयंकर पाप कर्म में रत हो जाता है। परिणामतः मानव, रागी, द्वेषी, क्रोधी, मायावी, कपटी, ठग, लम्पट, धूर्त, व्यभिचारी आदि दुर्गुणों में लिप्त, आसक्त होकर अपनी स्वार्थ पूर्तिवश हिंसक व दानव बन जाता है तथा इहलोक और परलोक का घातक बनकर विभाव दशावश नर्कगामी बन जाता है। ऊपर से अपने पाप पुद्गल विश्व को देता है, यही विश्व अशांति का मूल कारण है। अतः जहाँ ममत्व का त्याग होगा, वहीं समत्व गुण प्रकट हो सकेगा, यह निर्विवाद है।

अध्यात्म ज्ञान से समता के शिखर का आरोहण :

समता जैसे महत् तत्त्व को प्राप्त कर, अनेकांत शैली द्वारा प्ररूपित स्व-सत्ता रूप आत्मावलोकन के बल से ही जैनागमों द्वारा कथित १४ गुणस्थान रूपी सोपानों को पार करने का तथा उससे प्राप्त सिद्ध-बुद्ध अवस्था तक पहुँचने का रहस्य समझा जा सकता है। तभी समता शिखर का प्रयाण सम्भव है। 'पढमम् नाणं तओ दया', 'दंसण धम्मो मूलो', 'ज्ञानं कियाभ्या मोक्षः' जैसे शास्त्रीय सूत्रों को अनेकांत दर्शन से, व नयनिक्षेपों तथा अनुमान प्रमाणों से सापेक्ष कर, तत्तत् नय की अपेक्षा से तत्तत् रूप से ग्रहण करने पर प्राणी अभेद आत्म तत्त्व को पा लेता है, ऐसा निश्चित है। यह सापेक्ष दृष्टि है व इससे सम्यक् प्राप्ति है जो चौथे गुणस्थान में प्रकट होती है तथापि ऊहा, गुहा, गाढ़, प्रमाद के भेद को जानने से अप्रमत्त भावी जीव ही गुणस्थान लांघता है व कालन्धि को प्राप्त होता है। सारांशतः श्रावक श्रेष्ठि वर्ग, अणुव्रतों से और संयमी वर्ग महाव्रतों से, यम-नियम में आरूढ़ होकर, अपने क्रूर अध्यवसायों का त्यागकर, शुभ से शुद्ध अध्यवसायों में परिणमन करने की दृढ़ता करता है। इस हेतु जैनागमों में विपुल साहित्य उपलब्ध है। थोड़े में मैं छः द्रव्य का ज्ञाता, नव तत्वों को सम्यक् जाननेवाला तत्वज्ञ, यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है। [illegible] प्रकार के [illegible] नयों का सम्यक् [illegible] करने वाला तथा १२ प्रकार की भावना आत्मसात् [illegible] करके आत्मा [illegible] होता है और वैसा [illegible] समता शिखर का आरोही होता है, तब वह [illegible]

श्रेणी में आरूढ़ कहा जा सकता है। इस हेतु अन्तर तपों में स्वाध्याय, ध्यान व कायोत्सर्ग में उनके भेदों में प्रवेश कर, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशरण, अशुचि आदि भावनाओं का निरन्तर चिंतनमनन व आचरण आध्यात्म ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। ज्ञान प्राप्त करना मानव का चरम व परम लक्ष्य है। वह समता प्राप्ति की प्रथम भूमिका रूप है।

अज्ञानी अल्प कार्य शुरू करते हैं और अत्यधिक व्याकुल होते हैं। शेक्सपीयर ने लिखा है, 'अज्ञान ही अन्धकार है।' प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने कहा—'अज्ञानी रहने से जन्म न लेना ही अच्छा है,' क्योंकि अज्ञान समस्त विपत्तियों का मूल है। चाणक्य ने कहा था, 'अज्ञान के समान मनुष्य का और कोई दूसरा शत्रु नहीं है।' इस प्रकार अज्ञान जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। गीताकारने कहा है—

'नहीं ज्ञानेन सदृशम् पवित्रमिह विद्यते।'

अर्थात् इस संसार में ज्ञान के समान और कुछ पवित्र नहीं है। ज्ञान बहुमूल्य रत्नों से अधिक मूल्यवान है। और भी कहा है—

यथैधांसि समिद्धोग्नि भस्मसात्कुर्तेर्जुन।
ज्ञानाग्नि सव कम्माणी भस्मसात कुरुते यथा॥

हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि सव भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों को जलाकर नष्ट कर देती है। ज्ञानी कर्म में लिप्त व आसक्त नहीं होता वरन् तटस्थ, निःस्पृह, निष्काम भाव से अपने कर्म में लगा रहता है, इसलिये वह कर्म-बंधनों से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मोह, कीर्ति, यश-अपयश से परे अपने ज्ञान बल से बहिरात्म भाव को त्याग कर, वीतराग भाव को, समता गुण को ग्रहण कर वह समदृष्टि जीव, समता शिखर का राही, इहलोक और परलोक के सुख को प्राप्त कर, अव्याबाध सुख में आत्मरमण करता हुआ, परमात्म पद को प्राप्त कर, विश्ववंद्य के पद पर सुशोभित होता है।

८
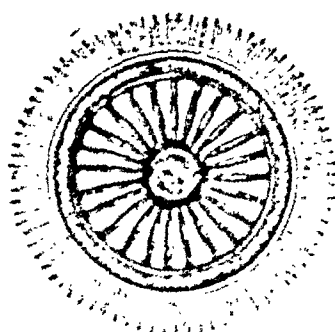
समरसता : ब्रह्मांड का मधु

☐ डॉ० वीरेन्द्रसिंह

विज्ञान की यह एक मान्यता है कि प्राकृतिक नियमों का संतुलन ही प्रकृति का ऐसा सत्य है जो प्रकृति और ब्रह्मांड के रहस्य को समझने में सहायक होता है। यह बात केवल विश्व के लिए ही नहीं पर मानव जीवन के संदर्भ में भी सत्य है। धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा साहित्य—इन सभी ज्ञान-क्षेत्रों ने प्रकृति और विश्व के इसी सत्य को अपनी-अपनी पद्धतियों के द्वारा 'अनुभव' करने का प्रयत्न किया है। यहाँ पर 'पद्धति' शब्द का जो प्रयोग किया गया है, वह इसलिए कि प्रत्येक ज्ञान-क्षेत्र की अपनी अनुभव पद्धति होती है। धर्म की अनुभव-पद्धति विश्वास और अनुभूति पर अधिक आश्रित है जबकि दर्शन की अनुभव-पद्धति तर्क और विश्लेषण पर अधिक आधारित है। कहने का अर्थ यह है कि ज्ञान-क्षेत्रों के अनुशीलन से यह सत्य प्रकट होता है कि प्रकृति, मानव, ब्रह्मांड सभी क्षेत्रों में एक संतुलन और समरसता (Harmony) की आवश्यकता होती है, नहीं तो प्रकृति में अव्यवस्था और असंतुलन व्याप्त हो जायेगा। इसी असंतुलन को 'समरसता' के द्वारा दूर किया जाता है। समरसता में घटकों का सह-अस्तित्व रहता है अथवा आपस में संतुलन बनाए रखने के लिए सहकारिता का आधार ग्रहण करना होता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो योगी की समाधि अवस्था भी इसी समरसता के नियम पर आधारित है। जैन-दर्शन के समत्व-दर्शन को इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने से यह स्पष्ट होता है कि समरसता की अन्तर्धारा समत्व भाव में अन्तर्निहित रहती है।

आइंस्टाइन का सापेक्षवादी सिद्धान्त भी इसी तथ्य को एक अन्य आयाम देता है। सापेक्षवाद एक ऐसा प्रत्यय है जो वस्तुसत्य के लिए 'सम्बन्धों' (Relations) की सापेक्षता को मानता है। सत्य का स्वरूप भी सापेक्ष है, वह

निरपेक्ष नहीं है। आइंस्टाइन ने दिक् और काल को सापेक्ष मानते हुए उनके आपसी सम्बन्धों की समरसता को चतुर्आयामिक दिक् काल की अवधारणा में निहित माना है। सापेक्ष प्रत्यय की धारणा में 'समरसता' का स्थान इसी दृष्टि से है और समस्त प्रकृति और ब्रह्मांड इसी पूर्व-स्थापित समरसता (Pre-established Harmony) के नियम से परिचालित है। आइंस्टाइन के इस 'प्रत्यय' का एक विशेष संदर्भ है। यह संदर्भ सौन्दर्य-बोध से सम्बन्धित है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक का सौन्दर्य-बोध विश्व और प्रकृति की नियमबद्धता तथा समरसता में निहित है। आइंस्टाइन के शब्दों में "विश्व के अंतराल में वह एक पूर्व स्थापित सामरस्य के सौन्दर्य को कार्यान्वित देखता है।"

प्रकृति और विश्व की संरचना जहाँ एक ओर सृजन-शक्तियों से परिचालित होती है, वहीं वह संतुलन-शक्तियों के द्वारा भी शासित रहती है। सृजन, संतुलन और विलय (या संहार) की तीनों शक्तियाँ, प्रकृति और विश्व में 'समरसता' को मान्यता देती हैं अथवा दूसरे शब्दों में, विश्व का संचालन इन्हीं शक्तियों की समरसता के द्वारा ही होता है। धर्म तथा दर्शन में इस सत्य को अनेक प्रत्ययों के द्वारा व्यक्त किया गया है। त्रिमूर्ति तथा अर्धनारीश्वर की अवधारणाएँ इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

ब्रह्म की शक्तियों का विकास हमें त्रिमूर्ति की धारणा में प्राप्त होता है। ब्रह्म की तीन मात्राएँ अ, उ और म का अर्थ उपनिषद् साहित्य में दिया गया है जो समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। 'अ' सृजन-शक्ति का प्रतीक है जो आगे चलकर 'ब्रह्मा' की धारणा को व्यक्त करता है। 'उ' संतुलन का प्रतिरूप है जो पुराणों में 'विष्णु' का रूप हो गया और 'म' विलय या संहार का प्रतीक है जो शिव की भावना को विकसित कर सका। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के अन्योन्याश्रित संवाद को त्रिमूर्ति के द्वारा व्यक्त किया गया है। प्रकृति और विश्व की संरचना में इन तीनों शक्तियों का समान रूप से महत्व है क्योंकि इनमें से किसी की भी अनुपस्थिति विश्व के संतुलन को, उसकी समरसता को भंग कर सकती है।

पाश्चात्य विचारधारा में भी त्रिमूर्ति (Trinity) की कल्पना की गयी है क्योंकि वहाँ पर ज्यूपीटर ब्रह्मा का, नैपच्यून विष्णु का और प्लूटो शिव का प्रतिरूप है। यह तथ्य यह प्रकट करता है कि धर्म ने भी विश्व की शक्तियों का दैवीकरण कर उन्हें एक साकार रूप दिया है और त्रिमूर्ति इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार मानव जीवन में नर और नारी की समरसता को आवश्यक माना गया जिसका साकार रूप अर्धनारीश्वर है जो शिव और शक्ति का एक सम्मिलित रूप है।

यहाँ पर एक अन्य विचारधारा की ओर संकेत करना आवश्यक है। यह है शैव मत का समरसता सिद्धान्त जो शिव और शक्ति की समरसता में आनन्द की उत्पत्ति मानता है। आनन्द की अवधारणा में समरसता का एक विशेष स्थान है। 'आनन्द' दो या दो से अधिक विरोधी तत्त्वों के मध्य में एक प्रकार की समरसता का ही फल है। समाज की समरसता व्यक्ति और समूह की समरसता है। जड़ और चेतन की समरसता ही आनन्द की चेतना है। व्यक्ति उसी समय 'आनन्द' प्राप्त कर सकता है जब मन और बुद्धि में समरसता हो। यही कारण है कि 'शिव' की प्रतिमा को एक समाधिस्थ योगी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। शिव का यह योगी रूप अन्तर और बाह्य की समरसता का परम प्रतीक है जहाँ आभ्यन्तर और बाह्य का अन्तर ही समाप्त हो जाता है और सर्वत्र एक 'चेतना' का स्वरूप रह जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म, दर्शन और साहित्य में समरसता का कोई-न-कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी समरसता या संतुलन के महत्त्व को माना गया है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' एक ऐसा काव्य है जिसमें सर्जनात्मक धरातल पर उपर्युक्त विचार-दर्शन को रूपांतरित किया गया है। धर्म, दर्शन, विज्ञान और द्वन्द्वात्मकता—सभी दृष्टियों से 'कामायनी' का अपना विशेष महत्त्व है क्योंकि 'कामायनी' जहाँ एक ओर समरसता के सिद्धान्त को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रदान करती है, वहीं वह विज्ञान-बोध तथा अनेक विचारधाराओं को एक रचनात्मक संदर्भ प्रदान करती है। समरसता प्रकृति और विश्व का 'मधु' है—एक ऐसा सत्य जिसके बिना ब्रह्मांड और मानव-जीवन की अस्मिता ही खतरे में पड़ जाए।

६
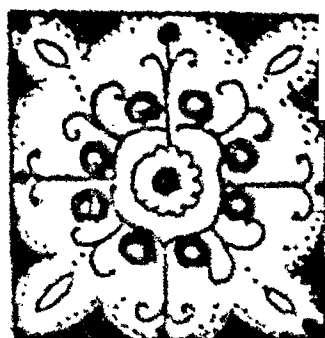
समता : व्यक्ति और समाज के संदर्भ में

□ श्री शान्तिचन्द्र मेहता

प्रकृति की गोद से एक बालक नग्न जन्म लेता है, किन्तु बालक की माता उसे वस्त्र पहनाती है—अन्य प्रकार से सजाती और संवारती है। इसे ही संस्कारिता कहते हैं। संस्कार वे, जो संसर्ग से प्राप्त होते हैं। प्रकृतिदत्त प्रतिभा एक बात होती है तो संस्कारजन्य गुण उस प्रतिभा को सन्तुलित एवं समन्वित बनाते हैं। एक मेंहदी का पौधा जंगल में लगता है जिसे कोई काटता-छांटता नहीं तो वह बदरूप और बेडोल तरीके से बढ़ता जाता है, परन्तु यदि वही पौधा किसी उद्यान में है तो उसे समान रीति से काट छांटकर व्यवस्थित ही नहीं बनाते, बल्कि उससे विभिन्न प्रकार की आकृतियाँ बनाकर उसे सुन्दर तथा दर्शनीय भी बना देते हैं। प्रकृति उसे पल्लवित करती है, किन्तु मनुष्य उस पौधे को इस रूप में संस्कारित बनाकर सुदर्शनीय बना देता है।

कृति प्रकृति की : सुघड़ता मनुष्य की !

संस्कार जैसे भी हों, वे एक प्रकार की संस्कृति का निर्माण करते हैं। श्रेष्ठ संस्कारों से जिस प्रकार की संस्कृति का तत्कालीन समग्र वातावरण के प्रभाव में जो निर्माण होता है, वस्तुतः उसे ही संस्कृति का नाम दिया जाता है तथा वैसी संस्कृति अपनी प्रभावोत्पादकता के अनुसार जन समुदाय का भावी मार्ग-दर्शन करती रहती है।

मनुष्य स्वयं प्रकृति की कृति माना जाता है और इसी प्रकार ज्ञान एवं विज्ञान की सारी उपलब्धियाँ मूलतः प्रकृति की ही देन होती हैं, फिर भी मनुष्य अपनी चेतना शक्ति से स्वयं

का तथा ज्ञान, विज्ञान एवं पदार्थों का जो विकास सम्पादित करता है, वह अवश्य ही उस की निर्मातृ शक्ति का सुफल माना जाना चाहिये। यह निर्मातृ शक्ति उसके युग की तथा उसकी स्वयं की संस्कारिता पर ही आधारित होती है। मनुष्य जीवन जिस प्रकार चेतन एवं जड़ शक्तियों का सम्मिलित एवं समन्वित रूप होता है, उसी प्रकार मनुष्य अपनी संस्कृति से संसार की समस्त चेतन एवं जड़ शक्तियों को प्रभावित भी बनाता है।

संसार के महापुरुष अपने विशिष्ट जीवन निर्माण के बल पर सुसंस्कारों की ऐसी अजस्र धारा प्रवाहित करते हैं जो एक उन्नायक संस्कृति का स्वरूप धारण करके एक नई सभ्यता को जन्म देती है और ऐसी सभ्यता सम्पूर्ण मानव-जाति का आने वाले कई युगों तक पथ निर्देश करती है। ऐसा दर्शन-प्रवाह और उसके सिद्धान्त-सीकर मानव मन को शान्ति व सुख प्रदान करते हैं। ऐसे सिद्धान्तों का शिरोमणि है समता का सिद्धान्त, जिसके अनुसरण से व्यक्ति एवं समाज के जीवन में समरसता का संचार किया जा सकता है।

समता की संकल्प-धारा एवं मानव संस्कृति का विकास :

विश्व के प्राणी समूह में सर्वाधिक विवेकशील प्राणी मनुष्य होता है और इस दृष्टि से वह केवल प्रकृति की ही लीक पर नहीं चलता, बल्कि उस लीक को सुधारता और बदलता भी है। प्रकृति ने आकृति, ध्वनि या स्वभाव में किन्हीं भी दो मनुष्यों को समान नहीं बनाया, किन्तु मनुष्य के मन में प्रारम्भ से यह भावना जगी कि वातावरण तथा व्यवहार में सामान्य रूप से उसके और उसके साथियों के बीच समानता बने और बनी रहे।

मानव जाति के विकास के वैज्ञानिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि समता की संकल्प-धारा मनुष्य के मन में बहुत पहले फूटी तथा उस धारा को वेगवती बनाने के लिये वह निरन्तर संघर्ष करता चला आ रहा है। आदिम मानव को शुद्ध रूप से प्रकृति का आश्रय जब तक प्राप्त था, उस समय मातृ सत्ताक युग था और सामान्य रूप से सबके बीच समानता का ही वातावरण था। किन्तु जब मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिये अपना ही साधन पकड़ना पड़ा तो उस समानता के वातावरण में व्यवधान पैदा होने लगे।

तब एक या दूसरे रूप में अर्थ मनुष्य का नियंत्रक बनने लगा। पशु-पालन एवं कृषि के कर्म-क्षेत्र में जो मनुष्य ने प्रवेश किया तो वह विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों में गुजरता हुआ आज जिस बिन्दु तक पहुँचा है, वह बहुत ही [illegible] स्थान है। आर्थिक नीति का जिस रूप में उत्थान हुआ है, उसने सामन्तवाद से लेकर पूंजीवाद तथा [illegible] के माध्यम से दुनियाँ को

विभीषिकाओं में मनुष्य को उलझाया है तो दूसरी ओर ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्रों में मानव-मस्तिष्क को इतना विकसित भी बनाया है कि वह अपने समता-संकल्प को सुदृढ़ बनाकर कार्यान्वित करे तो व्यक्ति एवं समाज में नवनिर्माण की पृष्ठभूमि को पुष्ट भी बना सकता है।

आज तक की मानव संस्कृति के विकास में मनुष्य की समतामय संकल्प धारा ने अपूर्व योगदान किया है। सांसारिक क्रियाकलापों में राजनीति, अर्थनीति एवं समाजनीति की त्रिवेणी बड़ा असर डालती है और इस दिशा में आगे बढ़ते रहने के लिए मनुष्य बराबर जूझता रहा है। राजतंत्र के विरुद्ध लोकतंत्र की स्थापना का इतिहास छोटा नहीं है। विभिन्न देशों में जनता ने लोकतंत्र की वेदी पर बहुत बलिदान किया है और राजनैतिक क्षेत्र में मताधिकार एवं शासन संचालन के रूप में समानता की प्रतिष्ठा की है। अब उसी लोकतंत्र को जीवन पद्धति का रूप देकर आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में जो प्रमुखता दी जाने लगी है, उसका एक मात्र अभिप्राय यही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच न सिर्फ राजनीति के क्षेत्र में, बल्कि समग्र रूप से वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में सभी प्रकार के भेदभावों की दीवारें टूट जांय तथा समता का वातावरण प्रसारित हो जाय।

भारतीय संस्कृति में समता के बीज रहे हुए हैं और चूंकि उनका मूल उद्गम स्थान आध्यात्मिक स्रोत रहा है, वे अपने प्रभाव के न्यूनाधिक होते रहने के बाद भी फिर-फिर फूटते हैं और पल्लवित होते हैं। भारत में श्रमण संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता रही है और इस संस्कृति ने मानव सभ्यता के विकास में पर्याप्त रूप से सबल सहयोग दिया है।

व्यक्ति के लिये समता का मार्मिक मोल :

यह मनुष्य के मन की प्रकृतिदत्त वांछित वस्तुस्थिति है कि वह सबके सामने सबके समान समझा जाय। संस्कारों की बात यह है कि वह भी सबको समान समझे और सबको अपने अनुरूप माने। संस्कारहीनता हम उसे कहते हैं कि वह सबको अपने समान समझने में चूक करता है। समुन्नत संस्कृति का प्रभाव यह होना चाहिये कि वह उस चूक को सुधारे।

वस्तुतः समाज व्यवस्था का आधार अर्थ होने के कारण व्यक्ति का विचार व आचार भी अधिकांशतः अर्थमूलक बन जाता है। इससे मनुष्य की प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति पर स्वार्थ छाया हुआ रहता है। कई बार वैचारिक दृष्टि प्रबुद्ध हो जाने पर भी वह स्वार्थ को अपने आचरण से नहीं हटा पाता है और उसके व्यवहार में दोहरापन आ जाता है। जीवन के दोहरे मानदंड अति सामान्य हो जाते हैं। इसी मानसिकता का दुष्परिणाम होता है कि वह अपने

साथ तो समान व्यवहार चाहता है, लेकिन दूसरों के साथ समान व्यवहार रख नहीं पाता है।

मनुष्य मन की इसी दुर्बलता को दूर करना और उसे समता का सुष्ठु पाठ पढ़ाना आज की प्रमुख समस्या मानी जानी चाहिये। समता के एकरूप स्वरूप को उसके जीवन में उतारना—यही समता सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य है।

व्यक्ति के लिये समता मार्मिक मोल माना गया है। वह कष्ट सहन कर सकता है सबके लिये समता के आधार पर, परन्तु विषमता सहन करना उसके लिये असह्य सा हो जाता है। एक छोटे से उदाहरण से इसे स्पष्ट करता हूँ। चार व्यक्ति समझिये कि आपके यहाँ भोजन करने के लिये आए। चारों को आपने एक पंक्ति में बिठा दिया, लेकिन एक की थाली में आपने चार मिठाइयाँ परोसी, दूसरे की थाली में एक हलकी सी मिठाई रखी, तीसरे की थाली में सिर्फ गेहूँ की रोटी रखी तो चौथे की थाली में आपने वैसी रोटी भी न रखकर सूखी मक्की, बाजरे की रोटी रख दी। अब चारों की मनोदशा की कल्पना कीजिये कि वे खाना खा पायेंगे या किस प्रकार खा पायेंगे ? इसके स्थान पर यदि आप चारों को सूखी मक्की, बाजरे की रोटी रख देते हैं तो उस मनोदशा में क्या अन्तर पायेंगे ? यह जरा गहराई से समझने की बात है।

इस मनोदशा को जो स्वस्थ रीति से अध्ययन कर लेता है, निश्चित मानिये कि वह समता के सिद्धान्त का भी आन्तरिक मूल्यांकन करना सीख लेता है। व्यक्ति का ऐसा प्रशिक्षण ही संसार के समस्त वादों तथा समग्र दार्शनिक धाराओं का ध्येय माना गया है। समता के मार्मिक मोल को दोनों किनारों से समझ लिया और आचरण में उतार लिया तो यह मानना चाहिये कि जीवन में एक अति महत्त्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त हो गई है।

समता बाहर हो, समता भीतर हो !

मनुष्य के लिये बाहर का संसार जितना सीमित होता है, उसके भीतर का संसार उतना ही व्यापक एवं असीम होता है। तो समता बाहर हो और उससे भी अधिक आवश्यक है कि समता उसके भीतर व्याप्त हो जाय। बाहर की समता को लाने और पुष्ट बनाये रखने में भीतर की समता सदा सहायक होती है।

समता बाहर कैसे हो ? बाहर का संसार वही है जो दृश्यमान और स्पर्शमान है। इसे हम भौतिक संसार कह सकते हैं क्योंकि वस्तुओं के मूल- [illegible] को ही देखा जा सकता है। सामाजिक व्यवस्था की जो बात [illegible] [illegible] भौतिक [illegible] के समाजवाद, साम्यवाद आदि जो वाद हैं, उनके पीछे

यही भावना है कि समाज के सभी राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में समानता पैदा हो। यह सर्वमान्य स्थिति बन गई है कि अर्थ के प्रभाव से मनुष्य-मन को जितना मुक्त किया जा सकेगा और बाह्य वातावरण के अर्थाधार को जितना कम किया जा सकेगा, उतनी ही समानता सबके बीच गहरी हो सकेगी। चाहे गांधीवाद को ही ले लें—आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के पीछे उसका भी यही ध्येय है। अर्थ का केन्द्रीकरण एवं अर्थ संचालन की शक्ति जितने कम हाथों में सिमटती है, स्वार्थ की भावना सब में उतनी ही भयावह बनती जाती है। इस दृष्टि से समाज व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन के उपाय चल रहे हैं जिनके माध्यम से आर्थिक विषमता कम करने और सबके लिये मूलभूत आवश्यकताओं को पूरी करने की चेष्टा है। ये उपाय जितने सफल होते जायेंगे, मानना चाहिये कि उस रूप में बाहर की समता प्रतिष्ठित होती जायगी।

परन्तु समता भीतर में हो—यह सभी स्थितियों में आवश्यक है। भीतर की समता को ही हम वैचारिक समता और उससे भी ऊपर आध्यात्मिक समता की संज्ञा देते हैं। मन में समता का अनुभाव जब समाविष्ट हो जाता है तो वही अनुभाव वाणी और कर्म में उतर कर बाहर की समता का एक ओर सृजन करता है तो दूसरी ओर आन्तरिक समता को सभी क्षेत्रों में प्रोत्साहित बनाता है। यह भीतर की समता पकड़ी नहीं जाती, बाहर से बनाई नहीं जाती, बल्कि साधी जाती है। विचार और आचार की निरन्तर साधना से ही भीतर की समता पैदा होती और पनपती है। जो एक बार भीतर की समता का शान्ति एवं सुखमय रसास्वादन कर लेता है, वह फिर उस समता के संरक्षण एवं संवर्धन से विलग कभी नहीं होता।

आन्तरिक समता जब भीतर में पुष्ट बनकर बाहर प्रकट होती है तो वही करुणा, दया, सहानुभूति, सौहार्द्र, सौजन्य, सहयोग आदि सहस्त्र धाराओं में प्रसारित बनकर सम्पूर्ण विश्व के समस्त प्राणियों के लिये मंगलमय बन जाती है। वह कोटि-कोटि हृदयों को सुखद स्पर्श देती है तो उनमें सुखद परिवर्तन लाने की प्रेरणा भी। तब समता बाहर और समता भीतर समान रूप से निखर जाती है।

समता का संचार—व्यक्ति और समाज के संदर्भ में :

व्यक्ति-व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है और व्यक्तियों का सामूहिक संगठन ही तो समाज कहलाता है। इस रूप में व्यक्तियों का चारित्र्य ही सामाजिक चारित्र्य के स्वरूप में प्रतिबिम्बित बनता है। इसके बावजूद भी व्यक्ति की एकाकी शक्ति से उसकी सामूहिक शक्ति का एक पृथक् प्रकार से अवश्य ही विकास हो जाता है। एकाकी शक्ति का आधार जहां स्वेच्छा होती

है जो बिगड़ और बदल भी सकती है, किन्तु सामाजिक शक्ति (सामूहिक शक्ति) का आधार कुछ ऐसे नियत एवं निश्चित नियमोपनियम बनते हैं, जिन्हें तोड़ना या बदलना एक व्यक्ति के वश की बात नहीं होती। इस सामूहिक शक्ति को हम सामाजिक अनुशासन कह सकते हैं।

व्यक्ति की शक्ति से भिन्न यह सामाजिक शक्ति व्यक्ति को ही मुख्य रूप से नियंत्रित एवं सन्तुलित बनाये रखती है। व्यक्ति सही रास्ते से नहीं भटके और उस रास्ते पर बेरोकटोक आगे-से-आगे बढ़ता हुआ चल सके—यही इस सामाजिक शक्ति का सम्बल उसे मिलना चाहिये।

तो व्यक्ति और समाज के संदर्भ में जब समता के संचार की बात हम कहते हैं तो इस रूप में पृष्ठभूमिका को हम समझ लें। एक भौतिक-दार्शनिक हॉब्स ने कहा था कि "मैन इज वाल्फ बाई नेचर"। प्रकृति से मनुष्य भेड़िया होता है—ऐसा उन्होंने मनुष्य की भीषण स्वार्थ वृत्ति के कारण कहा और वास्तव में मनुष्य की अनियंत्रित स्वार्थ वृत्ति क्या गजब नहीं ढा सकती है? अभी-अभी भारतीयों ने सत्ता स्वार्थ का भयानक रूप विगत उन्नीस माह में देखा है। स्वार्थ छोटे रूप से इतना विशाल बन जाता है कि वह विश्व युद्ध के रूप में फूटकर भयंकर उत्पीड़न का कारण बन सकता है। व्यक्ति के इसी स्वार्थ पर आज अधिक-से-अधिक सामाजिक नियंत्रण की मांग है, बल्कि लोकमत यह बनता जा रहा है कि सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार की ही समाप्ति कर दी जाय—न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।

व्यक्ति और समाज के संदर्भ में समता के संचार का स्पष्ट अभिप्राय है कि व्यक्तिगत स्वार्थों को समाप्त किया जाय तथा सामाजिक हितों को बढ़ावा दें। ऐसा करने से बाहर समता का वातावरण बनेगा और उसके माध्यम से जन समुदाय के भीतर की समता प्रेरित होगी। सदाशयता का व्यवहार पाकर सदाशयता उभरती है—यह एक निश्चित तथ्य है।

सामाजिक एवं वैयक्तिक शक्तियों का सन्तुलन तथा समरसता :

जैसा कोई मौत की दीवार पर साइकिल चलाता है, वैसी ही जीवन की गति होती है। जिसमें का चलना पग-पग पर और सन्तुलन बनाकर चले तो पार हो सके। सन्तुलन का अर्थ है सम्भल-सम्भल कर चलना और इस तरह [illegible] कि वह स्वयं किसी को चोट नहीं पहुँचावे, अपनी गति को [illegible] और दूसरों की गति को अवरोधित न करता रहे। बिल्कुल [illegible] के लिए [illegible] है, अतः वैयक्तिक एवं सामाजिक शक्तियों के बीच [illegible] स्थापित हो जाय।

व्यक्ति अपनी गुणवत्ता के आधार पर समता की भावना से समाज के नव निर्माण में प्रवृत्त हों तो समाज की सामूहिक शक्ति इस दृष्टि से जागृत बन जाय कि कोई व्यक्ति अन्य व्यक्ति को दमन तथा शोषण का शिकार न बनावे तथा उसके स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया में अन्य व्यक्ति अनुचित बाधाएँ उपस्थित न कर सकें। व्यक्ति समाज से सन्तुलित हो तथा समाज व्यक्ति की प्रवुद्धता एवं आचरणशीलता से। इस सन्तुलन से शक्ति-संघर्ष मिट जायगा तथा पारस्परिक सहयोग का क्रम बन जायगा।

सामाजिक एवं वैयक्तिक शक्तियों के सन्तुलन से वाह्य एवं आन्तरिक समता के सृजन में व्यापक सहयोग मिलेगा और उस वातावरण से सामान्य रूप में नैतिकता, शान्ति एवं सुख की छाया फैल जायगी। वाहरी शान्ति तथा वाहरी सुख भीतर तक पैठ कर अपनी वास्तविकता को प्राप्त करने लगेंगे और समग्र जीवन में समरसता व्याप्त होने लगेगी।

समरस जीवन विचार एवं आचार की एकरूपता से अभिव्यक्त होता है और ऐसी एकरूपता सर्वांगीण समता से उपलब्ध बनती है। सर्वांगीण समता की सृष्टि व्यक्ति एवं समाज दोनों के संयुक्त प्रयत्नों से ही की जा सकती है एवं उसके लिये दोनों की शक्तियों के बीच एक स्वस्थ सन्तुलन की नितान्त आवश्यकता है। यह सन्तुलन संघर्ष एवं साधना का विषय है। संघर्ष वैसा नहीं, जिस रूप में हम समझते हैं, वल्कि संघर्ष करना होगा विषमता से—विषमता के कीटाणुओं से और वह भी अपना आत्म भोग देकर। त्याग और वलिदान की परम्पराओं पर चलकर जव प्रवुद्ध व्यक्ति अपने विशिष्ट आदर्शों के वल पर समाज को एक नया मोड़ देते हैं तो वैसा संघर्ष दुर्वल व्यक्तियों को भी अनुप्राणित करता है तथा एक स्वस्थ समतापूर्ण सामाजिक शक्ति के निर्माण में सहायक वनता है। अतः यह संघर्ष साधना का ही एक प्रतिरूप माना जाना चाहिये। साधना सदा आत्मिक गुणों के धरातल पर पल्लवित और पुष्पित होती है तथा विशिष्ट व्यक्तियों की साधना ही सामाजिक वातावरण में सामान्य रूप से समता की स्थापना कर सकती है। तव सामाजिक समता विषमता से पीड़ित व्यक्तियों को उत्थान मार्ग की ओर प्रगतिशील वना सकेगी।

समता का भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप :

विश्व एवं मनुष्य-मन की विविध परतों को उघाड़ कर देखें तो प्रतीत होगा कि भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप एक ही सिक्के के दो वाजू हैं—ये दोनों पृथक् नहीं हैं। दोनों का समन्वित रूप एक दूसरे का सम्पूरक होगा। संसार की भौतिकता में यदि आध्यात्मिकता का अनुभाव न हो तो मनुष्य इतना अनैतिक, इतना विधर्मी-कुमार्गी तथा इतना स्वार्थी हो जायगा कि उसे समाज की भयावहता का

अनुमान लगाना भी कठिन होगा। किसी-न-किसी रूप में रही हुई आध्यात्मिकता ही उद्दाम भौतिकता पर नियंत्रण करती रहती है। इसी से व्यवस्था का क्रम बना रहता है। यह आध्यात्मिकता जितने अंशों में प्रबल बनती जाती है, वैयक्तिक एवं सामाजिक चारित्र्य का उच्चतर विकास होता रहता है।

समता के भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप पर भी जब विचार करें तो यह मानना होगा कि मनुष्य की भौतिक परिस्थितियों में भी समता इस रूप में प्रतिष्ठित बने कि उससे भौतिकता के प्रति ममता घटे तथा समता का आध्यात्मिक स्वरूप अधिकतम रूप में विकसित बने। जीवन-निर्वाह के लिये पदार्थ आवश्यक हैं, उन्हें ग्रहण करना पड़ेगा अतः भौतिक समता का अर्थ है कि ये पदार्थ सबको समानता के आधार पर सुलभता से उपलब्ध हों किन्तु इस तरह की विषमता न रहे कि उससे तृष्णा फैले या स्वार्थ भड़के। समता का आध्यात्मिक स्वरूप इस तृष्णा तथा स्वार्थ का ही अन्त नहीं करेगा बल्कि प्राप्त पदार्थों के प्रति भी तटस्थता का भाव पैदा कर देगा। प्रलुब्धता नहीं तो विकार नहीं और निर्विकार स्थिति ही समता की परम पुष्टि करती है। यही समता अपने सम्पूर्ण विकास में सिद्धात्माओं से समता स्थापित कराती है तथा आत्मा को परमात्मा बना देती है।

समता का सर्वोच्च आध्यात्मिक स्वरूप ही सिद्ध होना है—निर्वाण प्राप्त करना है, जिसे ही आत्मोन्नति का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। यही लक्ष्य इस आत्मा का आदर्श है और इस आदर्श को प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम है समता। समता बाहर और समता भीतर—समता भौतिक और समता आध्यात्मिक तथा समता विचार में और समता आचार में। सर्वत्र समता जब व्याप्त होगी तब संसार सच्चे अर्थों में सिद्धावस्था की कर्मभूमि बन जायगा।

समता-समाज की परिकल्पना :

समता सर्वत्र एवं सर्वथा व्याप्त हो—इसके लिये प्रयोग की आवश्यकता होगी। आदर्श के प्रकाश स्तंभ स्थापित करने होंगे, जिन्हें देखते हुए जीवन के जहाज सही दिशा में चलें। समाज में सदा ही प्रबुद्ध एवं विशिष्ट व्यक्ति अपने जीवन के आदर्शों से दिशा निर्देश देते हैं और समाज के अन्य सदस्य उनका अनुसरण करके एक सहज वातावरण का निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से एक ऐसे समता-समाज की परिकल्पना करें जो अपने विचार और आचार से सम्पूर्ण समाज को इस दिशा में चलने के लिये प्रेरित कर सके।

यह परिकल्पना आचार्य श्री जवाहरलालजी म० सा० तथा आचार्य श्री गणेशलालजी म० सा० के मौलिक विचारों के आधार पर बनाई गई है। समता समाज की स्थापना के सम्बन्ध में समान विचार करने वाले लोग इसके कार्यक्षेत्र का एक

रूप में निर्धारण करें कि उनका अपना समाज सारे समाज का पथ प्रदर्शन करे। इस तरह समता समाज का विस्तार होता जावे और समता का सही दृष्टिकोण अधिकतम लोगों के विचार एवं आचार में समाता रहे। इस दृष्टि से समता समाज में विकासोन्मुखता के स्तर से तीन श्रेणियाँ रखी जाय—समतावादी, समताधारी एवं समतादर्शी। पहली श्रेणी उन लोगों की जो समता के सही स्वरूप को समझलें, उसका प्रचार करें तथा उसे जीवन में उतारने की आकांक्षा रखें। ये लोग समता समाज के समर्थक होंगे और अपनी वर्तमान परिस्थितियों को इस रूप में ढालने की चेष्टा करते रहेंगे कि वे दूसरी श्रेणी में प्रवेश कर सकें। दूसरी श्रेणी उन लोगों की हो जो समता को अपने जीवन में समाविष्ट करने की प्राथमिक तैयारी करलें तथा उस पर आचरण प्रारंभ करदें। सर्वांगतः वे समता के साधक बन जायं, जिससे वे समतावादी से समताधारी बन सकें। तीसरी श्रेणी वह आदर्श श्रेणी होगी जिसमें प्रवेश करने वाला एक प्रकार से वीतराग हो जायगा। वह स्वयं समता का प्रतीक ही नहीं बन जायगा, बल्कि समता भाव से ही सबको देखेगा—उसका आत्म-स्वरूप सारे संसार में व्याप्त होकर व्यष्टि को समष्टि का रूप दे देगा। इस प्रकार साधना की ये तीन श्रेणियाँ समता की प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक प्रक्रिया को सफल बना सकेंगी। इन तीनों श्रेणियों के आचरण में समता का अविकल स्वरूप भी स्पष्टतः अंकित हो जाता है।

वर्तमान विषमताजन्य विश्व का मुख्य लक्ष्य होना चाहिये—समता एवं समता की ही वैचारिकता तथा चारित्र्यशीलता से सभी प्रकार की विषमताओं को समाप्त करके जीवन के सभी रूपों एवं सभी क्षेत्रों में समरसता एवं सुखद शान्ति का संचार हो सकता है। आइये, हम सभी सच्चे मन से समता के साधक बनें तथा समता के साधकों को अपनी सच्ची श्रद्धांजलि समर्पित करें।

१०
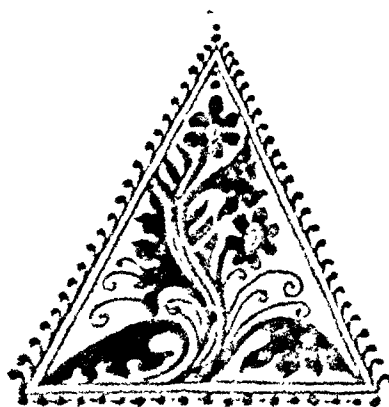
समता दर्शन : युग की मांग

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

समता शब्द 'सम' का भाववाचक रूप है। सम का अर्थ है बराबर और समता का अर्थ है बराबरपन। बराबरपन या बराबरी का अभिप्राय है यथातथ्य जैसा होना चाहिये वैसा होना। जहां बराबरी की स्थिति नहीं है, ऊँचापन-नीचापन है, छोटापन-बड़ापन है, न्यूनता-अधिकता है, वहां विषमता है। विषमता विरोध की, द्वन्द्व की द्योतक है। जहां विरोध है, द्वन्द्व है वहां संघर्ष का जन्म होता है। संघर्ष से अशांति और अशांति से दुःख की उत्पत्ति होती है। समता से शांति और शांति से सुख की उत्पत्ति होती है। अतः जीवन के हर क्षेत्र में जहां समता है वहां शांति व सुख है और जहां विषमता है वहां अशांति व दुःख है।

जीवन के दो अंग हैं—आंतरिक और बाहरी, अतः समता या विषमता भी दो प्रकार की है-आंतरिक और बाहरी। आंतरिक समता या विषमता का सम्बन्ध है आत्मिक व मानसिक क्षेत्र से और बाहरी समता या विषमता का सम्बन्ध है शारीरिक, पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र से।

आंतरिक समता :

आत्मा व मन का घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः आत्मिक व मानसिक समता या विषमता का भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आत्मा भावों का कर्ता है और मन इन भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम या करण है। समता आत्मा का स्वभाव या स्वस्थ अवस्था है और विषमता आत्मा का विभाव व विकारी अवस्था है। राग करना, द्वेष करना, मोह करना, क्रोध करना, मान करना, कपट करना, लोभ करना विषमता है और वीतरागता, निर्वैरता, निर्मोहता, क्षमा, विनम्रता, सरलता व संतोष समता है। मन में कामनाओं, वासनाओं, इच्छाओं, कुंठाओं

का उत्पन्न होना ही विषमता है और निष्काम, निर्वासना, निष्कांक्षा का होना ही समता है। आत्मा और मन में जितनी-जितनी समता बढ़ती जाती है, विषमता घटती जाती है उतनी-उतनी स्वस्थता, शांति व प्रसन्नता बढ़ती जाती है।

बाह्य समता :

समता की आवश्यकता आध्यात्मिक जीवन में जितनी है उतनी ही वैयक्तिक, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक आदि जीवन के क्षेत्रों में भी है। भगवान महावीर ने 'आचारांग' में कहा है कि जैसा अंतर है वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा अंतर है। यह सूत्र प्राणी के आंतरिक व बाहरी जीवन की समानता या एकरूपता के सिद्धांत का द्योतक है। यही सिद्धान्त समता पर भी चरितार्थ होता है। अतः जीवन के बाहरी क्षेत्रों में समता लाना है तो आंतरिक क्षेत्रों में समता लाना ही होगा। वर्तमान में समाज, राष्ट्र आदि बाहरी क्षेत्रों में समता के स्थापनार्थ कानून के सहारे बलात् साम्यवाद या समाजवाद लाया जा रहा है परन्तु वह असफल हो रहा है। इसका कारण यही है कि यह ऊपर से पहनाया गया समता का मुखौटा है, समता का ढांचा मात्र है, समता का आभास होना वास्तविक समता नहीं है। इसी कारण इस समता में से बार-बार संघर्ष का जन्म होता है। अंतर से उद्भूत वास्तविक साम्यवाद या समतामूलक समाज में तो सतत स्नेह, शांति व सुख की त्रिवेणी बहती रहती है। जिसकी पावन-धारा की शीतलता से सर्वदोष, दुःख व द्वन्द्व का ताप शांत हो जाता है।

समता : वैयक्तिक जीवन में :

विषम भाव समस्त दोषों व दुःखों की भूमि है। विषम भाव के रहते कामना, वासना, ममता, अहंता, पराधीनता, आकुलता, संकीर्णता, स्वार्थपरता आदि दोष पनपते-पलते, फलते-फूलते रहते हैं। इन दोषों के कारण व्यक्ति येन-केन प्रकारेण अपना स्वार्थ-सिद्ध करना चाहता है। फलस्वरूप दूसरे व्यक्तियों का शोषण व अहित होने लगता है। जिससे दूसरे व्यक्तियों के हृदय में प्रतिक्रिया-प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती है, जो संघर्ष की कारण बनती है। वह संघर्ष वैयक्तिक रूप से कलह व द्वन्द्व रूप में प्रकट होता है।

समता : सामाजिक क्षेत्र में :

व्यक्तियों के समुदाय से ही समाज का निर्माण होता है। अतः जो गुण-अवगुण व्यक्तियों में होते हैं वे ही गुण-अवगुण उनसे निर्मित समाज में आ जाते हैं। अतः सर्व सामाजिक बुराइयों की जड़ समाज के सदस्यों की स्वार्थ परक संकीर्ण भावना ही है जिसका मूल सम भाव का अभाव व विषम भाव का प्रभाव ही है। विषम भाव से समाज में विषमता का जन्म होता है जिससे समाज में शोषण-उत्पीड़न के भाव को प्रोत्साहन मिलता है। जब तक समाज के सदस्यों के अंतःस्तल का मल समभाव से धुल न जायेगा तब तक सामाजिक व्यवहार में समता

नहीं आयेगी, 'मूंग से मूंग बड़ा नहीं' समाज में समता निर्देशक यह कहावत चरितार्थ नहीं होगी तब तक समाज सुधार के लिए किए गए सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध होंगे और सामाजिक बुराइयां रूप बदल-बदल कर प्रकट होती ही रहेंगी। अतः सामाजिक बुराइयों के निवारण के लिए उसके सदस्यों में समता को स्थान देना होगा।

समता : आर्थिक क्षेत्र में :

आर्थिक समस्याओं का कारण है व्यक्ति, वर्ग, समुदाय या देश की स्वार्थ-संग्रह परक संकीर्ण वृत्ति। स्वार्थ व संग्रह परक वृत्ति का कारण है विषम भाव। जिस व्यक्ति, वर्ग या देश का मुख्य लक्ष्य धन अर्जन करना हो जाता है और वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना, श्रम करना आदि गौण, जब व्यक्ति, वर्ग या राष्ट्र स्वार्थवश सारा लाभ स्वयं ही हड़प लेता है, उसका समीचीन वितरण उत्पादकों में नहीं करता है, न उपभोक्ताओं के हित का ही ध्यान रखता है, तो लाभ श्रम के शोषण व धन के अपहरण का रूप ले लेता है। जब धन का अर्जन श्रम से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर किए जाने के बजाय धन-शक्ति, सत्ता तथा दूसरों की विवशता व दीनता से लाभ उठाकर किया जाने लगता है, तब अप्रत्यक्ष रूप से धन की छीना-झपटी व लूट चलने लगती है। यही आर्थिक समस्याओं का कारण है। जिसका निवारण ऊपर से लादी हुई साम्यवादी या सम्पत्तिवादी आर्थिक प्रणालियों से सम्भव नहीं है और न किसी प्रकार के राजकीय कानून से ही सम्भव है। सम्भव है आंतरिक समभाव से। समभावी व्यक्ति स्वार्थी नहीं—सेवाभावी होता है। उसका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं, अभाव मिटाना होता है, धन उपार्जन नहीं, वस्तु उत्पादन होता है, आदान नहीं, प्रदान होता है। इससे आर्थिक विषमता स्वतः समाप्त होती जाती है और उसकी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति तो आनुषंगिक फल के रूप में अपने आप हो जाती है।

समता : शारीरिक क्षेत्र में :

शारीरिक विकारों व रोगों की उत्पत्ति व अस्वस्थता का कारण है शरीर में स्थित रक्त, मांस आदि में धातुओं में विषमता आजाना। समता से अस्वस्थता दूर होकर स्वस्थता आती है। 'स्वस्थ' शब्द 'स्व' और 'स्थ' इन दो पदों से बना है, जिसका अर्थ है अपने में स्थित होना, सम स्थिति में रहना, समता में रहना। स्वास्थ्य का विवेचन करते हुए श्री विनोबा भावे लिखते हैं —स्वास्थ्य से अभिप्राय, शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य से है। शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है धातु-साम्य रहना और मानसिक आरोग्य का अर्थ है चित्त में समता रहना और मानसिक शांति रहना। [illegible]

का उत्पन्न होना ही विषमता है और निष्काम, निर्वासना, निष्कांक्षा का होना ही समता है। आत्मा और मन में जितनी-जितनी समता बढ़ती जाती है, विषमता घटती जाती है उतनी-उतनी स्वस्थता, शांति व प्रसन्नता बढ़ती जाती है।

बाह्य समता :

समता की आवश्यकता आध्यात्मिक जीवन में जितनी है उतनी ही वैयक्तिक, शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक आदि जीवन के क्षेत्रों में भी है। भगवान महावीर ने 'आचारांग' में कहा है कि जैसा अंतर है वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा अंतर है। यह सूत्र प्राणी के आंतरिक व बाहरी जीवन की समानता या एकरूपता के सिद्धांत का द्योतक है। यही सिद्धान्त समता पर भी चरितार्थ होता है। अत: जीवन के बाहरी क्षेत्रों में समता लाना है तो आंतरिक क्षेत्रों में समता लाना ही होगा। वर्तमान में समाज, राष्ट्र आदि बाहरी क्षेत्रों में समता के स्थापनार्थ कानून के सहारे बलात् साम्यवाद या समाजवाद लाया जा रहा है परन्तु वह असफल हो रहा है। इसका कारण यही है कि यह ऊपर से पहनाया गया समता का मुखौटा है, समता का ढांचा मात्र है, समता का आभास होना वास्तविक समता नहीं है। इसी कारण इस समता में से बार-बार संघर्ष का जन्म होता है। अंतर से उद्भूत वास्तविक साम्यवाद या समतामूलक समाज में तो सतत स्नेह, शांति व सुख की त्रिवेणी बहती रहती है। जिसकी पावन-धारा की शीतलता से सर्वदोष, दु:ख व द्वन्द्व का ताप शांत हो जाता है।

समता : वैयक्तिक जीवन में :

विषम भाव समस्त दोषों व दु:खों की भूमि है। विषम भाव के रहते कामना, वासना, ममता, अहंता, पराधीनता, आकुलता, संकीर्णता, स्वार्थपरता आदि दोष पनपते-पलते, फलते-फूलते रहते हैं। इन दोषों के कारण व्यक्ति येन-केन प्रकारेण अपना स्वार्थ-सिद्ध करना चाहता है। फलस्वरूप दूसरे व्यक्तियों का शोषण व अहित होने लगता है। जिससे दूसरे व्यक्तियों के हृदय में प्रतिक्रिया-प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती है, जो संघर्ष की कारण बनती है। वह संघर्ष वैयक्तिक रूप से कलह व द्वन्द्व रूप में प्रकट होता है।

समता : सामाजिक क्षेत्र में :

व्यक्तियों के समुदाय से ही समाज का निर्माण होता है। अत: जो गुण-अवगुण व्यक्तियों में होते हैं वे ही गुण-अवगुण उनसे निर्मित समाज में आ जाते हैं। अत: सर्व सामाजिक बुराइयों की जड़ समाज के सदस्यों की स्वार्थ परक संकीर्ण भावना ही है जिसका मूल सम भाव का अभाव व विषम भाव का प्रभाव ही है। विषम भाव से समाज में विषमता का जन्म होता है जिससे समाज में छोटेपन-बड़ेपन के भाव को प्रोत्साहन मिलता है। जब तक समाज के सदस्यों के अन्तःकरण का मल समभाव से धुल न जायेगा तब तक सामाजिक व्यवहार में समता

नहीं आयेगी, 'मूंग से मूंग बड़ा नहीं' समाज में समता निर्देशक यह कहावत चरितार्थ नहीं होगी तब तक समाज सुधार के लिए किए गए सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध होंगे और सामाजिक बुराइयां रूप बदल-बदल कर प्रकट होती ही रहेंगी। अतः सामाजिक बुराइयों के निवारण के लिए उसके सदस्यों में समता को स्थान देना होगा।

समता : आर्थिक क्षेत्र में :

आर्थिक समस्याओं का कारण है व्यक्ति, वर्ग, समुदाय या देश की स्वार्थ-संग्रह परक संकीर्ण वृत्ति। स्वार्थ व संग्रह परक वृत्ति का कारण है विषम भाव। जिस व्यक्ति, वर्ग या देश का मुख्य लक्ष्य धन अर्जन करना हो जाता है और वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाना, श्रम करना आदि गौण, जब व्यक्ति, वर्ग या राष्ट्र स्वार्थवश सारा लाभ स्वयं ही हड़प लेता है, उसका समीचीन वितरण उत्पादकों में नहीं करता है, न उपभोक्ताओं के हित का ही ध्यान रखता है, तो लाभ श्रम के शोषण व धन के अपहरण का रूप ले लेता है। जब धन का अर्जन श्रम से वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाकर किए जाने के बजाय धन-शक्ति, सत्ता तथा दूसरों की विवशता व दीनता से लाभ उठाकर किया जाने लगता है, तब अप्रत्यक्ष रूप से धन की छीना-झपटी व लूट चलने लगती है। यही आर्थिक समस्याओं का कारण है। जिसका निवारण ऊपर से लादी हुई साम्यवादी या सम्पत्तिवादी आर्थिक प्रणालियों से सम्भव नहीं है और न किसी प्रकार के राजकीय कानून से ही सम्भव है। सम्भव है आंतरिक समभाव से। समभावी व्यक्ति स्वार्थी नहीं—सेवाभावी होता है। उसका उद्देश्य लाभ कमाना नहीं, अभाव मिटाना होता है, धन उपार्जन नहीं, वस्तु उत्पादन होता है, आदान नहीं, प्रदान होता है। इससे आर्थिक विषमता स्वतः समाप्त होती जाती है और उसकी आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति तो आनुषंगिक फल के रूप में अपने आप हो जाती है।

समता : शारीरिक क्षेत्र में :

शारीरिक विकारों व रोगों की उत्पत्ति व अस्वस्थता का कारण है शरीर में स्थित रक्त, मांस आदि में धातुओं में विषमता आजाना। समता से अस्वस्थता दूर होकर स्वस्थता आती है। 'स्व-स्थ' शब्द 'स्व' और 'स्थ' इन दो पदों से बना है, जिसका अर्थ है अपने में स्थित होना, सम स्थिति में रहना, समता में रहना। स्वास्थ्य का विवेचन करते हुए श्री विनोबा भावे लिखते हैं—'स्वास्थ्य से अभिप्रायः शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य से है। शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है धातु-साम्य रहना और मानसिक आरोग्य का अर्थ है चित्त की समता रहना और मानसिक शान्ति रहना।' तन की स्वस्थता का मन की स्वस्थता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। महात्मा गांधी ने कहा है कि 'नीरोग आत्मा का शरीर नीरोग होता है। नीरोग आत्मा वही होता है जिसका चित्त आसक्ति ग्रस्त या विषम भावों से विक्षुब्ध न हो। समभाव युक्त हो।'

जिसका मन शुद्ध, निर्विकार, नीरोग है उसके पाचक, स्नायु, अस्थि आदि संस्थान भी नीरोग होते हैं। उसका रक्त इतना शुद्ध तथा सक्षम होता है कि वह शरीर में उत्पन्न व प्रवेशमान सभी प्रकार के रोग के कीटाणुओं को परास्त व विध्वंस्त कर देता है। अतः शारीरिक स्वस्थता के लिए मानसिक समता से बढ़कर न तो कोई शक्तिप्रदायिनी दवा है और न रोग विनाशक अमोघ औषधि है।

समता : दार्शनिक क्षेत्र में :

अन्यान्य क्षेत्रों के समान दार्शनिक क्षेत्र में उत्पन्न उलझनों एवं विवादों का कारण भी विषमभाव ही है। जब विचार क्षेत्र में भेदभाव व पक्षपात उत्पन्न होता है और केवल स्व-विचार या अपनी दृष्टि को सत्य मानने या मनवाने का आग्रह होता है तो वह वाद-विवाद या वितंडावाद का रूप ले लेता है। विवाद को विदा करने हेतु शास्त्रार्थ होते हैं परन्तु परिणाम वैमनस्य एवं कटुता के अतिरिक्त कुछ नहीं निकलता है। कारण कि केवल अपने ही सिद्धान्त का, पक्ष का आग्रह रखने वाला व्यक्ति दूसरों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के सत्य पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करना नहीं चाहता है। उसका उद्देश्य अपने ही सिद्धान्त को दूसरों को मनवाना मात्र होता है, समझने का नहीं होता। अतः वह वस्तु तत्त्व को समझ नहीं पाता है।

प्रत्येक तत्त्व वस्तुतः अपने में अनन्त गुण संजोये होता है, जिन्हें समझने के लिए विविध विविक्षाओं एवं अपेक्षाओं का विचार करना आवश्यक है। अतः दुराग्रह को त्याग निष्पक्ष, तटस्थ समदृष्टि से विचार करने पर ही सत्य को समझा जा सकता है। दृष्टि के सम होने पर ही वस्तु या तत्त्व में निहित विविध व विरोधी धर्मों को विविध विविक्षाओं के माध्यम से युगपत देखा जा सकता है। समदृष्टि से देखने को ही दर्शन की भाषा में 'स्याद्वाद' कहा जाता है। स्याद्वाद से सब दार्शनिक मतभेदों का अन्त होकर सत्य प्रकट हो जाता है। इस दृष्टि से समभाव ही विवेक के द्वार खोल, सत्य के जगत् में प्रवेश कराता है।

समता : कर्त्तव्य के क्षेत्र में :

समभावी व्यक्ति संसार के सर्व प्राणियों को अपने समान समझता है। वह सबके हित में ही अपना हित अनुभव करता है। उसके सर्वात्मभाव या आत्मीयता से उदारता व सेवाभाव का उदय होता है। उदारता से करुणा तथा प्रसन्नता की व सेवा से हितकारिता की वृद्धि होती है, जो सब ही के लिए उपयोगी है।

समता आती है तो मन, वाणी तथा शरीर की प्रवृत्तियों में शुद्धता आती है। इनमें एकरूपता व सामंजस्य आता है। मन में कुछ हो, बोले कुछ और करे कुछ और हो, ऐसी विकारी अस्वस्थ स्थिति समता में नहीं रह सकती। जैसे

ताल-स्वर-लय की समता से तन्मयता आती है, वैसे ही मन, वचन-शरीर के कार्यों में समता आने से भी तन्मयता आती है, जिससे अलौकिक सुख प्राप्त होता है। समता का सुख संसार के सारे सुखों से श्रेष्ठ है। समता के पुष्ट होने से सहज भाव आता है जिससे सहयोग, सद्भाव, सहकारिता, स्नेह, उदारता, सामंजस्य, सहिष्णुता आदि मानवी सद्गुण स्वतः आते हैं।

तात्पर्य यह है कि समस्त दोषों, दुःखों, विकारों, विपत्तियों एवं बुराइयों की भूमि विषम भाव है तथा समस्त गुणों, सुखों, सुधारों, सम्पत्तियों एवं भलाइयों की भूमि सम भाव है। सम भाव की भूमि में स्वतः ही निष्कामता, निर्ममता, निस्वार्थता, नम्रता, सरलता, सज्जनता, सहिष्णुता, मानवता, त्याग, सेवा, संयम आदि समस्त गुणों के पौधे पल्लवित, पुष्पित व फलित होते हैं जिनसे स्वस्थता, सम्पन्नता, सफलता, सामर्थ्य एवं सुख की प्राप्ति व अभिवृद्धि होती है।

मानव सम भाव के महत्त्व को स्वीकार कर उसे अपने जीवन में स्थान देगा तब ही सर्व समस्याओं एवं बुराइयों का, चाहे राजनैतिक हों अथवा सामाजिक, पारिवारिक हों अथवा वैयक्तिक, आध्यात्मिक हों अथवा दार्शनिक, नैतिक हों अथवा आर्थिक, शारीरिक हों अथवा मानसिक, निवारण संभव है।

समता के अभाव में आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति तो दूर रही, भौतिक एवं व्यावहारिक क्षेत्रों में भी सुख-समृद्धि व सफलता की प्राप्ति असम्भव है तथा एक मात्र समता ही इन क्षेत्रों में उत्पन्न हुई बुराइयों व दोषों का नाश एवं समस्याओं का समाधान करने में समर्थ है।

११
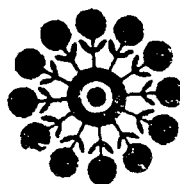
समता का मनोविज्ञान

□ श्री भानीराम अग्निमुख

'पंतं लूहं च सेवन्ति' अर्थात् समत्वदर्शी वीर प्रान्त (जो बचा हुआ है) तथा रुक्ष (जो रसहीन है) का सेवन करते हैं—महावीर की यह बात समता के मनोविज्ञान के उन आयामों को अनावृत्त करती है जिन पर अब तक हमारी दृष्टि नहीं गयी है, लेकिन जिन पर उसका जाना आज आवश्यक है।

इन पंक्तियों में वीरत्व की अवधारणा का क्रांतिकारी रूपान्तरण मिलता है। अब तक की परम्परा में वीरत्व संसार के सारे देशों में, इतिहास के सारे युगों में, सत्ता का प्रतीक था। इतिहास में जो वीर पुरुष माने गये हैं वे सत्ताधारी सम्राट या सामंत थे जो समृद्धि, अधिकार एवं शासन में शीर्षस्थ रहे हैं। सिकंदर हो या सीजर, चंगेजखां हो या तैमूर, इतिहास में वीरत्व की अभिधा से अलंकृत वही हुआ है जो दूसरों को अपने पशुबल से कुचल सका, उन पर अपनी अबाध सत्ता स्थापित कर सका, उनके विद्रोह को दबा सका, उनकी सत्ता तथा संपत्ति का हरण कर सका, अपनी आज्ञा उन पर चला सका।

लेकिन यहां वीरत्व का आदर्श सत्ता नहीं है। वीर समत्वदर्शी है। विषमत्वदर्शी तो कायर है। वह बाहर से सम्पन्न इसलिए बनता जा रहा है क्योंकि भीतर से कंगाल है। वह दूसरों पर अपनी सत्ता इसलिए स्थापित करना चाहता है क्योंकि स्वयं पर अपनी सत्ता स्थापित नहीं कर पाया है। वह दूसरों पर अपनी आज्ञा इसलिए चला रहा है क्योंकि खुद अपनी आज्ञा में चलने में असमर्थ है। भीतर की रिक्तता उसे विश्राम लेने नहीं दे रही है। दूसरों से वह इसलिए लड़ता जा रहा है कि अपना सामना करने की उसमें हिम्मत ही नहीं है। भीतर से खाली है वह और उस खालीपन को देखने का साहस संचित नहीं

कर पाया है स्वयं में। अतः बाहर-बाहर दुनिया भर की चीजें संचित करता जा रहा है।

सिकन्दर को अपने पिता का भी प्रेम नहीं मिला। उसकी मां ओलिम्पिया एक शिथिल चरित्र की स्त्री थी। उसके पिता मेसीडोनिया के सम्राट् फिलिप से उसकी मां की कभी बनती ही नहीं थी। वह सिकन्दर को अपना पुत्र मानता भी नहीं था। उसकी मां नागपूजक थी। उसे सांपों से बेहद प्रेम था। वह तांत्रिक अभिचारों में भाग लेती थी। सिकन्दर संभवतः जारज संतान था। इसलिए वह अपने को जूपीटर देवता का पुत्र मानता था। 'जूपीटर का पुत्र' उसकी उपाधि थी। वह इसे बहुत पसंद करता था। उसका पिता उसे राज्य देना भी नहीं चाहता था। उसकी अकाल मृत्यु होने पर सिकन्दर को राज्य मिला। यह जो प्रेम का अभाव था, जारज संतान होने की हीनता थी, उसी की पूर्ति सिकन्दर सत्ता से करना चाह रहा था। वीरता से अधिक उसमें बर्बरता थी। कारथेज राज्य के विद्रोह करने पर उसने उस राज्य को मिट्टी में मिला दिया। सारे नागरिकों की हत्या करवा दी थी तथा नगर को मटियामेट करवा दिया। फारस का साम्राज्य उन दिनों पतनशील था। उसके आक्रमण के सामने ढह गया। उसने उसकी राजधानी की भी वही दशा की। भारत में भी वह सीमान्त से आगे नहीं बढ़ पाया। उसकी सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। निराश होकर वह लौट पड़ा। रास्ते में ही छाती के एक घाव से तथा अत्यधिक मदिरापान से उसकी बेबीलोनिया में मृत्यु हो गयी। क्या सिकन्दर यही चाहता था? क्या उसने जो किया, वह वीरता का परिचायक था? एक घटना से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व-इतिहास का वह महान् वीर अपने भीतर कितना कमजोर आदमी था।

यूनान में ही सिकन्दर की भेंट डायजिनीज नामक एक दार्शनिक से हुई। डायजिनीज दिगम्बर फकीर था। एक टूटे टब में रहता था। एकदम अवधूत प्रकार का व्यक्ति था। सिकन्दर उससे मिलने आया तो वह न खड़ा हुआ, न एक शब्द ही बोला। सिकन्दर ने कहा—मैं मेसीडोनिया का सम्राट सिकन्दर हूं। उसने कहा तो फिर, तुम चाहते क्या हो? सिकन्दर ने कहा—मैं सारे यूनान को जीतना चाहता हूं। डायजिनीज—फिर? सिकन्दर तब मैं सारे एशिया को जीतूंगा। डायजिनीज फिर? तब मैं सारे संसार को जीतूंगा। डायजिनीज ने पुनः वही प्रश्न किया—फिर क्या करोगे? सिकन्दर ने कहा—फिर तो मैं आराम करूंगा, जीवन का आनन्द लूंगा। डायजिनीज ठहाका मार कर हँसा और बोला तो उसमें तुम्हें अभी क्या दिक्कत है? आराम करने से तुम्हें अभी कौन रोक रहा है? जीवन का आनन्द लेने में तुम्हें अभी क्या बाधा है? जो काम तुम्हें अन्ततः करना ही है वह अभी से क्यों नहीं प्रारम्भ कर दें? सिकन्दर के पास कोई उत्तर नहीं था।

सिकन्दर नहीं जानता था कि वह क्यों, यूनान, एशिया तथा विश्व को जीतना चाहता है। उसके अवचेत की हीनता अपनी तृप्ति के लिए उसके जीवन की ऊर्जा का शोषण कर रही थी। उसमें वीरत्व जैसा कहीं कुछ भी नहीं था। यही स्थिति संसार के सारे तथाकथित वीर पुरुषों की है। सब अपने आप से हारे हुए जुवारी ही थे। सबके अवचेतन में हीनता तथा तज्जनित कुंठाएं भरी थीं जो उन्हें बाहर-बाहर भटकने के लिए, दूसरों से लड़ने के लिए, धन और सत्ता का अम्बार लगाने के लिए बाध्य कर रही थीं, जिसे उनमें से कोई भी नहीं भोग पाया। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि ये सब मन के मरीज थे। उन्हें जीवन में प्रेम नहीं मिला था, सम्मान नहीं मिला था। वे उस प्रेम और सम्मान के भूखे थे। असामान्य मनोविज्ञान की शब्दावली में वे सब 'पेरानोइया' के मरीज थे।

विषमता मन का रोग है। उसके मूल में आत्महीनता है। जो अपने को दूसरों की तुलना में हीन पाता है, वही दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता आरोपित करना चाहता है। जो अपने को सबसे पीछे पाता है वही बाहर के धरातल पर सबसे आगे पहुँचने की कोशिश करता है। जो अपने को दूसरों से नीचा पाता है वही सबसे ऊपर अपने को स्थापित करने के लिए जान लड़ा देता है। इतिहास के तथाकथित वीर इसी मनोरोग के शिकार थे अतः वे विषमता के पोषक हुए। वे वास्तव में वीर नहीं थे। वीर वही है जो अपने से हारा हुआ नहीं, अपने को जीता हुआ है, असने अवचेतन का दास नहीं, अपने अन्तर्मन का स्वामी है, अपनी ग्रन्थियों से बाध्य नहीं, ग्रंथिमुक्त है। वह निर्ग्रन्थ है। इसी कारण वह छोटे और बड़े, ऊंचे और नीचे, बलवान और दुर्बल की आपेक्षिक मनःस्थितियों से मुक्त होता है। निर्ग्रन्थ चित्त ही वीरत्व का धारक है। वही समत्व में प्रतिष्ठित है। विषमता का स्रोत हीनता है, उससे उत्पन्न ग्रन्थियां हैं, उन ग्रन्थियों से स्फुरित व्यवहार है, उस व्यवहार से मंडित जीवन है।

बहुत बार लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति उच्चता ग्रन्थि से पीड़ित है। वास्तव में उच्चता ग्रन्थि या 'सुपीरियरिटी कामप्लैक्स' जैसा कुछ भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में होता ही नहीं। उच्चता 'ग्रंथि' नहीं होती, हीनता-ग्रंथि ही होती है। हीनता ग्रन्थि का शिकार उच्चता का प्रदर्शन करता है। यह व्यवहार हीनता-ग्रन्थि का ही उलटा प्रतिबिम्ब है। जिसे हम बहुधा अभिमानी समझते हैं, वह हीनता-ग्रंथि का रोगी है। अभिमान तो उस रोग का लक्षण है जैसे शरीर का उत्ताप ज्वर का लक्षण होता है। उत्ताप स्वयं ज्वर नहीं होता, वह तो ज्वर की अभिव्यक्ति है। ज्वर तो वहां जहां है शरीर की श्वेत-रक्त-कणिकाएं मलेरिया के जीवाणुओं से लड़ रही हैं। शरीर के उत्ताप को कोई बाहरी उपचार से घटाता भी रहे तो ज्वर से मुक्ति नहीं होती। रोग और विषम हो जाएगा। इसी प्रकार अभिमान से लड़कर हम उसके मूल कारण को, जो हीनता है, मिटा नहीं सकते, उसे और अधिक ही बढ़ाते हैं।

विषमता एक ग्रंथि है। यह हीनता-ग्रंथि है। इस ग्रंथि का उद्गम व्यक्ति द्वारा दूसरों के साथ अपनी तुलना से होता है। इससे वह अपने को किसी के सामने हीन समझता है तथा व्यवहार में दूसरों को अपनी तुलना में हीन प्रदर्शित करता है। दूसरों से तुलना करते ही व्यक्ति अपने आप में एक रिक्तता अनुभव करता है और वह रिक्तता उसमें स्पर्धा को जन्म देती है। यह स्पर्धा प्रतिपल चाबुक की तरह उसके अन्तर्मन पर चोट करती रहती है और वह बाध्य-सा होकर दूसरों से आगे बढ़ने के लिए, दूसरों के ऊपर अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए, अपनी सारी जीवन-ऊर्जा झौंक देता है। ऊपरी तौर पर जो साहस है वह भीतरी तौर पर बाध्यता है, कर्म के स्तर पर जो वीरता है वह मन के भीतर हीनता-ग्रन्थि की चुभन है। वह एक क्षण भी शांति से जी नहीं सकता। एक पर एक युद्ध जीतकर भी अपने भीतर की हार मिटा नहीं पाता। सिकन्दर की तरह वह यूनान जीत कर तृप्त नहीं होता एशिया जीत कर तृप्त नहीं होता, सारी दुनिया को जीतकर भी तृप्त नहीं होता। क्योंकि वह जिससे हारा है उससे तो हारा हुआ ही है। उसे तो वह जीत नहीं पाया। उस का साक्षात्कार करने का साहस भी संचित नहीं कर पाया। वह खुद से हारा है। हीनता आदमी की खुद से हार है। खुद से जीतने पर उसे फिर किसी को जीतने की जरूरत नहीं होती।

ये दूसरों को जीतने की जितनी कोशिशें की जा रहीं हैं, खुद को धोखा देने के असफल प्रयासों के अलावा क्या हैं? हीनता को वहीं जीता जा सकता है जहां आदमी उसके उद्गम को देखे, जो दूसरों के साथ अपनी तुलना है। तब वह पाएगा कि यह तुलना अर्थहीन है। उसकी अपनी मौलिकता है। दूसरों की भी अपनी मौलिकताएं हैं। हर व्यक्ति, हर वस्तु, हर जीव, अपने में अतुलनीय है, मौलिक है, और उस मौलिकता में, उस अद्वितीयता में, उसके अस्तित्व का मर्म छिपा है। तुलना की प्रक्रिया में उस अद्वितीयता, उस मौलिकता और उसमें निहित अपने अस्तित्व के मर्म को भूलने के कारण ही वह अपने में खालीपन, हीनता, और निरर्थकता अनुभव करता है जो व्यवहार के जगत् में स्पर्धा और उससे निष्पन्न विषमता को जन्म देती है।

समत्व उसी चित्त में हो सकता है जो हीनता से मुक्त हो और हीनता से मुक्त वही हो सकता है जो उसके स्रोतों में उनकी चरम गहराइयों तक गया हो और वहां पहुँच कर उस ग्रन्थि के बीजों को जीवन के यथार्थ-बोध की अग्नि में भस्मीभूत कर चुका हो। इसलिए महावीर ने कहा वीर समत्वदर्शी होता है। उसमें न हीनता होती है, न उच्चता होती है। उसके चित्त में स्पर्धा और संघर्ष, बाध्यता और आक्रोश, अभिमान और भय की सत्ता नहीं होती। उस धरातल पर वह अपने को दूसरों के साथ पक्ष और प्रतिपक्ष में बंधा हुआ नहीं पाता बल्कि उनके साथ सामूहिक तथा उनमें से प्रत्येक के साथ वैयक्तिक स्तर पर भी तादात्म्य अनुभव करता है।

सिकन्दर नहीं जानता था कि वह क्यों, यूनान, एशिया तथा विश्व को जीतना चाहता है। उसके अवचेत की हीनता अपनी तृप्ति के लिए उसके जीवन की ऊर्जा का शोषण कर रही थी। उसमें वीरत्व जैसा कहीं कुछ भी नहीं था। यही स्थिति संसार के सारे तथाकथित वीर पुरुषों की है। सब अपने आप से हारे हुए जुवारी ही थे। सबके अवचेतन में हीनता तथा तज्जनित कुंठाएं भरी थीं जो उन्हें बाहर-बाहर भटकने के लिए, दूसरों से लड़ने के लिए, धन और सत्ता का अम्बार लगाने के लिए बाध्य कर रही थीं, जिसे उनमें से कोई भी नहीं भोग पाया। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि ये सब मन के मरीज थे। उन्हें जीवन में प्रेम नहीं मिला था, सम्मान नहीं मिला था। वे उस प्रेम और सम्मान के भूखे थे। असामान्य मनोविज्ञान की शब्दावली में वे सब 'पेरानोइया' के मरीज थे।

विषमता मन का रोग है। उसके मूल में आत्महीनता है। जो अपने को दूसरों की तुलना में हीन पाता है, वही दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता आरोपित करना चाहता है। जो अपने को सबसे पीछे पाता है वही बाहर के धरातल पर सबसे आगे पहुँचने की कोशिश करता है। जो अपने को दूसरों से नीचा पाता है वही सबसे ऊपर अपने को स्थापित करने के लिए जान लगा देता है। इतिहास के तथाकथित वीर इसी मनोरोग के शिकार थे अतः वे विषमता के पोषक हुए। वे वास्तव में वीर नहीं थे। वीर वही है जो अपने से हारा हुआ नहीं, अपने को जीता हुआ है, अपने अवचेतन का दास नहीं, अपने अन्तर्मन का स्वामी है, अपनी ग्रन्थियों से ग्रस्त नहीं, ग्रन्थिमुक्त है। वह निर्ग्रन्थ है। इसी कारण वह छोटे और बड़े, ऊँच और नीच, बलवान और दुर्बल की आरोपित मनःस्थितियों से मुक्त होता है। निर्ग्रन्थ [illegible] का साधक है। वही समता में प्रतिष्ठित है। विषमता का स्रोत हीनता है, उसमें उलझी ग्रन्थियां हैं, उन ग्रन्थियों से स्फुरित अहंकार है, उस अहंकार से [illegible] पोषित है।

[illegible]

विषमता एक ग्रंथि है। यह हीनता-ग्रंथि है। इस ग्रंथि का उद्गम व्यक्ति द्वारा दूसरों के साथ अपनी तुलना से होता है। इससे वह अपने को किसी के सामने हीन समझता है तथा व्यवहार में दूसरों को अपनी तुलना में हीन प्रदर्शित करता है। दूसरों से तुलना करते ही व्यक्ति अपने आप में एक रिक्तता अनुभव करता है और वह रिक्तता उसमें स्पर्धा को जन्म देती है। यह स्पर्धा प्रतिपल चाबुक की तरह उसके अन्तर्मन पर चोट करती रहती है और वह बाध्य-सा होकर दूसरों से आगे बढ़ने के लिए, दूसरों के ऊपर अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए, अपनी सारी जीवन-ऊर्जा झौंक देता है। ऊपरी तौर पर जो साहस है वह भीतरी तौर पर बाध्यता है, कर्म के स्तर पर जो वीरता है वह मन के भीतर हीनता-ग्रन्थि की चुभन है। वह एक क्षण भी शांति से जी नहीं सकता। एक पर एक युद्ध जीतकर भी अपने भीतर की हार मिटा नहीं पाता। सिकन्दर की तरह वह यूनान जीत कर तृप्त नहीं होता एशिया जीत कर तृप्त नहीं होता, सारी दुनिया को जीतकर भी तृप्त नहीं होता। क्योंकि वह जिससे हारा है उससे तो हारा हुआ ही है। उसे तो वह जीत नहीं पाया। उस का साक्षात्कार करने का साहस भी संचित नहीं कर पाया। वह खुद से हारा है। हीनता आदमी की खुद से हार है। खुद से जीतने पर उसे फिर किसी को जीतने की जरूरत नहीं होती।

ये दूसरों को जीतने की जितनी कोशिशें की जा रहीं हैं, खुद को धोखा देने के असफल प्रयासों के अलावा क्या हैं? हीनता को वहीं जीता जा सकता है जहां आदमी उसके उद्गम को देखे, जो दूसरों के साथ अपनी तुलना है। तब वह पाएगा कि यह तुलना अर्थहीन है। उसकी अपनी मौलिकता है। दूसरों की भी अपनी मौलिकताएं हैं। हर व्यक्ति, हर वस्तु, हर जीव, अपने में अतुलनीय है, मौलिक है, और उस मौलिकता में, उस अद्वितीयता में, उसके अस्तित्व का मर्म छिपा है। तुलना की प्रक्रिया में उस अद्वितीयता, उस मौलिकता और उसमें निहित अपने अस्तित्व के मर्म को भूलने के कारण ही वह अपने में खालीपन, हीनता, और निरर्थकता अनुभव करता है जो व्यवहार के जगत् में स्पर्धा और उससे निष्पन्न विषमता को जन्म देती है।

समत्व उसी चित्त में हो सकता है जो हीनता से मुक्त हो और हीनता से मुक्त वही हो सकता है जो उसके स्रोतों में उनकी चरम गहराइयों तक गया हो और वहां पहुँच कर उस ग्रन्थि के बीजों को जीवन के यथार्थ-बोध की अग्नि में भस्मीभूत कर चुका हो। इसलिए महावीर ने कहा - वीर समत्वदर्शी होता है। उसमें न हीनता होती है, न उच्चता होती है। उसके चित्त में स्पर्धा और संघर्ष, बाध्यता और आक्रोश, अभिमान और भय की सत्ता नहीं होती। उस धरातल पर वह अपने को दूसरों के साथ पक्ष और प्रतिपक्ष में बंधा हुआ नहीं पाता बल्कि उनके साथ सामूहिक तथा उनमें से प्रत्येक के साथ वैयक्तिक स्तर पर भी तादात्म्य अनुभव करता है।

सिकन्दर नहीं जानता था कि वह क्यों, यूनान, एशिया तथा विश्व को जीतना चाहता है। उसके अवचेत की हीनता अपनी तृप्ति के लिए उसके जीवन की ऊर्जा का शोषण कर रही थी। उसमें वीरत्व जैसा कहीं कुछ भी नहीं था। यही स्थिति संसार के सारे तथाकथित वीर पुरुषों की है। सब अपने आप से हारे हुए जुवारी ही थे। सबके अवचेतन में हीनता तथा तज्जनित कुंठाएं भरी थीं जो उन्हें बाहर-बाहर भटकने के लिए, दूसरों से लड़ने के लिए, धन और सत्ता का अम्बार लगाने के लिए बाध्य कर रही थीं, जिसे उनमें से कोई भी नहीं भोग पाया। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि ये सब मन के मरीज थे। उन्हें जीवन में प्रेम नहीं मिला था, सम्मान नहीं मिला था। वे उस प्रेम और सम्मान के भूखे थे। असामान्य मनोविज्ञान की शब्दावली में वे सब 'पेरानोइया' के मरीज थे।

विषमता मन का रोग है। उसके मूल में आत्महीनता है। जो अपने को दूसरों की तुलना में हीन पाता है, वही दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता आरोपित करना चाहता है। जो अपने को सबसे पीछे पाता है वही बाहर के धरातल पर सबसे आगे पहुँचने की कोशिश करता है। जो अपने को दूसरों से नीचा पाता है वही सबसे ऊपर अपने को स्थापित करने के लिए जान लड़ा देता है। इतिहास के तथाकथित वीर इसी मनोरोग के शिकार थे अतः वे विषमता के पोषक हुए। वे वास्तव में वीर नहीं थे। वीर वही है जो अपने से हारा हुआ नहीं, अपने को जीता हुआ है, असने अवचेतन का दास नहीं, अपने अन्तर्मन का स्वामी है, अपनी ग्रन्थियों से बाध्य नहीं, ग्रंथिमुक्त है। वह निर्ग्रन्थ है। इसी कारण वह छोटे और बड़े, ऊंचे और नीचे, बलवान और दुर्बल की आपेक्षिक मनःस्थितियों से मुक्त होता है। निर्ग्रन्थ चित्त ही वीरत्व का धारक है। वही समत्व में प्रतिष्ठित है। विषमता का स्रोत हीनता है, उससे उत्पन्न ग्रन्थियां हैं, उन ग्रन्थियों से स्फुरित व्यवहार है, उस व्यवहार से मंडित जीवन है।

बहुत बार लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति उच्चता ग्रन्थि से पीड़ित है। वास्तव में उच्चता ग्रन्थि या 'सुपीरियरिटी कामप्लैक्स' जैसा कुछ भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में होता ही नहीं। उच्चता 'ग्रंथि' नहीं होती, हीनता-ग्रंथि ही होती है। हीनता ग्रन्थि का शिकार उच्चता का प्रदर्शन करता है। यह व्यवहार हीनता-ग्रन्थि का ही उलटा प्रतिबिम्ब है। जिसे हम बहुधा अभिमानी समझते हैं, वह हीनता-ग्रंथि का रोगी है। अभिमान तो उस रोग का लक्षण है जैसे शरीर का उत्ताप ज्वर का लक्षण होता है। उत्ताप स्वयं ज्वर नहीं होता, वह तो ज्वर की अभिव्यक्ति है। ज्वर तो वहां जहां है शरीर की श्वेत-रक्त-कणिकाएं मलेरिया के जीवाणुओं से लड़ रही हैं। शरीर के उत्ताप को कोई बाहरी उपचार से घटाता भी रहे तो ज्वर से मुक्ति नहीं होती। रोग और विषम हो जाएगा। उसी प्रकार अभिमान से लड़कर हम उसके मूल कारण को, जो हीनता है, मिटा नहीं सकते, उसे और जटिल ही बनाते हैं।

विषमता एक ग्रंथि है। यह हीनता-ग्रंथि है। इस ग्रंथि का उद्‌गम व्यक्ति द्वारा दूसरों के साथ अपनी तुलना से होता है। इससे वह अपने को किसी के सामने हीन समझता है तथा व्यवहार में दूसरों को अपनी तुलना में हीन प्रदर्शित करता है। दूसरों से तुलना करते ही व्यक्ति अपने आप में एक रिक्तता अनुभव करता है और वह रिक्तता उसमें स्पर्धा को जन्म देती है। यह स्पर्धा प्रतिपल चाबुक की तरह उसके अन्तर्मन पर चोट करती रहती है और वह बाध्य-सा होकर दूसरों से आगे बढ़ने के लिए, दूसरों के ऊपर अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए, अपनी सारी जीवन-ऊर्जा झौंक देता है। ऊपरी तौर पर जो साहस है वह भीतरी तौर पर बाध्यता है, कर्म के स्तर पर जो वीरता है वह मन के भीतर हीनता-ग्रन्थि की चुभन है। वह एक क्षण भी शांति से जी नहीं सकता। एक पर एक युद्ध जीतकर भी अपने भीतर की हार मिटा नहीं पाता। सिकन्दर की तरह वह यूनान जीत कर तृप्त नहीं होता एशिया जीत कर तृप्त नहीं होता, सारी दुनिया को जीतकर भी तृप्त नहीं होता। क्योंकि वह जिससे हारा है उससे तो हारा हुआ ही है। उसे तो वह जीत नहीं पाया। उस का साक्षात्कार करने का साहस भी संचित नहीं कर पाया। वह खुद से हारा है। हीनता आदमी की खुद से हार है। खुद से जीतने पर उसे फिर किसी को जीतने की जरूरत नहीं होती।

ये दूसरों को जीतने की जितनी कोशिशें की जा रहीं हैं, खुद को धोखा देने के असफल प्रयासों के अलावा क्या हैं? हीनता को वहीं जीता जा सकता है जहां आदमी उसके उद्‌गम को देखे, जो दूसरों के साथ अपनी तुलना है। तब वह पाएगा कि यह तुलना अर्थहीन है। उसकी अपनी मौलिकता है। दूसरों की भी अपनी मौलिकताएं हैं। हर व्यक्ति, हर वस्तु, हर जीव, अपने में अतुलनीय है, मौलिक है, और उस मौलिकता में, उस अद्वितीयता में, उसके अस्तित्व का मर्म छिपा है। तुलना की प्रक्रिया में उस अद्वितीयता, उस मौलिकता और उसमें निहित अपने अस्तित्व के मर्म को भूलने के कारण ही वह अपने में खालीपन, हीनता, और निरर्थकता अनुभव करता है जो व्यवहार के जगत् में स्पर्धा और उससे निष्पन्न विषमता को जन्म देती है।

समत्व उसी चित्त में हो सकता है जो हीनता से मुक्त हो और हीनता से मुक्त वही हो सकता है जो उसके स्रोतों में उनकी चरम गहराइयों तक गया हो और वहां पहुँच कर उस ग्रन्थि के बीजों को जीवन के यथार्थ-बोध की अग्नि में भस्मीभूत कर चुका हो। इसलिए महावीर ने कहा · वीर समत्वदर्शी होता है। उसमें न हीनता होती है, न उच्चता होती है। उसके चित्त में स्पर्धा और संघर्ष, बाध्यता और आक्रोश, अभिमान और भय की सत्ता नहीं होती। उस धरातल पर वह अपने को दूसरों के साथ पक्ष और प्रतिपक्ष में बंधा हुआ नहीं पाता बल्कि उनके साथ सामूहिक तथा उनमें से प्रत्येक के साथ वैयक्तिक स्तर पर भी तादात्म्य अनुभव करता है।

इसके निर्माण होने की आवश्यक एवं पर्याप्त परिस्थितियां एवं इसकी कार्यात्मकता को समझने में, मानी जा सकती है।

कट्टर व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ऐसी मानसिक स्थिति का अध्ययन मनोविज्ञान की सीमा से परे माना जायगा। इनके अनुसार मन मस्तिष्क की ही क्रिया है अतः मस्तिष्क में 'समभाव' स्थिति की प्राक्कल्पना एक ऐसी प्राक्कल्पना होगी जो वैज्ञानिक पद्धति के माध्यम से परखी नहीं जा सकती। 'समभाव' को धर्म व दर्शन में मन या आत्मा की एक ऐसी अवस्था के रूप में माना गया है जो रागद्वेष से रहित हो।[1] मन और आत्मा चूंकि प्रत्यक्ष या परोक्ष निरीक्षण के विषय नहीं हो सकते अतः समभाव भी मनोविज्ञान का विषय नहीं हो सकता। निष्कर्ष रूप से समभाव स्थिति वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति की पहुँच से परे है। हाल ही में कुछ प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के अनुसंधानों से, जिनमें मेडिटेशन के प्रभाव का अध्ययन विभिन्न मनोदैहिक (साइकोफिजियालोजिकल) क्रियाओं पर देखा गया है, इस बात की संभावना है कि भविष्य में शायद समभाव की स्थिति में होने वाली कुछ मनोदैहिक प्रक्रियाओं को पहचाना जा सके।

मनोविश्लेषण सिद्धान्त (साइकोएनालेटिकल थ्योरी) के आधार पर यदि समभाव स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो यह मानना होगा कि मन के तीन भागों (इड, इगो, सुपरईगो) में जो सामान्य अवस्था में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है, वह समभाव स्थिति में समाप्त हो जायगा। इसमें सुपरईगो (नैतिक मन) का 'इड' एवं 'इगो' पर आधिपत्य होगा। व्यक्ति के व्यवहार का नियामक जब सुपरईगो होगा तो संभवतः फ्रायड के अनुसार 'इगो' द्वारा अन्य इच्छाओं एवं वासनाओं का दमन हो जायगा।

इस सीमा तक तो समभाव स्थिति की संभावना इस सिद्धान्त के अनुसार भी सोची जा सकती है परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समभाव स्थिति एक संतुलित मानसिक स्थिति है जबकि 'सुपरईगो' प्रधान स्थिति संतुलित नहीं मानी जा सकती। फ्रायड के अनुसार संतुलन का कार्य 'ईगो द्वारा सम्पन्न होता है। साथ ही इच्छाओं व वासनाओं का दमन, इच्छाओं का मरना या समाप्त होना नहीं है वरन् ये दमित इच्छायें व्यक्ति के अचेतन मन में विद्यमान रहती हैं और अनजाने एवं अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। अतः इस प्रकार की स्थिति जैनदर्शन के अनुसार वीतरागता या समभाव की स्थिति नहीं मानी जा सकती। रागद्वेष से रहित होने का तात्पर्य समस्त प्रकार

१. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा —मुनि नथमल

की वासनाओं से मुक्त होना है। यदि समभाव की स्थिति को प्राप्त व्यक्ति के अचेतन मन में भी इन वासनाओं का स्थान बना रहा तो ऐसा व्यक्ति वीतरागता या कैवल्य की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकेगा। अतः निष्कर्ष के रूप में यही कहा जायगा कि समभाव स्थिति की कल्पना ठीक उसी रूप में, जैसी कि धर्म के द्वारा मानी गई है, मनोविश्लेषण सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानी जा सकती।

परन्तु ऐसा मान लेने पर समभाव की सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। मेरे विचार से यदि समभाव को चेतना की एक परिवर्तीय स्थिति के रूप में स्वीकार करलें तब मनोविज्ञान की कतिपय विचारधाराओं के आधार पर इस स्थिति का अध्ययन सम्भव हो सकता है। ल्युडविग[1] के अनुसार चेतना की परिवर्तीय स्थिति को एक ऐसी मानसिक स्थिति माना जा सकता है जो विभिन्न दैहिक, मनोवैज्ञानिक या भेषज (फार्माकालॉजिकल) घटकों (एजेन्ट्स) के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है और जिसमें व्यक्ति अपने आप को सामान्य अवस्था (नार्मल कान्ससनेश) से अलग अनुभूत करता है। समभाव स्थिति को ऐसी ही विभिन्न चेतना परिवर्तीय स्थितियों में से एक प्रकार का माना जा सकता है। इस स्थिति को प्राप्त करने में विभिन्न मनोदैहिक घटकों का सहारा लिया जा सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार समभाव की स्थिति क्रमशः मोह को सर्वथा उपशान्त कर व्यक्ति को वीतराग[2] बना देती है। वीतरागता को भी उपर्युक्त संदर्भ में हम चेतना का एक परिवर्तीय रूप मान सकते हैं। संभवतः दोनों स्थितियों में हम मात्रात्मक रूप से भेद भी कर सकते हैं अर्थात् समभाव स्थिति से वीतरागता की स्थिति अधिक संतुलित, अधिक समरूप एवं रागद्वेषों से मुक्त होगी। ऐसा मान लेने पर इन स्थितियों का अध्ययन उन वैज्ञानिक विधियों द्वारा संभव हो सकता है जिनके द्वारा 'रहस्यात्मक अनुभवों' (मिस्टीकल एक्सपीरियेंस) का विश्लेषण किया गया है। उदाहरण के लिये डाईकमेन[3] इस प्रकार के अनुभव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है।

---

१. ल्युडविग, ए. एम. : 'आल्टर्ड स्टेट्स आफ कान्सशनेश'; इन चार्ल्स टी. टार्ट (सम्पा०) आल्टर्ड स्टेट्स आफ कान्ससनेश, प्र० जान विली एण्ड संस, न्यूयार्क, १९६९

२. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—मुनि नथमल

३. डाईकमेन, आर्थर जे : 'डि आटोमेटाइजेशन एण्ड मिस्टिक एक्सपीरियेन्स' इन चार्ल्स टी. टार्ट (सम्पा.) प्र०जान विली एण्ड सन्स, न्यूयार्क, १९६९, आल्टर्ड स्टेट्स आफ कान्ससनेश

इस सिद्धान्त को 'डि ग्राटोमेटाइजेशन' के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार प्रत्यक्षीकरण (परसेप्सन) की उत्तेजनाओं (स्टिमुलस) को संगठित, सीमित, चयनित एवं व्याख्यायित करने वाली विभिन्न मनोवैज्ञानिक संरचनाओं (स्ट्रक्चर्स) का डि ग्राटोमेटाइजेशन होने के परिणाम स्वरूप ही हमें रहस्यात्मक अनुभव होते हैं। सरल भाषा में इस सिद्धान्त के अनुसार जो सज्ञानात्मक (कागनीटिव) संगठन, अभ्यास के परिणाम स्वरूप पूर्ण रूप से स्वायत्त हो गया है उसका पुनःसंगठन होता है। यही पुनःसंगठन रहस्यात्मक अनुभवों में निहित होता है।

समभाव की स्थिति में भी इस प्रकार का सज्ञानात्मक पुनर्संगठन होना चाहिये तभी व्यक्ति का पूरा प्रत्यक्षीकरण बदल जाता है और फिर प्रत्येक वस्तु घटना एवं जगत के अन्य व्यापारों के प्रति, मानव की प्रतिक्रिया सामान्य व्यक्ति की प्रतिक्रिया से भिन्न होती है। सज्ञानात्मक पुनर्संगठन की चर्चा गेस्टाल्ट मनोविज्ञान[2] में स्पष्ट स्वीकार की गई है। वस्तुतः इनका सूझ सिद्धान्त (प्रिंसपल ग्राफ इनसाईट) यही बतलाता है कि वातावरण में उपलब्ध समस्या का हल, प्राणी सूझ के आधार पर ही करता है। उपलब्ध विभिन्न घटकों के आपसी सम्बन्धों का यकायक ज्ञान ही सूझ है जोकि सज्ञानात्मक पुनर्संगठन का परिणाम है।

असामान्य मनोविज्ञान (एबनार्मल साइकालॉजी) में जिन विभिन्न मानसिक रोगों के बारे में चर्चा की जाती है वे भी चेतना की परिवर्तीय दशाओं के रूप हैं; परन्तु समभाव, वीतरागता, रहस्यमय अनुभव की परिवर्तित चेतना एवं मानसिक रोगों से होने वाली परिवर्तित चेतना में भिन्नता है। पहले में व्यक्ति का व्यवहार सकारात्मक होता है जबकि दूसरी में नकारात्मक।

समभाव की स्थिति में पहुँचने की अनिवार्य परिस्थितियों के लिये ध्यान की एकाग्रता का अभ्यास, अंतर्मुखी चिंतन, मेडीटेशन आदि क्रियाओं को माना

---

१. यह सिद्धान्त हार्टमेन के स्वायत्तीकरण (ग्राटोमेटाइजेशन) सिद्धान्त पर आधारित है। जिस प्रकार विभिन्न कौशलों (स्किल) के अर्जन में पेशिय क्रियायें स्वायत्त हो जाती हैं, उनमें निहित शारीरिक क्रियाओं का संगठन क्रमशः दृढ़ हो जाता है तथा प्रारम्भ में होने वाली अनेक सहक्रियायें विलुप्त हो जाती हैं। उसी प्रकार मानसिक संरचनाओं के बारे में भी कहा जा सकता है। डि ग्राटोमेटाइजेशन ग्राटोमेटाइजेशन का पुनः समाप्तीकरण माना गया है।

२. मनोविज्ञान का एक सम्प्रदाय—जिसमें व्यवहार के 'सम्पूर्ण' (गेस्टल्ट) अध्ययन पर जोर दिया गया है।

१३

समता : सभी धर्मों का सार तत्त्व

☐ श्री रिषभदास रांका

सभी सयाने एकमत :

संसार के सभी धर्मों, महापुरुषों, सन्तों तथा विचारकों ने मानव समाज को समता का उपदेश दिया है। समता की बात धार्मिक क्षेत्र में तो लागू होती ही है, पर सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी समता आवश्यक है। इसमें जीवन की सभी समस्याओं का समाधान निहित है। जीवन में समता अपनाने के विषय में सभी सयाने एक मत हैं।

कथनी और करनी में अन्तर :

लेकिन देखा यह जाता है कि हजारों वर्षों के उपदेशों के बावजूद जीवन-व्यवहार में विषमता के ही दर्शन होते हैं। "आत्मवत् सर्व भूतेषु" के उपदेश के नीचे धार्मिक जीवन जीने वालों में जब विषमता पाई जाती है, तो धर्म को अफीम की गोली कहकर उसका तिरस्कार करना स्वाभाविक ही है।

दंड द्वारा समता प्रस्थापित करने के प्रयत्न :

जो लोग धर्म को अफीम की गोली कहकर असमता की समस्या सत्ता या दंड द्वारा सुलझाने के लिए निकले थे, उनके द्वारा करोड़ों लोगों की हत्या करने या असंख्य लोगों को यंत्रणा देने पर भी समस्या का समाधान नहीं निकला बल्कि समस्या और भी उलझ गई, तो यह सोचने के लिए विवश होना पड़ा है कि इस समस्या को सुलझाने के लिए धर्म ही सर्वोत्तम उपाय है। समता की समस्या आर्थिक या राजनैतिक से अधिक मानसिक एवं भावात्मक है।

सच्चे सुख का स्रोत :

गहराई से सोचने पर इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि सच्चे सुख का

स्रोत समता है। केवल दूसरों के साथ ही समता का व्यवहार पर्याप्त नहीं है, सर्व प्रथम अपने अन्तर् द्वन्द्वों को दूर करने के लिए समता का आचरण अपरिहार्य है। जब तक हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-स्तुति और मान-अपमान के द्वन्द्व नहीं मिटते, दूसरों के साथ 'आत्मवत् व्यवहार' संभव नहीं होता। यह तभी संभव है जब इन्द्रियों के स्पर्श से होने वाले सुख-दुःख में समता रक्खी जा सके। यही बात 'गीता' कहती है और यही बात भगवान् महावीर के उपदेशों में है। वे कहते हैं कि "यह धर्म नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है। यह मैं कहता हूं, मेरे पहले अनेक जिनों ने कही, आज कह रहे हैं और भविष्य में भी कहेंगे। क्योंकि यही धर्म नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है।"

सर्वोत्कृष्ट मंगल :

महावीर कहते हैं—"हे वादियो ! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय है ? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह सर्व प्राणियों, सर्व भूतों, सर्व जीवों और सर्व सत्वों को दुःख महाभयंकर, अनिष्ट व अशान्ति प्रद है।

जैसे मुझे कोई लाठी, मुष्ठि, कंकर, ठीकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे, तर्जित करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण ले तो मुझे दुःख होता है। जैसे मृत्यु से लेकर रोम उखाड़ने तक का मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सभी भूतों और प्राणियों को होता है—यह सोचकर किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्व को नहीं मारना चाहिए न हुकूमत करनी चाहिए और न परिताप पहुँचाना चाहिए और न ही उद्विग्न करना चाहिए।"

इस विचार के पीछे जो साम्यदर्शन है, वह सहज ही मनुष्य को संयम की ओर ले जाता है। इसलिए जो अपना मंगल चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे अहिंसा धर्म का पालन करें। अहिंसा ही संसार में सर्वोत्कृष्ट मंगल है।

अहिंसा की व्यापकता बताते हुए भगवान् महावीर ने उसके साथ संयम और तप को जोड़ दिया है। अहिंसा, संयम और तप के विना समता का पालन असंभव है।

भगवान् महावीर कहते हैं—"समत्तदंशी ण करेती पावं"। कर्म-संन्यास या कर्मयोग की चर्चा प्राचीनकाल से चली आ रही है। इसमें आसक्ति त्याग कर समत्व धारण करना आवश्यक है।

जैन धर्म ने असंयममय कर्मों के त्याग पर जोर दिया है और 'गीता' आसक्ति या फल त्याग पर जोर देती है। राग-द्वेष युक्त कर्म करना या फल की आशा रखना दोनों ही असंयम हैं।

इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्पर्क न आवे, यह असम्भव है। कानों से शब्द सुने ही न जायें यह असम्भव है। राग से रंजित व द्वेष से दूषित न होना [illegible] है। अन्य जीवों तथा पौद्गलिक पदार्थों के प्रति संयम ही अहिंसा का, समता का मूल आधार है। कहा है 'समया सव्व भूएसु'।

हिंसा के कारण :

हिंसा के कारणों पर 'आचारांग' में कहा है :—

मानव जीवन-सुरक्षा के लिए, प्रशंसा, प्रसिद्धि और कीर्ति के लिए, सम्मान, धनोपार्जन, मनतृप्ति के लिए, पूजा पाने या सत्ता प्राप्ति के लिए युद्धादि प्रवृत्तियां;

जन्म—सन्तान प्राप्ति या भावी जन्म की चिन्ता के कारण, मरण, वैर-प्रतिशोध आदि प्रवृत्तियां,

मुक्ति—दुःख से मुक्ति पाने की इच्छा से अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां,

दुःख प्रतिकार हेतु रोग तथा आतंक दूर करने के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियां।

इन सब कार्यों में होने वाली हिंसा आसक्ति और कषाय के कारण होती है, इसलिए कर्म का शोधन तथा निरोधन आवश्यक माना गया है।

गीता में समता :

जैन धर्म की तरह गीता के सभी क्षेत्रों में समता धारण करने को कहा है। गीता कहती है कि चाहे विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मण हो, चाहे गाय या हाथी हो, चाहे कुत्ता या चांडाल हो, ज्ञानी अथवा समभावी साधक इन सबमें अपने ही दर्शन करता है।

> विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ।। ५-१८

गीता कहती है कि इन्द्रियों के स्पर्श से होने वाले सुख और [illegible] समता रखनी चाहिए क्योंकि इन्द्रिय जन्य सुख-दुःख [illegible]त्य हैं। जो दुःखों से व्याकुल नहीं होता, वही दुःख से मु[illegible] का बनता है।

> मात्रा स्पर्शास्तु कौंतेय शितोष्[illegible]
> आगमापायिनोऽनित्यास्तां स्तिति[illegible]

संसार के सभी विचारक एक मत हैं कि [illegible] तो समता धारण करनी चाहिए।

भेद ही विषमता का कारण :

अपने-पराये का भेद विषमता का मू[illegible]
और परायों के प्रति [illegible]

गीता भी रागद्वेष तज कर समता रखने को कहती है, ताकि इन्द्रियों पर नियंत्रण आ सके, विषयों पर स्वामित्व प्राप्ति हो सके। इससे प्रसन्नता उपलब्ध होती है। प्रसन्नता की प्राप्ति से दुःख दूर होकर बुद्धि स्थिर होती है।

गीता ने दुःख-मुक्ति के लिए कर्म योग, संन्यास, ज्ञान, भक्ति आदि विविध उपाय बताये हैं। चाहे कोई ज्ञानी हो या कर्मयोगी, योगी हो या भक्त, सबके लिए समता अनिवार्य है। इसीलिए विनोबाजी गीता को साम्य योग का शास्त्र कहते हैं।

बौद्ध धर्म में भी समता :

बौद्ध धर्म में भी समता को महत्त्व दिया गया है। बौद्ध धर्म श्रमण, ब्राह्मण या भिक्षु सबके लिए समता को अनिवार्य मानता है। "जो समभाव बरतता है, शान्त, दमनशील, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने दंड त्याग कर रखा है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही भिक्षु :—

अलंकतो चे पि समं चरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सव्वेसु भूतेसु निधाय दण्ड सो ब्राह्मणो समणो स भिक्खु ।।

भगवान् बुद्ध कहते हैं, दंड से सभी डरते हैं। सबको जीवन प्रिय है। अतः अपने समान ही सबका सुख-दुख जानकर न स्वयं किसी को मारे और न अन्य किसी को मारने के लिए प्रेरित करे।

सव्वे तसन्ति दंडस्स सव्वे सं जीवनं पियं।
अन्नान उपमं कत्वा न हेनय्य न घातये।।

आगे चलकर बुद्ध कहते हैं—"सब जीव अपने सुख की कामना करते हैं। इसलिए जो दंड देकर दूसरे की हिंसा नहीं करता, वही सुख की कामना करने वाला परलोक में पहुंच कर सुख पाता है। बौद्ध साधना में भी समता को मंगल-मय धर्म माना गया है।

ईसाई धर्म में समता :

भारतीय धर्मों में तो समता पर जोर दिया ही गया है, किन्तु भारतेतर धर्मों ने भी यही बात अपनी शैली, विचारों तथा रहन की पार्श्वभूमि में कही है। ईसा ने सभी मानवों को भाई समझकर आत्मवत् व्यवहार करने को कहा है। वे कहते हैं, "हमेशा एक दूसरे की भलाई करने का ध्येय रखो।" ईसा की मान्यता थी कि हम सब "ईश्वर के पुत्र हैं।" इसलिए हमें आपस में भ्रातृवत व्यवहार करना चाहिए।

"दूसरों के साथ अपनी तरह प्रेम करना चाहिए।" इस प्रकार दूसरों पर प्रेम करना, दूसरों की भलाई या सेवा करना ईश्वर की सेवा करना है।

एक वार मैंने एक ईसाई धर्म गुरु से पूछा कि आपको मानव सेवा की प्रेरणा कहां से मिलती है । उन्होंने कहा—मानव को भगवान् की संतान मानकर उसकी सेवा में ही भगवान् की सेवा या भक्ति मानते हैं । यों तो सभी को भाई समझकर सबकी समान रूप से सेवा करते हैं लेकिन जो दीन-दु:खी हैं, अभाव ग्रस्त हैं या वीमार हैं, उनकी सेवा की ओर अधिक ध्यान देना प्रभु को अच्छा लगता है, क्योंकि वह भी अपने दुर्वल-कमजोर वच्चे की ही अधिक देखभाल करता है । ईसा के अनुयायी ईसा के प्रति अत्यन्त भक्ति रखते हैं, परन्तु उस भक्ति को वे मानव-सेवा में क्रियान्वित करते हैं, अत: उनके द्वारा मानव सेवा के कठिन से कठिन कार्य सहज होते रहते हैं । कोढ़ियों की सेवा खतरा उठाकर भी वड़े आनन्द के साथ करते हैं । उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं होता, जवकि भारतीय धर्मों ने समता के विषय में शास्त्रशुद्ध और गहरा चिन्तन प्रदान किया है, पर करनी और कथनी में वहुत अन्तर है । भारतीय गहरा जाकर भी केवल विचार तक ही रह गया । विचार जीवन में कम उतरा है ।

मुस्लिम धर्म की समता :

मुस्लिमों ने समता के गुणगान में भले ही वड़े-वड़े ग्रन्थों की रचना न की हो, परन्तु उनके जीवन व्यवहार में समता के स्पष्ट दर्शन होते हैं । कहा जाता है कि कायदेआजम जिना के साथ उनका नौकर या ड्राइवर भोजन के लिए साथ बैठ सकता था । हमारे यहां अपने मालिक के साथ नौकर भोजन करने का साहस नहीं कर सकता । भोजन की वात तो दूर, नौकर का सम्मुख खड़ा रहना तक वर्दाश्त नहीं किया जा सकता । ड्राइवर मोटर में चाहे घंटों बैठा रहे, पर उसको पानी के लिए भी पूछने वाले कम ही मिलते हैं ।

धर्म, ग्रन्थों की शोभा वढ़ाने के लिए नहीं है :

धर्म का उपदेश ग्रन्थों में संग्रह के लिए नहीं है, वह जीवन में उतारने के लिए है । धर्म ने समता को व्यवहार में लाने को कहा है । इसका कुछ प्रभाव मानव जीवन में देखते हैं, पर जब धार्मिक क्षेत्र में विषमता आती है तव राज-नीतिज्ञ व समाज के नेताओं का इस क्षेत्र में हस्तक्षेप अनिवार्य वन जाता है । शासन व सत्ता के वल पर समता लाने के प्रयत्न में त्वरित परिणाम की अपेक्षा रखी जाती है । फलस्वरूप कानून, नियन्त्रण व दंड का सहारा लेना पड़ता है, जिसकी प्रतिक्रिया से दुष्परिणाम आता है । उन दुष्परिणामों के मुकावले धर्मों द्वारा समता लाने के प्रयत्न कम हानिकर और अधिक लाभप्रद हैं क्योंकि धर्म का पालन दवाव से नहीं स्वेच्छा से होता है, इसलिए उन प्रयत्नों में दुष्परिणाम का भय नहीं होता ।

समता जीवन-व्यवहार में उतरे :

समता के क्षेत्र में समता ने अव तक जो किया, उससे अधिक करने की

जरूरत है। मानव जाति को यदि सुख और शान्ति से रहना है तो समता धारण करनी ही होगी। समता को स्वेच्छा से अपनाने के लिए धर्म के सिवा दूसरा कोई उत्तम रास्ता नहीं है। इस दृष्टि से धर्म ने जो कुछ किया, वह कम नहीं है. किन्तु उसे प्रभावशाली बनाने के लिए उस सिद्धान्त को जीवन के हर क्षेत्र में क्रियान्वित करने की जरूरत है। उस की प्रशंसा और बड़ाई करना या उसे श्रेष्ठ समझकर पूजा करना ही काफी नहीं है। यदि मानव जाति को सर्व नाश से बचाना हो तो समता को जीवन-व्यवहार में उतारना धार्मिकों का कर्त्तव्य है' तभी धर्म कल्याणकारी और मंगलप्रद हो सकेगा।

समता रूपी सुधा का पान करने से कषायों का विष निष्प्रभ बन जाता है और जीवन, गंगा की निर्मल धारा की भांति स्वच्छ हो जाता है। ऐसी समता अभ्यास से और आत्मानिष्ठा से उपलब्ध होती है। वर्षों की निरन्तर उपासना, अभ्यास, त्याग और सहनशीलता से समता के दर्शन होते हैं, जीवन सफल और सार्थक बनता है।

समता : श्रमण संस्कृति का मूलाधार

□ श्री पी० सी० चोपड़ा

समता : जैन संस्कृति की आत्मा :

जैन धर्म, जैन दर्शन और जैन संस्कृति समता पर आधारित है। जैसे नींव के ऊपर भव्य प्रासाद का निर्माण हुआ करता है इसी तरह समता की नींव पर जैन धर्म-दर्शन या जैन संस्कृति का महल खड़ा हुआ है। जैन संस्कृति की आत्मा समता है। समता के बिना जैन धर्म निष्प्राण है। समता ही इस श्रमण संस्कृति का मूलाधार है। 'आचारांग' सूत्र में कहा गया है—

"समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइयं"।

आर्य-तीर्थंकर देवों ने समता में धर्म प्रवेदित किया है। समता पर आधारित होने के कारण ही जैन धर्म या संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहा जाता है। भगवान् महावीर का नाम शास्त्रों में जहाँ कहीं उल्लिखित है वहाँ उन्हें 'समणे भगवं महावीरे' कहा गया है। इस 'समण' शब्द में बहुत गम्भीर भाव सन्निहित है। मुख्यतया शमन, समन, और सुमन के रूप में उसकी व्याख्या की जाती है। शमन का अर्थ है—क्रोधादि कषायों को उपशान्त करना। समन का अर्थ है शत्रु-मित्र, स्वजन-परजन की भेदभावना को हटाना और सु-मन का अर्थ है प्रशस्त चिन्तन करना। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करते हैं तो इन सब व्याख्याओं में एक ही मूल तत्त्व परिलक्षित होता है और वह है—समता। क्रोधादि कषायों को शमन करने वाला ही समभाव धारण कर सकता है। कषायवाला व्यक्ति समभावी नहीं हो सकता। जो कषाय को शान्त करता है, वही समभावी हो सकता है, वही प्रशस्त चिन्तन करने वाला हो सकता है, वही

शत्रु-मित्र पर एवं सुख-दुःख में समवृत्ति रख सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि 'समणे' शब्द समता की आराधना को व्यक्त करता है।

समता की साधना :

जैन आराधना का सार समता की साधना करना है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति विषमता से ऊपर उठकर समता की ओर बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वह श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर होता जाता है और परिपूर्ण समता का आराधक अपने सर्वोच्च लक्ष्य-मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है, सिद्ध–बुद्ध हो जाता है और अपने मूल स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

इसी 'समता' का विकास करने के लिए विविध साधनाएँ जैन धर्म में बताई गई हैं। विविध प्रकार के तप, त्याग, विधि-विधान, नियमोपनियम, व्रत, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय, ध्यान आदि क्रियाएँ समता की आराधना के लिए ही हैं। हमारी दैनिक क्रिया प्रतिक्रमण-सामायिक आदि का उद्देश्य भी समता को परिपुष्ट बनाना है। इन क्रियाओं द्वारा यदि समभाव–समता का विकास होता है तो ये सफल कही जाती हैं। यदि इनके करते रहने पर भी समता न आई तो इन क्रियाओं की सफलता नहीं मानी जा सकती।

जब व्यक्ति क्रोधादि कषायों को शमित करता है, जब वह संसार के सब जीवों को अपने समान समझने लगता है तो वह स्वयमेव सब प्रकार के पापों से, क्लेशों से, संघर्षों से बच जाता है, वह अपने आप में अभूतपूर्व आनन्द की अनुभूति करता है। वह सर्वथा निराकुल और शांत बन जाता है। वह सब द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। यह द्वन्द्व-मुक्ति ही समता की श्रेष्ठ साधना है। इस तरह समता दर्शन व्यक्ति के जीवन को दुःख मुक्त बनाता है, निराकुल बनाता है और उसे परम शान्ति प्रदान करता है।

समता की अनुभूति :

समता की आराधना हेतु तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने चार भावनाओं की अनुभूति पर बल दिया है। वे चार भावनाएँ इस प्रकार हैं :—(१) मैत्रीभावना, (२) प्रमोदभावना, (३) कारुण्यभावना और (४) माध्यस्थभावना।

जो व्यक्ति यह चाहता है कि उसके जीवन में समता का प्रवेश हो, उसे सर्वप्रथम यह भावना करनी चाहिए कि संसार के सब जीव मेरे मित्र हैं, कोई मेरा शत्रु नहीं है। किसी भी प्राणी के प्रति मेरे मन में तनिक भी दुर्भाव पैदा न हो, वाणी या वर्ताव द्वारा उसे लेशमात्र भी पीड़ा न हो। यह भावना, मैत्री-भावना कहलाती है।

गुणाधिक व्यक्तियों को देखकर उनके प्रति आदर भाव रखना, गुणियों में ईर्ष्या न करते हुए उनके गुणों की अनुशंसा और अनुमोदना करना, उन्हें देखकर प्रमुदित होना प्रमोदभावना है।

दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव लाना, उनके दुःखों को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करना, दुःखियों के आँसू पोंछना कारुण्यभावना है।

जो व्यक्ति अपने द्वारा मनाया जाने पर भी विपरीत भावना को नहीं छोड़ता, जो जानबूझकर टेढ़ा-टेढ़ा रहता है, अपने प्रति दुर्भावना रखता है, उसके प्रति भी मध्यस्थ दृष्टि रखना माध्यस्थ भावना है।

जो व्यक्ति उक्त चार भावनाओं का प्रतिदिन चिन्तन करता है, निष्ठा-पूर्वक उनका अनुशीलन करता है, उसके जीवन में समता का प्रवेश हुए बिना नहीं रहता। ऐसा कषाय मुक्त, उपशान्त एवं प्रशस्त भावना वाला व्यक्ति समता की सरिता में अवगाहन करता हुआ परम शान्ति का अनुभव करता है। इस प्रकार समता व्यक्ति के जीवन को आनन्द से ओतप्रोत बना देती है।

समता का सामाजिक संदर्भ :

अब हम यह विचार करते हैं कि समता का दर्शन समाज के लिए कितना उपयोगी और हितावह है। जब व्यक्ति के जीवन में समता का प्रवेश होता है तो उसका सारा जीवन लोक कल्याण के लिए समर्पित हो जाता है। व्यक्तियों का समुदाय ही समाज है। स्वार्थ से ऊपर उठकर दूसरे के हित को महत्त्व देना ही सामाजिक भावना का द्योतक है। व्यक्ति के सुधरते ही समाज सुधर जाता है और सर्वत्र संसार में शान्ति का संचार संभव हो जाता है। अतएव विश्वशान्ति के लिए, सामाजिक संघर्षों से बचने के लिए तथा लोक कल्याण के लिए समता की भावना का विकास और विस्तार अपेक्षित है।

सामाजिक क्षेत्रों में समता का संचार होने से सब प्रकार के संघर्षों का, टकराव का और अशान्ति का अन्त हो सकता है। आज दुनिया अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रसित है, गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, जातीय संघर्ष, पंथ–मजहब, सम्प्रदायों के झगड़े, वर्गगत संघर्ष, राजनीतिक उथल-पुथल इत्यादि जो कुछ भी अस्तव्यस्तता हम देख रहे हैं, उसके मूल में यदि हम जावें तो प्रतीत होगा कि वैषम्य ही इनकी बुनियाद है। मानव-मानव के बीच की गहरी विषमता सब संघर्षों को जन्म देती है। इसको लेकर ही दुनिया में विविध वादों का उद्भव हुआ है। साम्यवाद, समाजवाद, पूंजीवाद और न जाने कौन-कौन से वाद समस्याओं के समाधान के लिए प्रचलित हुए हैं, परन्तु स्थिति वहीं की वहीं है। कारण स्पष्ट है कि जो वाद प्रचलित हुए हैं वे एकांगी और अपूर्ण हैं। वे

समस्याओं को हल नहीं करते अपितु बढ़ा रहे हैं। जैन धर्म का समता दर्शन इन सब महा रोगों का अचूक इलाज है। जैन धर्म के सिद्धान्त–अहिंसा और अपरिग्रह इन सभी सामाजिक समस्याओं का समाधान करते हैं। वैचारिक मतभेदों को मिटाने के लिए अनेकान्त का सिद्धान्त अमोघ रसायन है। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त समता के विस्तार के लिए ही हैं।

समाज में और दुनिया में शान्ति का संचार करने के लिए समता दर्शन को अपनाना अनिवार्य है। यदि हम चाहते हैं कि व्यक्ति के जीवन में शान्ति रहे, समाज में शान्ति रहे, दुनिया में शान्ति रहे तो समता दर्शन को अपनाये बिना कोई चारा नहीं है। बड़ी प्रसन्नता और गौरव का विषय है कि चारित्र-चूड़ामणि जैनाचार्य श्री नानालालजी म० सा० ने समता दर्शन को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। ऐसा करके उन्होंने विश्व का यथार्थ मार्गदर्शन किया है।

१५
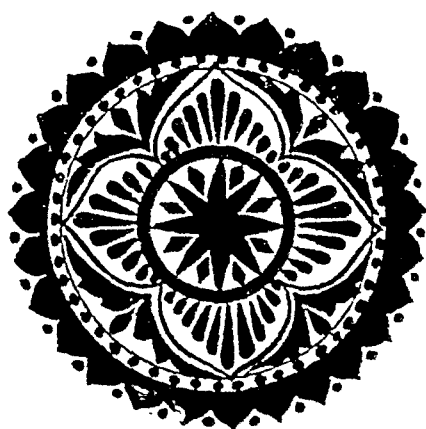
जैन दर्शन में समता का स्वरूप

☐ श्री अगरचन्द नाहटा

जैन धर्म—श्रमण धर्म :

जैन धर्म का भगवान् महावीरकालीन या आगमिक नाम है—'श्रमण धर्म'। प्राचीन 'पक्खी सूत्र' को जब-जब मैं पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में साधु-साध्वियों द्वारा बाल्यकाल से सुनता रहा हूँ, उसमें बार-बार 'श्रमण धर्म' शब्द आता रहता है। वह शब्द मेरे हृदय-पटल पर ऐसा अंकित हो गया कि अन्य आगमों के अध्ययन करते समय मेरे सामने यही शब्द सदा गुंजित होता रहा है। 'कल्पसूत्र' में भी प्रतिवर्ष भगवान् महावीर का चरित्र सुनते हुए बार-बार भगवान् महावीर का यह विशेषण सुनने में आया कि 'समणे भगवए महावीरे' अर्थात् श्रमण भगवान् महावीर। इसमें उनको सबसे पहले 'श्रमण' शब्द द्वारा सम्बोधित किया गया है। भगवान् महावीर कौन थे ? कि श्रमण थे। भगवान् शब्द का प्रयोग श्रमण के बाद हुआ है अर्थात् पहले वे 'श्रमण' थे, भगवान् पीछे बने। जैन साधुओं के लिए 'श्रमण' और साध्वियों के लिए 'श्रमणी', श्रावकों और श्राविकाओं के लिए श्रमणोपासक व श्रमणोपासिका शब्द का प्रयोग आगमों में सर्वत्र खुलकर किया गया है। इससे मेरी उस धारणा को पूरी पुष्टि मिल गई कि तीर्थंकरों का जो धर्म है, उसका पुराना व वास्तविक नाम 'श्रमण धर्म' ही है।

समता से ही श्रमण :

अब प्रश्न उठता है कि 'श्रमण' कौन होता है, उसका मुख्य अर्थ व लक्षण क्या है ? तब 'उत्तराध्ययन सूत्र' की एक पंक्ति [२५/३२] ने मेरा पूर्ण समाधान कर दिया 'समयाए समणो होइ' अर्थात् समता से ही श्रमण होता है। इस

समता की साधना ही सभी तीर्थंकरों ने की और उसकी पूर्णता वीतरागता की प्राप्ति में हुई। इसी से तीर्थंकरों का प्रमुख विशेषण 'वीयराय' अर्थात् वीतराग पाया जाता है। समता और वीतरागता पर्यायवाची शब्द हैं। पर वीतराग स्थिति एकाएक या झटपट प्राप्त नहीं होती, उसके लिए क्रमशः साधना प्रारम्भ होती है—समता से। इसीलिए छह आवश्यक अर्थात् नित्य करणीय जरूरी कामों में, सबसे पहला आवश्यक है—सामायिक अर्थात् समभाव में रहते हुए ही आगे के ५ आवश्यक किये जाते हैं। पंच चारित्रों में सबसे पहले चारित्र का नाम है—सामायिक चारित्र। साधु-साध्वी जब दीक्षित होते हैं तो सबसे पहले उन्हें सामायिक चारित्र का व्रत दिया जाता है। उसकी कुछ दिन साधना कर लेने के वाद दूसरा चारित्र, जिसमें पांच महाव्रतों का ग्रहण करवाया जाता है, पहले को छोटी दीक्षा अर्थात् प्राथमिक भूमिका और दूसरे व्रत दीक्षा को 'बड़ी दीक्षा' की संज्ञा प्राप्त है। अर्थात् मुख्यता सामायिक को ही दी गई है, उसके वाद ही व्रतों का स्थान है।

सामायिक का महत्त्व :

श्रावकों के लिए भी ६वां व्रत-सामायिक का है। श्वेताम्बर समाज में तो श्रावक-श्राविकाओं को 'आज कितनी सामायिक की है', पूछा जाता है और प्रातः-काल उठने के वाद प्रभु-स्मरण नवकार मंत्र बोलने के वाद शरीर चिंता से निवृत्त होकर सबसे पहला करणीय काम है—सामायिक करना अर्थात् धर्म क्रिया का प्रारम्भ ही समभाव-साधना से होता है। यद्यपि साधुओं के लिए यावत जीवन सामायिक चारित्र ग्रहण किया होता है फिर भी उन्हें प्रतिक्रमण से पहले—दोनों समय एवं दिन में भी कई बार 'करेमि भंते सामाइयं' पाठ का उच्चारण करना पड़ता है ताकि वार-वार उनको, मेरा करणीय कार्य क्या है, इसका ध्यान वना रहे और मैं सामायिक करता हूँ इस पाठ को दोहराते समय समभाव ही मेरा लक्ष्य है, यह आदर्श सामने रहे।

भगवान् महावीर ने भी, कल्प सूत्र की टीका के अनुसार, दीक्षा लेते समय 'करेमि सामाइयं' का पाठ ही उच्चारण किया था। उन्होंने पंच महाव्रत ग्रहण किये हों, ऐसा कोई पाठ नहीं मिलता। इससे मुझे लगता है कि पांचों महाव्रतों का समावेश भी सामायिक शब्द में ही हो गया है, क्योंकि समता-भाव धारण करने वाला, विषमता में जायेगा ही नहीं; और पांचों महाव्रत विषमता से वचने के लिए ही हैं।

जिन शासन का सार :

सब जीवों को अपने समान समझकर जो काम अपने को अच्छा नहीं लगता हो, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ नहीं करना और दूसरे का दुःख, अपना

दु:ख है, ऐसी अनुभूति करते हुए प्राणीमात्र को दु:ख न देना, हिंसा नहीं करना, इसी का नाम तो अहिंसा है जो पहला व्रत है। जिन शासन क्या है ? वह वहुत संक्षेप में बतलाते हुए कहा गया है—

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एतियगं जिणसासणं ।।

अर्थात् जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहो, तथा जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी न चाहो। यही जिन शासन है—तीर्थंकर का उपदेश है। जैनी होने की पहली शर्त है।

यही बात 'महाभारत' में धर्म का सर्वस्व या सार क्या है, इस वात को सुनाते हुए कहा गया है—

श्रुयताम् धर्म सर्वस्वं श्रुत्वाचैवा धार्यताम्।
आत्मान: प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत् ।।

प्राणी मात्र में समानानुभूति आत्मौपम्य भाव ही अहिंसा है और सामायिक भी यही है—

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरे सु अ।
तस्स सामाइयं होज्जा, इयं केवली भासियं ।।

चारित्र ही धर्म है :

समभाव क्या है और उसके पर्यायवाची शब्द कौन-कौन से हैं, इस विषय की दो गाथाएँ उद्धृत की जा रही हैं। पहली गाथा में बहुत ही महत्त्व की बात कही गई है कि वास्तव में चारित्र ही धर्म है, पर वह धर्म समता या समत्व रूप कहा गया है। समता क्या है ? मोह और क्षोभ रहित आत्मा का निर्मल परिणाम। अर्थात् रागद्वेष रहित अवस्था ही समता है। उसके पर्यायवाची शब्द या नाम हैं—माध्यस्थ-भाव, शुद्ध-भाव, वीतरागता, चारित्र धर्म और स्वभाव-आराधना। मूल गाथाएँ इस प्रकार हैं—

गाथा— चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिछिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ।।

संस्कृत छाया— चारित्रं खलु धर्मो यः स समः इति निर्दिष्टः।
मोह क्षोभ विहीनः, परिणाम आत्मनो हि समः ।।१३।।

गाथा— समदा तह मज्झत्थं, सुद्धो भावो य वीयरायत्तं ।
तह चारित्तं धम्मो, सहावआराहणा भणिया ।।

संस्कृत छाया— समता तथा माध्यस्थ्यं, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम् ।
तथा चारित्रं धर्मः, स्वभावाराधना भणिता ।।१४।।

समभाव ही सामायिक :

समभाव ही सामायिक है। तिनके और सोने में तथा शत्रु और मित्र में समभाव रखना चाहिये। कहा भी है—

'समभावो सामइयं, तण कंचण-सत्तु मित्र विसओ त्ति।

१७वीं शताब्दी के महान् जैन योगी आनन्दघनजी ने शांतिनाथ भगवान् के स्तवन में भगवान् के मुख से शांति का मार्ग बतलाते हुए कहा है—

मान अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक पाषाण रे।
वंदक निंदक सम गणे, एहवो होय तु जाण रे ।।शांति।।९।।

सर्व जग जंतुने सम गणे, गणे तृण मणि भाव रे।
मुक्ति-संसार बेहु सम गणे, मुणे भवजल निधि नावरे ।।शांति।।१०।।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने एक ही पद्य में समभाव किन-किन बातों में रखा जाय, एक-से-एक ऊँची स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जीवित-मरण, संसार और मोक्ष में भी समत्व रखें।

शत्रु मित्र प्रत्येवर्ते समदर्शिता।
मान अमाने वर्ते तेज स्वभाव जो ।।
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता।
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ।।

माध्यस्थ भाव ही समत्व :

आत्मानुभावी संत चिदानन्दजी ने भी बहुत सुन्दर रूप में एक भजन में इसकी व्याख्या की है कि सब जगत् को देख लिया पर उसमें निरपक्ष अर्थात् पक्षपात रहित, राग द्वेष रहित कोई विरले ही व्यक्ति होते हैं। वह निरपक्षता या निष्पक्षता, माध्यस्थ भाव ही समत्व है। समरसी भाव वाला व्यक्ति कैसा होता है। देखिये—

अवधू निरपक्ष विरला कोई, देख्या जग सहु जोइ; ।।अवधू ०।।

समरस भाव भला चित्त जाके, थाप-उथाप न होइ;
अविनाशी के घर की वातां जानेंगे नर सोइ ।।अ० १।।

राय रंक में भेद न जाने, कनक उपल सम लेखे;
नारी नागणी को नहीं परिचय, तो शिव मंदिर देखे ।।अ० २।।

निंदा-स्तुति श्रवण सुणीने, हर्ष-शोक नवि आणे;
ते जग में जोगोसर पूरा, नित्य चढ़ते गुण ठाणे ।।अ० ३।।

चन्द्र समान सौम्यता जाकी, सायर जेम गम्भीरा;
अप्रमत्त भारऽपरे नित्य, सुरगिरिसम शुचिधीरा ।।अ० ४।।

पंकज नाम धराय पंकस्युं, रहत कमल जिम न्यारा;
'चिदानन्द' इस्या जन उत्तम, सो साहिब का प्यारा ।।अ० ५।।

मुक्ति का एक मात्र उपाय–समता :

उपाध्याय यशोविजय ने तो अपने 'अध्यात्मसार' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में ९वां अधिकार केवल समता पर ही लिख दिया है, जिसके २९ श्लोक हैं। उसके कुछ श्लोकों में समता का माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि 'मुक्ति का एकमात्र उपाय समता है। समता को छोड़कर जो भी कष्टकारी क्रियाएँ की जाती हैं वे ऊसर भूमि में बोये हुए बीज के समान निष्फल होती हैं। अन्य लिंग अर्थात् जैन साधकों से भिन्न भेष वाले जो भी सिद्ध हुए हैं, उनकी साधना का आधार केवल समता ही रहा है। ज्ञान का फल भी समता ही है। समता ही वास्तविक सुख है। समता ही मोक्ष मार्ग की दीपिका है। भरत चक्रवर्ती आदि ने बाह्य रूप से तो कोई धार्मिक क्रिया नहीं की पर समता अर्थात् वीतराग भाव प्राप्त कर लिया तो मोक्ष हो गया। दान करने, तप करने से क्या लाभ, यम-नियम के पालन से भी क्या फायदा यदि समभाव प्राप्त नहीं हुआ। संसार-समुद्र को पार करने के लिए नौका एकमात्र समता ही है। स्वर्ग का सुख तो दूर है और मुक्ति उससे भी दूर है। पर समभाव का सुख तो हमारे सामने है। समता रूपी अमृत कुण्ड में स्नान करने से क्रोध आदि ताप और काम-विष नष्ट हो जाता है। सुख शांति के लिए समता अमृतमय मेघ वृष्टि के समान है। ममता का त्याग होने पर समता स्वतः प्रकट होती है। पदार्थों में प्रियत्व और अप्रियत्व की कल्पना छोड़कर अपने स्वभाव में स्थित रहना ही समता है। इष्ट और अनिष्ट के दोनों विकल्प कल्पित हैं। इन दोनों विकल्पों के नष्ट होने पर समता प्रकट होती है।'

योगनिष्ठ आचार्य बुद्धिसागर सूरिजी ने समता को ही गुण का भण्डार वताते हुए अपने भजन में लिखा है—

[राग आसावरी व धन्यासरी]

सदा सुखकारी, प्यारी समता गुण भण्डार ।।सदा०।।

ज्ञानदशा फल जाणीयेरे, तप जप लेखे मान;
समता विण साधुपणु ं रे, कास-कुसुम उपमान ।।सदा० १।।

वेद पढ़ो आगम पढ़ो रे, गीता पढ़ो कुरान;
समता विण शोभे नहीं रे, समझो चतुर सुजाण ।।सदा० २।।

निश्चय साधन आतमनु ं रे, समता योग वखाण;
अध्यात्म योगी थवारे, समता प्रशस्य प्रमाण ।।सदा० ३।।

समता विण स्थिरता नहीं रे, स्थिरता लीनता काज;
समता दुःख-हरणी सदा रे, समता गुण सिरताज ।।सदा० ४।।

पर परिणति त्यागी मुनि रे, समता मां लयलीन;
नरपति सुरपति साहिबा रे, तस आगल छे दीन ।।सदा० ५।।

राची निजपद ध्यानधी रे, सेवो समता सार;
'बुद्धिसागर' पीजिये रे, समतामृत गुणकार ।।सदा० ६।।

अव प्रश्न यही रह जाता है कि समता को इतना महत्त्व क्यों दिया गया और उसकी साधना कैसे की जाय ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए जैन दर्शन की गहराई में डुवकी लगानी पड़ेगी ।

समत्व आत्मा का स्वभाव :

पहली वात तो यह है कि समत्व आत्मा का स्वभाव है । विषमता और ममता तो 'पर' के संयोग से आती है जवकि समता सहज स्वभाव है । ममता और विषमता जिसे हम राग और द्वेष कहते हैं कर्म वंध के दो प्रमुख कारण हैं । इससे मोह और क्षोभ पैदा होता है । राग भाव की पकड़ वहुत गहरी है । द्वेष तो उसी के कारण उत्पन्न होता है । इसीलिए मोहनीय कर्म को सब कर्मों से अधिक वलवान व लम्वी स्थिति का माना है । राग और द्वेष दोनों का उसी एक में समावेश हो जाता है । एक मोहनीय कर्म के क्षय होने से ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय तीनों घाती कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं ।

मोह राजा के दो शक्तिशाली बेटे हैं, 'मैं' और 'मेरा'। 'मैं' अहम् भाव है तथा 'मेरा', ममता भाव है। ममता का मिट जाना ही समता का प्रकट हो जाना है। सारे दु:खों का मूल या बाप मम-भाव है और सभी सुखों का मूल सम-भाव है। स्वभाव में स्थिर रहना लीन या मगन रहना ही समता है और वही संवर और निर्जरा है। मोक्ष इन दोनों के विना प्राप्त हो ही नहीं सकता। नये कर्मों के बंध को रोकना संवर है। वह सम-भाव पूर्वक ही होता है और तभी पुराने कर्मों की निर्जरा होने लगती है। और मोक्ष तभी मिल सकता है। अत: समता को महत्त्व देना वाजिब है।

समता की साधना :

दूसरे प्रश्न का समाधान यह है कि समता की साधना का अभ्यास वढ़ाने के लिए ही स्वाध्याय और ध्यान को महत्त्व दिया गया है। स्वाध्याय के द्वारा तत्त्व के स्वरूप का निर्णय किया जाता है। सबसे पहले तो मैं कौन हूँ, इस पर गम्भीर विचारणा होनी चाहिये। यह शरीर मैं नहीं हूँ। शरीर मेरे सामने छुट जाता है, पड़ा रहता है। आत्मा उसमें रहती है तभी तक वह सक्रिय रहता है, इसलिए मैं आत्मा हूँ, शरीर और अन्य बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध चिरस्थायी नहीं है। आत्मा अजर-अमर और शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त है। इस तरह का भेद विज्ञान ही सम्यग्-दर्शन या आत्म-दर्शन है। मोक्ष मार्ग में इसीलिए पहले सम्यग्-दर्शन को स्थान दिया गया है। उसके बिना ज्ञान, कुज्ञान और अज्ञान है, चारित्र, कुचारित्र है। ऐसा ज्ञान व चारित्र मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता। सम्यग्-दर्शन होते ही कुज्ञान, सम्यग्ज्ञान और कुचारित्र सम्यग्-चारित्र बन जाता है। मोक्ष मार्ग या समभाव साधना की यह पहली सीढ़ी है क्योंकि विषमता और ममता, मोह और अज्ञान के कारण ही होती है। विषमता भेद बुद्धि है और समता अभेद बुद्धि है। भेद से अभेद की ओर बढ़ना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

ज्ञाता-दृष्टा-भाव ही समभाव की सबसे बड़ी कुंजी है। मेरा धर्म या स्वभाव, ज्ञान और दर्शन गुण के द्वारा देखना और जानना है, पर उसमें इष्ट-अनिष्ट, प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल, अच्छा-बुरा, ये सब कल्पनायें कल्पित, आरोपित और मोहनीय के कारण हैं। वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसको उसी रूप में मानना ही सम्यग् दर्शन है। उसमें इष्ट-अनिष्ट भाव न आने देना ही समता है। समता आने से ममता और विषम-भाव मिट जाते हैं। यों कहा जाय ममता और विषमता के घटने और नष्ट होने पर समता उत्पन्न होती है, इसलिए हम केवल 'ज्ञाता दृष्टा भाव' से मध्यस्थ बने रहें। अच्छा और बुरा जो भी है या होता है, उसे हम केवल देखते रहें। पर अनासक्त भाव रखें। 'आता है सो आने दो, जाता है सो जाने दो और होता है सो होने दो, इन तीन महामंत्रों

का जाप खूब दृढ़ता से करते रहें। इन तीनों अवस्थाओं में मेरा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है। दुःख के साथ सुख और जीवन के साथ मरण लगा हुआ है। उसमें क्या हर्ष और क्या शोक ? ये तो पर्यायें हैं, बदलती ही रहेंगी। मेरे हर्ष-शोक करने से भी इस परिवर्तन को मैं रोक नहीं सकता तो मैं अपने स्वभाव में ही स्थिर क्यों न रहूँ ? समता में ही आनन्द है, शांति है, सुख है। कष्ट होता है वह शरीर को होता है, आत्मा को नहीं। इसी भावना से तो महापुरुषों ने बड़े-बड़े कष्ट सहे पर समभाव में रहे। हम भी स्वाध्याय, ध्यान, मौन, मैत्री, क्षमा आदि भावों से समता की ओर बढ़ते रहें।

१६
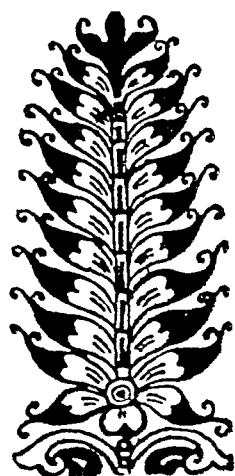
बौद्ध धर्म व दर्शन में समता का स्वरूप

☐ डॉ० संघसेन सिंह

इस बात पर प्रायः सारे इतिहासकार सहमत हैं कि ईसा पूर्व छठी-पांचवीं सदियों में उत्तर भारत में सामाजिक हलचलों का दौर चल रहा था। सोलह महाजनपदों का उभड़ना, बिम्बिसार व अजातशत्रु के नेतृत्व में मगध का और प्रसेनजित् के नेतृत्व में कोसल का उदय व विकास, आदि बहुत सी घटनाएं हैं जो इन्हीं सदियों के दौरान घट रहीं थीं। इन सब बातों से ऐसा लगता है कि समाज एक नई-नई सामाजिक व्यवस्था के लिये उछाल ले रहा था, जिसमें यकीनन पुरानी मरणशील दासव्यवस्था के स्थान पर एक नई व सजीव व्यवस्था जन्म लेने जा रही थी। वह थी सामन्तवादी व्यवस्था। इस प्रकार आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक हलचल एक क्रांति के लक्षण थे, जो इन दो सदियों में मुकम्मिल हो रही थी। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव था कि सिद्धार्थ, वर्धमान जैसे नौजवान चुप बैठे रहते और उस क्रांति को आगे बढ़ाने में भागीदार न बनते। ऐसा लगता है कि नये उभड़ते शासकवर्ग के अपने अन्तर्विरोध इतने तेजी से उभड़ रहे थे कि उनकी लपेट में उस समय के तमाम जागरूक नौजवान आ गये थे। यही कारण है बड़े-बड़े घरानों के कुलपुत्र अपना घरबार छोड़कर आवाम को संगठित करने में लग गये थे। हालांकि यह और बात है कि इन सब संगठनों का बाहरी रूप धार्मिक था। इस बात के तमाम सबूत दिये जा सकते हैं कि बुद्ध व महावीर के गृहत्याग बहुत ही सोचे-समझे कदम थे और यही कारण है कि उनका बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा।

अपने संगठन 'भिक्षुसंघ' को सुचारू रूप से चलाने के लिये बुद्ध ने समय-समय पर जिन नियमों का विधान किया, उन्हें 'विनय' का नाम दिया गया। इनमें 'दश शिक्षापद' वे नियम हैं, जिन्हें भिक्षुओं के श्रमण-जीवन

की पहली सीढ़ी कहें तो कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी। इन शिक्षापदों में पहला है अहिंसा—प्राणातिपात से विरत होना। इस शिक्षापद से बुद्ध का समतावादी दृष्टिकोण प्रकट होता है। इसके अनुसार किसी भी जीव का वध करना मना है। बाद में चलकर जब विनय के नियम और जटिल बनाये गये, तब तो इस शिक्षापद का उल्लंघन करने वाला सबसे कठोर दण्ड का भागीदार माना गया। वह दण्ड था 'पाराजिक', जिसके अनुसार अपराधी भिक्षु को संघ से हमेशा के लिये अलग कर दिया जाता था।

भिक्षुसंघ में प्रवेश देने में बुद्ध ने कभी भेदभाव नहीं बरता। यह बात और है कि उन्होंने अपने संघ की बढ़ोतरी के लिये कुछ ऐसे नियम बनाये, जिनसे वे तत्त्व छंट जाते थे जो संघ के लिये घातक माने जाते थे। उन्होंने अपने संघ का द्वार सबके लिये खोल रखा था। हालांकि यह बात एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्रारम्भ में स्त्रियों के संघ में प्रवेश पर पाबन्दी थी, जो बाद में चल कर ढीली कर दी गई। जहां तक विविध वर्णों व जातियों का प्रश्न है, बुद्ध उनके प्रति कभी भेदभाव बरतते नहीं दिखाई पड़ते। उनके संघ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र सभी प्रवेश पाते थे। सच तो यह है कि बुद्ध ने एक स्थान पर बड़े दावे के साथ कहा है कि उनके संघ में आने पर तमाम वर्णों के लोग उसी तरह आत्मसात हो जाते हैं जैसे समुद्र में गिरने पर सभी नदियों का जल समुद्र-मय हो जाता है और यह कहना सम्भव नहीं कि यह गंगा का पानी है या सरयू का, या अन्य नदियों का।

अपने पहले धर्मोपदेश में—जिसका नाम 'धम्मचक्कपवत्तन सुत्त' दिया गया—बुद्ध ने अपने खोजे हुए सत्यों को स्पष्ट करते हुए कहा था कि दुःख है, उसका कारण भी है और यह कि उसका निरोध भी है। उस समय के धार्मिक नेताओं के बयानों से पता चलता है कि इस समस्या के समाधान के लिये वे तरह-तरह की अटकलें प्रस्तुत करते थे। बुद्ध ने इस सम्बन्ध में जो नुस्खा पेश किया था वह निहायत आसान व युक्ति संगत था। उन्होंने अपने शिष्यों से दो अतियों को छोड़ने को कहा। ये दो अतियां थीं—अपनी निजी मुक्ति के लिये अत्यधिक भोगविलास में लिप्त होना और अपने शरीर को अत्यधिक तपाना या कष्ट देना। बुद्ध ने—जैसा कि उनकी जीवनी के पन्नों से, जो आज बिखरी व टूटे-फूटे रूप में मिलती है, मालूम होता है—इन दोनों अतियों का न केवल बहिष्कार ही किया, बल्कि मुक्ति के मार्ग में बाधक बताकर अपने शिष्यों को उनसे बचने की सलाह दी। उन्होंने इन दोनों अतियों के बीच का रास्ता निकाला। अपने पहले धर्मोपदेश के बाद और जब उनकी शिष्य मंडली के रूप में संगठित होकर एकसठ 'अरहतों' का एक संगठन बन गया, उन्होंने अपने शिष्यों को तमाम जगहों में घूम-घूम कर बहुतों के

सुख[1] के लिए 'धम्म' का उपदेश करने को कहा। उनके इस उपदेश से यह बात पूरी तरह स्पष्ट है कि वे लोगों के 'दुःख' से पूरी तरह चिन्तित थे और यह कि उनकी दृष्टि में 'मानव'[2] का दर्जा पहला था और उसकी मुक्ति उनका प्रधान लक्ष्य था।

यह बात इतिहास विदित है कि इस सच्चाई तक पहुँचने के लिये उन्होंने कितनी कठिनाइयों का सामना किया, कितनी परेशानियों से गुजरे और कितनी ही यातनायें झेलीं। इस सच्चाई की प्राप्ति के लिये उनका त्याग भी सम्भवतः अभूतपूर्व था। उन्होंने राजा होने की सम्भावना को एक किनारे फेंक दिया, पूरी तरह से संगठित कई धर्म-संघों की रहनुमाई को लात मार दी,[3] बिम्बिसार की सशक्त सेना का सेनापति पद ठुकरा दिया,[4] आदि-आदि। उनके लिये 'मानव' से बढ़कर और ऊँचा कोई तत्त्व नहीं था। बुद्ध ने तमाम जन-समूह को, दुःखों से तड़पते-बिलखते देखा, उनके दुःखों से निराकरण का मार्ग खोज निकाला, जिससे कि उन्हें त्राण मिल सके। छः साल की घोर तपस्या, उसके बाद का सतत ध्यान व समाधि—सबका सब उस दुःख के नष्ट करने के लिये था, जिससे तमाम जनता त्रस्त थी। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद अपने पांच वर्गीय शिष्यों से मिलने पर, जो पहले भी उनके शिष्य व सहयोगी थे और पथभ्रष्ट समझकर छोड़कर चले गये थे, उन्होंने बड़े साफ शब्दों में उनको सम्बोधित करते हुए, अपने साथ आने को कहा और इस बात की घोषणा की कि उन्होंने मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ निकाला है जिसका अनुसरण करने पर वे अपने दुःखों का अन्त बखूबी कर सकते हैं। उन्होंने अपने शिष्यों को यह पूरी तरह स्पष्ट कर दिया था कि हर व्यक्ति को अपनी मुक्ति स्वयं व स्वतः प्राप्त करनी होगी। तथागत तो उनके लिये सिर्फ रहबर हैं।[5] वे अपनी मुक्ति के लिये उनपर निर्भर न रहें। वास्तव में बुद्ध की सबसे बड़ी उपलब्धि इस बात में थी कि उन्होंने अपने शिष्यों में एक ऐसा स्वावलम्बन पैदा किया था कि जिससे वे स्वतः अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकें और दूसरों पर निर्भर न रहें।

इस सम्बन्ध में इस बात का निर्देश करना शायद असंगत न होगा कि प्रारम्भिक बौद्धधर्म का यह स्वरूप कालान्तर के बौद्धधर्म से इतना भिन्न हो

१. बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, देखिये महावग्ग (विनय पिटक)।
२. यहां यह शब्द प्रायः उसी अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, जिस अर्थ में अंग्रेजी में 'The Man' शब्द प्रयुक्त होता है।
३. देखिये महावग्ग। सारिपुत्त व मोग्गल्लान के पहले वाले धर्म नेता संजय ने ऐसा प्रस्ताव रखा था।
४. देखिये—पधानसुत्त, सुत्तनिपात।
५. तुम्हे व किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता। देखिये—धम्मपद

गया कि दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर दीख पड़ने लगा। बाद के बौद्धधर्म में बोधिसत्त्व सिद्धांत इतना दूर तक ले जाया गया कि बोधिसत्त्व ही सारे जीवों की मुक्ति की गारंटी देते दिखाई देते हैं। 'बोधिचर्यावतार' में तो यहां तक कहा गया है कि बोधिसत्त्व ऐसा निश्चय करते हैं कि वे तब तक अपनी मुक्ति का प्रयास नहीं करेंगे, जब तक कि वे सभी जीवों को मुक्त न करा दें। यही नहीं, इसके साथ ही साथ अपने पुण्य को दूसरों के लिये निछावर करने का सिद्धान्त भी विकसित हो गया। इससे 'मानव' का मानवपन नीचे गिर गया और वह दूसरों के आश्रय का मुंहताज बन गया। पारमिता-प्राप्ति का सिद्धान्त भी इस प्रवृत्ति का शिकार हुआ। मनुष्य स्वयं अपने प्रयास से मुक्ति प्राप्त करे, यह भावना तो दूर फेंक दी गई और उसका स्थान ले लिया अन्यान्य बुद्ध क्षेत्रों में बुद्धों से प्राप्त की गई कृपा ने। बौद्ध की महायान शाखा में इस भावना का विकास इस हद तक हुआ कि कुछ पारमिताओं को दैवत्व प्राप्त हो गया। प्रज्ञा उनमें से एक थी।[1]

प्रारम्भिक बौद्ध ग्रंथों से इस बात के तमाम उद्धरण मिलते हैं कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को बार-बार कहा था कि यदि वे उनके पद चिह्नों पर और उनके बताये मार्ग पर चलते रहेंगे, तो उन्हें जीवन का चरम उद्देश्य यानी अर्हत्व अवश्य प्राप्त होगा। उन्होंने इस बात का विधान किया कि जो एक बार स्रोतापन्न हो गया, वह देर-सवेर अर्हत अवश्य होगा। वह अपनी पिछली स्थिति में नहीं लौट सकता। मुक्ति मार्ग की चार सीढ़ियां इस बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देती हैं। ये सीढ़ियां हैं—स्रोतापत्ति (मार्ग व फल), सकृदागामी (मार्ग व फल), अनागामी (मार्ग व फल) और अर्हत्व (मार्ग व फल)। वास्तव में प्रारम्भिक बौद्धधर्म में अर्हत्व प्राप्ति अन्तिम सीढ़ी ही नहीं, अन्तिम लक्ष्य भी था। कालान्तर में निब्बान या निर्वाण[2] मुक्तिमार्ग का अन्तिम लक्ष्य बना। बौद्ध धर्म व दर्शन के और विकसित होने पर बुद्धत्व-प्राप्ति एक ऐसा नारा बना कि उसके सामने पिछले सभी घोषित लक्ष्य फीके पड़ते गये। यह क्रम सिर्फ बौद्धधर्म में ही देखने को नहीं मिलता, वरन् अन्य धर्मों में भी देखने को मिलता है। वास्तव में यह एक समाजशास्त्रीय प्रश्न है। होता यह है कि एक निश्चित समय तक एक लक्ष्य लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है और बाद में चलकर वही लक्ष्य फीका पड़ते-पड़ते पूरी तरह धूमिल हो जाता है। उस स्थिति में धर्म-नेताओं को अपने आन्दोलन में नई प्रेरणा, स्फूर्ति व जान डालने के लिये नया नारा देना पड़ता है।

---

१. देखिये, प्रज्ञापारमिता साहित्य

२. निब्बान = नि + वान, निर्वाण 7 नि + वृ। इन शब्दों की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है कि निब्बान या निर्वाण शब्द की तरह-तरह की व्याख्या की गई है। प्रारम्भिक म। और बाद की मान्यताओं में जमीन-आसमान की दूरी हो गई।

जहां कहीं भी मुक्ति की बात आती है वहां मुक्तिमार्ग के अधिकारी की बात भी सामने आती है। इस सम्बन्ध में बुद्ध पूरी तरह स्पष्ट थे। उन्होंने एलान किया–"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ति।"[1] यानी भिक्षुओ, बहुतों के हित व सुख के लिये एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे....स्थानों की चारिका करते चलो। उन्होंने दुःख से तड़पते लोगों को देखा। इसलिये उस दुःख से लोगों को त्राण दिलाने के लिये मुक्ति का मार्ग खोज निकाला। यह मार्ग उन्होंने सबके लिये बताया। इसमें उन्होंने कोई चुनाव नहीं किया। वस्तुतः प्रायः सभी वर्ग के लोग उनके मार्ग के अनुगामी बने—ब्राह्मण भी, शूद्र भी, पुरुष भी, स्त्री भी। ऐसा समझा जाता है कि इतिहास के पन्नों में बुद्ध पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने संघ का द्वार शूद्रों व स्त्रियों के लिए भी खोल रखा था। उन्होंने शूद्रों व अन्त्यजों को संघ में प्रवेश दिलाने के लिये 'चातुवण्णपारिसुद्धि' की बात की, जो उस युग के लिये क्रान्तिकारी कदम था। उनकी दृष्टि में चारों वर्णों के लोग शुद्धि, यानी पवित्रता, यानी मुक्ति के अधिकारी हैं। इसी प्रकार स्त्रियों को संघ में प्रवेश दिलाने के लिये उन्होंने बड़ी सूझ-बूझ से काम लिया। हालांकि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था—शूद्रों व स्त्रियों—दोनों को मुक्तिमार्ग के कायल संघों में प्रवेश देने पर नाक-भौं सिकोड़ रही थी। यह बात अपने में एक सबूत है कि बुद्ध प्रगति के पक्ष में थे और उस समय की बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था में विकासोन्मुख सामाजिक व्यवस्था के पोषक थे।

उस समय की सामाजिक व्यवस्था में जो बातें बुद्ध के मस्तिष्क को सबसे ज्यादा कुरेद रही होंगी, वे थीं—तरह-तरह के पूजापाठ के विधान, यज्ञ-याग और उनके साथ जुड़ी पशु-बलि। बुद्ध इस बात के पूरी तरह कायल थे कि किसी प्रकार का भी धार्मिक अनुष्ठान मुक्ति के मार्ग में बाधक होता है। इसीलिये 'सीलब्बतपरामास' को उन्होंने एक संयोजन, यानी, बन्धन, यानी जकड़ बताया। उन्होंने वैदिक यज्ञ-यागों का इसलिये भी विरोध किया कि उनकी वजह से 'मुक्ति' के लिये मानव प्रयास दूसरे दर्जे पर फेंक दिया जाता है और उसका 'मानवपन' नीचे ढकेल दिया जाता है। यज्ञ-याग में पुरोहित प्रधान भूमिका अदा करता था और 'यजमान' अपनी मुक्ति का मार्ग स्वतः नहीं पाता था। उसकी निजी भूमिका दूसरे दर्जे की हो जाती थी। दैवी शक्तियों में विश्वास के बजाय बुद्ध ने अपने शिष्यों को यह शिक्षा दी कि वे अपने दिमाग से काम लें और किसी बात को कबूल करने के पहले उसे हर तरह से परखें।

एक बार केसपुत्तगाम के कालापों ने धार्मिक गुरुओं के द्वारा प्रतिपादित

१. देखिये, महावग्ग (विनय पिटक)।

धर्म-सिद्धान्तों के असली व नकलीपन के बारे में बुद्ध स सवाल किया। वे धर्म गुरु प्रायः केसपुत्तगाम आते और वहाँ के बाशिन्दों को अपने धार्मिक सिद्धान्तों का बड़प्पन और दूसरों के सिद्धान्तों का घटियापन बयान करते। बुद्ध ने उन्हें सलाह दी कि उन्हें अपने दिमाग का इस्तेमाल करना चाहिये और दूसरों के कथन को अपने अनुभवों की कसौटी पर परखना चाहिये। उन्हें चाहिये कि वे उन सिद्धान्तों को तभी ग्रहण करें जब वे उनकी भलाई के लिये साबित हों।[1] बुद्ध ने धर्म-ग्रन्थों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उन्हें प्रमाण नहीं माना। प्रमाणशास्त्र का शब्द-प्रमाण उनके लिये बे-मानी था। उन्होंने अपने शिष्यों को अपनी बुद्धि का प्रयोग करने के लिये कहा और तथाकथित सन्तों व मुनियों के कथनों को पूरी तरह परखकर ही कबूल करने को कहा। मुख्य बात जिस तरफ बुद्ध का संकेत रहा होगा वह यह थी कि मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता होता है, कोई अन्य नहीं[2]। मनुष्य खुद अपना शरण या द्वीप है न कि कोई और।[3]

बुद्ध के बारे में प्रायः कहा जाता है कि उन्हें दुनिया में दुःख ही दुःख नजर आता था। ऐसा समझा जाता है कि उन्होंने एक बार कहा था कि लोगों ने अनन्त काल से जितना आंसू बहाया है, वह चारों महासमुद्रों में भरे पानी से कहीं ज्यादा है[4]। यहाँ दुःखों का बयान और परिभाषा करते हुये बुद्ध की सीमा यह थी कि उन्होंने दुःखों के कारणों को मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में ही देखा। उन्होंने दुःखों को मनुष्य के सामाजिक संगठनों, संस्थानों और उनके इर्द-गिर्द मनुष्य के कार्य-कलापों में देखने का तनिक भी गवारा नहीं किया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के दुःखों का कारण उसकी अपनी अविद्या और तृष्णा है। एक दृष्टांत देते हुये उन्होंने अपने शिष्यों को समझाया कि अपने पैर को कांटों से बचाने के लिये यह आवश्यक नहीं कि सारी पृथ्वी को चमड़े से ढका जाय, बल्कि यह कि अपने पैरों में जूते डाल दिये जाँय। इसका मतलब यह हुआ कि वे दुःखों का निराकरण व्यक्तिगत क्रिया में ढूंढते थे, न कि सामूहिक क्रिया में। उस युग में शायद इस तथ्य तक पहुँच पाना उनके लिये कठिन था कि लोगों के दुःखों का कारण शासकवर्ग की सामूहिक क्रियायें थीं और इसीलिये उनके निराकरण के लिए आवाम की सामूहिक क्रियायें आवश्यक थीं। उनके उपदेशों से कितने ही उद्धरण देकर साबित किया जा सकता है कि बुद्ध वैयक्तिक सम्पत्ति के खिलाफ थे। लेकिन उस समय के उदीयमान वर्ग—सामन्त,

---

१. देखिये, केसपुत्तगायसुत्त, संयुत्त निकाय।
२. देखिये, धम्मपद, अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
३. देखिये, महापरि निब्बानसुत्त (दीघनिकाय)
४. देखिये, संयुत्त निकाय।

व्यापारी व बैंकर—के साथ जुड़े होने के कारण उन्होंने खुले रूप में इसका विरोध नहीं किया। उन्होंने अपने विचारों को संघ के जीवन में उतारा और नियम बांधकर भिक्षुओं को पालन करने के लिये प्रेरित किया। भिक्षु संघ में किसी को भी व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था।[1] राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार संघ-जीवन में यह बात सम्भवतः कबीलों के जीवन से आई थी जहां आदिम कमुनिज्म उस समय भी जीवित था।[2]

बुद्ध का दर्शन तीन सिद्धान्तों में सन्निहित है—अनित्यवाद, दुःखवाद और अनात्मवाद। पूरा मानव व्यक्तित्व पांच स्कन्धों के रूप में देखा जाता है। पाँचों स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान—अनित्य, संस्कृत और प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं। वे नित्य नहीं हैं। उनमें हमेशा परिवर्तन होता रहता है। अनित्य-वाद का कोई उल्लंघन नहीं। अनात्मवाद के सम्बन्ध में बुद्ध की स्थिति बहुत ही स्पष्ट है। वे उपनिषदों के आत्मवाद और लोकायतों के उच्छेदवाद के सर्वथा खिलाफ थे। बुद्ध की बात 'मज्झिम निकाय' के मूलसच्चकसुत्त में बहुत ही साफ-साफ शब्दों में कही गई है—"रूप अनात्म हैं, वेदना अनात्म है, संज्ञा अनात्म है, संस्कार अनात्म हैं, विज्ञान अनात्म है—संक्षेप में सारे तत्त्व अनात्म हैं।" बुद्ध के द्वारा उच्छेदवाद का निराकरण तो इसी बात से सिद्ध है कि उन्होंने पुनर्जन्म और परलोक को नकारा नहीं। इसका मतलब यह है कि वे यह जानते थे कि जीवन की प्रक्रिया मृत्यु के साथ ही खत्म नहीं होती, बल्कि वह उसके बाद भी प्रवाहित होती रहती है। उनके अनुसार ब्रह्मचर्य (जीवन) तभी सम्भव हो सकता है, जब यह मान के चला जाय कि इस जीवन के अच्छे-जीवन बुरे कर्म अगले जन्मों में तदनुकूल फल उत्पन्न करते हैं अन्यथा शरीर व जीवात्मा को एक ही मानने वाले लोकायतों की तरह उनके लिये भी ब्रह्मचर्य-जीवन बेमानी ठहरता। लोकायत के लिये सबसे उत्तम मार्ग तो यही है कि वह इसी जीवन में सारे सुखों का भोग कर ले। दूसरी तरफ शरीर व जीवात्मा को अलग-अलग मानने वालों के लिये ब्रह्मचर्य-जीवन बेमानी है, क्योंकि उनके अनुसार आत्मा अजर, अमर और अपरिवर्तनशील है। ब्रह्मचर्य-जीवन से उस पर कोई प्रभाव पड़ने को नहीं।

बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना। वस्तुतः उनके सिद्धान्तों में ईश्वर नाम के किसी तत्त्व की कोई गुंजाइश ही नहीं। प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत से तो यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। बौद्ध धर्म में सारे तत्त्व[3] अनित्य, संस्कृत और प्रतीत्य समुत्पन्न माने गये हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वरत्व ठहरता ही

१. सुई, चीवर आदि कुछ दैनिक व्यवहार व जरूरत के सामान रखने की मनाही नहीं थीं।

२. देखिए—दर्शन-दिग्दर्शन।

३. निर्वाण व आकाश को छोड़कर।

नहीं। पाथिक सुत्त और केवह सुत्त में बुद्ध ने ईश्वरत्व की मखौल उड़ाई है और कहा है कि ईश्वर में विश्वास तर्क के प्रतिकूल है। तेविज्ज सुत्त में ईश्वर में विश्वास करने वालों की तुलना कतार में खड़े अन्धों से की गई है, जिनमें न तो पहला ही देखता है, न बीच वाला और न सबसे पीछे वाला ही। बारीकी से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध मानव को उस बुलन्दी तक ले जाना चाहते थे, जहाँ वह किसी प्रकार की जकड़ महसूस न करे और मुक्ति का मार्ग उसे सहज सुलभ हो जाय।[1]
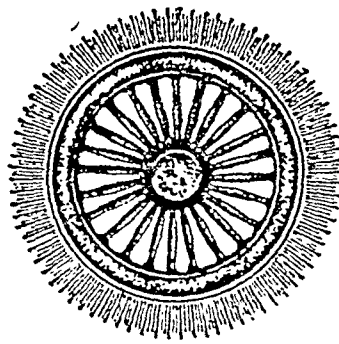
१. इस लेख के लेखक डॉ० संघसेन सिह दिल्ली विश्वविद्यालय में बौद्ध विद्या विभाग के रीडर व अध्यक्ष है। उनके द्वारा प्रकट किये गये विचार उनके निजी विचार हैं जिनमें मत-भिन्नता होना संभव है। सम्पादक या साधुमार्गी जैन संघ का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

—सम्पादक

१७

गीता में समत्व दर्शन

☐ डॉ० हरिराम आचार्य

'श्रीमद्भगवद् गीता' में जहां भी जीवन्मुक्त महात्मा या स्थितप्रज्ञ योगी के लक्षणों का वर्णन किया गया है, वहां 'समत्व', दृष्टि पर विशेष बल दिया गया है। वस्तुतः वैषम्य मोघ-दृष्टि का प्रतिफल है, मोह-दृष्टि का आभास है। जहां साधक विषयों के आकर्षण से इन्द्रियग्राम को मुक्त करके अन्तःकरणों को संयमन द्वारा आत्मा में प्रतिष्ठित कर लेता है, वहीं वह विषमता के गुरुत्वाकर्षण से परे एक ऐसे लोक में सहज विचरण करने लगता है, जहां अनाहत नाद है, अखंड आनन्द और सम्पूर्ण समता का साम्राज्य है।

योग का आचरण आसक्ति रहित भाव से करने का उपदेश देते हुए गीताकार ने 'योग' का लक्षण किया है—

समत्वं योग उच्यते[1]

जीवन के प्रत्येक कार्य के फल की सिद्धि या असिद्धि के प्रति समत्व-भाव ही योग है। योग का उपदेश ही गीता का सार है और उस सार में समत्व-दर्शन ही निहित है। यद्यपि विभिन्न विद्वानों ने गीता में उपदिष्ट तत्त्वज्ञान की कहीं कर्मयोगपरक, कहीं ज्ञानयोगपरक, कहीं भक्तियोग परक, कहीं कर्म-संन्यास योगपरक या अनासक्तियोगपरक व्याख्याएं की हैं, किन्तु साधना के प्रत्येक मार्ग द्वारा सिद्ध दशा को प्राप्त हुए योगी के सम्पूर्ण लक्षणों का चरम स्वरूप क्या है, यदि यह प्रश्न किया जाय तो उसका उत्तर होगा—'समता'। समत्व दर्शन माला के मणियों में सूत्र की तरह गीता के सभी तत्त्व दर्शनों में ओत-प्रोत है।

---

१. २।४८

समदर्शी ही सच्चा योगी है। वह कर्म के विविध फलों के प्रति ही नहीं, संसार के चर-अचर सभी भूत-समुदय को भी आत्म-दृष्टि से देखता है। श्री कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करके कहा है :—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥[1]

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥:[2]

—हे अर्जुन ! जो योगी आत्म-सादृश्य से सम्पूर्ण भूतों में समदृष्टि रखता है, सुख हो या दुःख-दोनों में जिसकी दृष्टि सम रहती है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। विद्या-विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चांडाल— इन सभी को ज्ञानीजन समभाव से देखने वाले होते हैं।

यहां 'समदर्शी' शब्द का प्रयोग है, 'समवर्ती' का नहीं। प्रायः संकीर्ण विचार के लोग इसका अर्थ यह भी करते हैं कि गीता दृष्टि के स्तर पर समता और व्यवहार के स्तर पर भेदभाव का प्रच्छन्न उपदेश देती है। यह श्लोक का अर्थ नहीं अनर्थ है। जैविक स्तर पर 'वर्तन' का अन्तर होना स्वाभाविक है और गुण-कर्म-विभाग के आधार पर व्यवहार भी पृथक् होते हैं। महत्त्व तो 'दृष्टि' का है जो आत्मिक स्तर पर साधक की उपलब्धि होती है। इसलिए ज्ञानी को 'समदर्शी' कहा गया है।

यह समदर्शित्व कर्म के द्विविध फलों या संसार के विभिन्न भूतजात में ही नहीं, हर्षशोकादि के द्वन्द्वमय मनोभावों के प्रति भी होना अनिवार्य है। द्वादश अध्याय में भगवद् भक्त के लक्षणों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः',[3] अनपेक्षः, उदासीन[4], शुभाशुभपरित्यागी[5], 'सम-दुःखसुखः[6] 'तुल्यनिन्दास्तुतिः' 'अनिकेतः'[7] पदों का प्रयोग 'समत्व-दर्शन, प्रति-पादन के लिए ही किया गया है। 'स्थितप्रज्ञ' मुनि वही होता है, जो दुःखों में अनुद्विग्न और सुखों के प्रति निःस्पृह वना रहे, न जिसमें राग हो, न भय, न क्रोध, न द्वेष[8]; वही वायुरहित स्थान में जलती दीपशिखा के समान अकम्प[9] और समुद्र के सदृश 'अचलप्रतिष्ठ' होता है।[10] वस्तुतः समता ही एकता है। यही परमेश्वर का स्वरूप है। इसमें स्थित हो जाने का नाम ही 'ब्राह्मी स्थिति है। जिसकी इसमें गाढ़ स्थिति होती है, वह त्रिगुणातीत, निर्विकार, स्थितधी, और योगयुक्त कहलाता है। एक ज्ञान-स्वरूप परमात्मा में वह नित्य स्थित है,

---

१. ६।३२ २. ५।१८ ३. १२।१५ ४. १२।१६
५. १२।१७ ६. १२।१३ ७ १२।१९ ८. २।५६
९. ६।१९ १०. २।७०

इसलिए ज्ञानी है। सर्वत्र उसे परमात्मा के दर्शन होते हैं, इसलिए वह भक्त है। उसे कोई कर्म कभी बांध नहीं सकता, इसी कारण वह जीवन्मुक्त कहलाता है। समता दृष्टि के कारण वह भूतदयावश लोक संग्रह करता है, निष्काम आचरण करता है, इसलिए वह महात्मा कहलाता है। वह 'विज्ञानानंदघन' में तद्रूप होकर स्थिर रहता है। उसका आनंद नित्य, शुद्ध-बुद्ध एवं विलक्षण होता है।

अतः गीता-दर्शन सार रूप में समत्व-दर्शन ही है। यही समता है, यही अद्वैत है। निम्नलिखित श्लोक में स्पष्ट शब्दों में इसी तत्त्व का प्रतिपादन है :-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥[1]

—जिनका मन समत्वभाव में (साम्ये) स्थित है, उनके द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार (सर्ग) जीत लिया गया है। सच्चिदानंदघन ब्रह्म निर्दोष और 'सम' है, अतः समत्व बुद्धि वाले वे जीवन्मुक्त वस्तुतः ब्रह्म में ही स्थित हैं।

१. ५।१९

१८

समता : प्लेटो का दृष्टिकोण

☐ श्री के० एल० शर्मा

समता या 'सम का भाव' व्यक्त करने वाले शब्द का प्रयोग करते ही मन में स्वतः ही एक प्रश्न उठता है कि 'समता' किस के बीच ? उदाहरण के लिये अगर यह कहा जाय कि वस्तु 'अ', वस्तु 'ब' के समान है या उनमें समता है तो इस कथन का क्या अर्थ है ? क्या दो वस्तुएं एक दूसरे से पूर्णतः समान हो सकती हैं ? वास्तव में, एक ही वर्ग की दो वस्तुओं में पूर्ण समता नहीं होती। उदाहरण के लिए, यह सम्भव हो सकता है कि दो टेबिलों में रंग, ऊंचाई, भार आदि गुणों में समानता हो लेकिन अन्य दृष्टिकोणों से उन दोनों टेबिलों में अन्तर अवश्य है। यह बात हो सकती है कि उनमें जो असमानता है वह हमें स्पष्ट दिखाई न दे। उस असमानता को देखने में भौतिकशास्त्री, रसायनशास्त्री एवं वनस्पतिशास्त्री हमारी सहायता कर सकते हैं। विभेदीकरण की इस प्रक्रिया में हमें भौतिक उपकरणों एवं रासायनिक विधियों का सहारा लेना पड़ेगा।

दो मनुष्यों में असमानताएं तो स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। यहां तक कि एक ही आँवम से पैदा होने वाले जुड़वां बच्चों में दैहिक समता होते हुए भी मनोवैज्ञानिक असमानताएं पाई जाती हैं। वास्तव में देखा जाय तो समता एक प्रत्यय (कान्सेप्ट) मात्र है। यह एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्न करते हैं, हमें प्रयत्न करना चाहिये। दो विचारों या वस्तुओं में समरसता, सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न करना ही इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि उन विचारों या वस्तुओं में पूर्ण समता नहीं है। दो वस्तुओं या विचारों में जितनी अधिक समता होगी, उतना ही उनमें सामंजस्य होगा। अतः समता एक आदर्श है। इस आदर्श को हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जोड़ सकते हैं। आदर्शमय

जीवन अथवा जीवन में पूर्णता तभी सम्भव है जबकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'समभाव' की स्थिति प्राप्त हो, दैहिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं में सामंजस्य हो।

सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक प्लेटो (४२८-३४७ ई० पूर्व) की बहुचर्चित पुस्तक (डायलॉग) 'रिपब्लिक' की प्रमुख थीम 'समरसता' है। प्लेटो की उपर्युक्त पुस्तक में वर्णित, समाज, आत्मा, शिक्षा एवं कला सम्बन्धी विचारों में इसी आदर्श—समरसता का आदर्श—की प्राप्ति की झलक मिलती है। इस संक्षिप्त लेख में, हम प्लेटो के 'समरसता' के 'प्रत्यय' पर चर्चा करेंगे।

प्लेटो के रिपब्लिक की प्रमुख समस्या है—न्याय (नैतिकता) का स्वरूप क्या है ? तथा क्या अन्यायी व्यक्ति (अनैतिक व्यक्ति) न्यायी व्यक्ति की तुलना में सुखी रहता है ? प्रथम प्लेटो इन प्रश्नों के प्रचलित उत्तरों का खण्डन करते हैं। इसके उपरान्त इन प्रश्नों के उत्तर के लिए 'आदर्श राज्य' की कल्पना करते हैं। पहले उन्होंने इन प्रश्नों का उत्तर समाज के संदर्भ में देने का प्रयत्न किया है और इसके बाद (उन्हीं तर्कों के आधार पर) आत्मा या व्यक्ति के संदर्भ में न्याय के प्रश्न पर चर्चा की है।

प्लेटो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्यों में वैयक्तिक भिन्नताएं होती हैं। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूर्णरूपेण समान नहीं होता। उनमें कई दृष्टियों से असमनाताएं होती हैं। इसीलिये प्लेटो की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिलना चाहिये। इतना ही नहीं, कार्यों के स्वरूप में भी भिन्नताएं होती हैं।। अतः कार्यों या व्यवसायों की मांगों के अनुसार व्यक्तियों का चुनाव करना चाहिए। प्लेटो के इस मत को सार रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि 'काम को आदमी और आदमी को काम' मिलना चाहिये।

यहां एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है। वह प्रश्न है प्लेटो का इस सब से क्या आशय है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कोई समाज आदर्श समाज तभी बन सकता है जब प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिले। व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण क्षमता का प्रदर्शन इसी स्थिति में कर सकता है, अन्यथा नहीं। जब सभी नागरिक अपनी क्षमता के अनुसार पूरा-पूरा काम करेंगे तो समाज में सामंजस्य उत्पन्न होगा। सामंजस्य से युक्त समाज प्रगति करता है और उसके नागरिक सुखी होते हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि न्याय की समस्या को प्लेटो ने दो संदर्भों में उठाया है—प्रथम राज्य (समाज) के संदर्भ में तथा द्वितीय व्यक्ति या

आत्मा के संदर्भ में। प्लेटो के आदर्श राज्य में तीन कोटियों के व्यक्ति हैं— उत्पादक वर्ग (Economic class), सैनिक वर्ग तथा शासक वर्ग। इन व्यक्तियों को उनकी योग्यता के आधार पर ही इन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है। प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को केवल वही कर्म करना चाहिये जो कि उसके वर्ग के लिए करना है। समाज में असामान्य स्थिति तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपना कार्य छोड़कर, अथवा अपने कार्य के साथ-साथ अन्य कार्य भी करने लगे। ऐसा करने पर व्यक्ति अपने मूल कार्य को भली प्रकार पूर्ण क्षमता से नहीं कर पायेगा। उदाहरण के लिये अगर कोई अध्यापक, अध्यापन कार्य के साथ-साथ व्यापार भी करने लगे तो वह अपने मूल कार्य—अध्यापन को भली-भांति नहीं कर पायेगा। इसका छात्रों एवं समाज पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। प्लेटो ने 'एक आदमी और एक काम' (One man, one job) का नारा दिया। इसका तात्पर्य ही यही था कि व्यक्ति की पूरी क्षमता का उपयोग करना और सामाजिक सामंजस्यता को बनाये रखना।

उत्पादक वर्ग का काम वस्तुओं का उत्पादन करना एवं विनिमय करना है। अगर उत्पादक, सैनिक या शासक के कार्य में भी रुचि लेने लगे तो इसका उत्पादन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसलिये प्लेटो ने उत्पादक वर्ग के लिये जिस सद्गुण की चर्चा की है वह है—'आत्म निग्रह'। आत्मनिग्रह से तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को जो कार्य सौंपा गया है, उसे वह दत्तचित्त होकर करे और अन्य कार्यों में लगकर अपनी शक्ति नष्ट न करे।

प्रत्येक व्यक्ति या व्यवसाय समाज के लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि कोई अन्य व्यवसाय। सैनिक वर्ग का कार्य उत्पादक वर्ग की सहायता करना एवं देश की शत्रुओं से रक्षा करना है। इस वर्ग के व्यक्तियों में 'साहस' का गुण तो होना ही चाहिए लेकिन इसके साथ-साथ आत्म-निग्रह भी अत्यन्त आवश्यक है। सैनिक में अगर साहस न होगा तो वह अपनी एवं अपने देश की रक्षा नहीं कर पायेगा। आत्मनिग्रह का सैनिकों के सन्दर्भ में, अर्थ है, शौर्य का यथास्थान प्रदर्शन करना। शासक वर्ग में उपर्युक्त दो गुणों—आत्म निग्रह एवं साहस—के साथ-साथ 'विवेक' भी होना चाहिये। 'विवेक' ही ऐसा गुण है जिसके आधार पर वह 'क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये' में भेद स्थापित कर सकता है। समाज आदर्श समाज तभी बन सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्य को अपनी सम्पूर्ण क्षमता से करे। समाज में पतन तब आता है जब व्यक्ति अपना 'कर्म' छोड़कर अन्य कर्म भी करना चाहे। शासक जब सैनिक भी बनना चाहे या सैनिक शासक बनना चाहे तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति के इतिहास में बहुत से प्रमाण मिल जायेंगे।

'न्याय' को प्लेटो ने चतुर्थ सद्गुण माना है। पर यह अन्य तीन सद्गुणों

—आत्म निग्रह, साहस एवं विवेक—से भिन्न कोई अन्य सद्‌गुण नहीं है वरन् इसकी उत्पत्ति इन्हीं के सामंजस्य से होती है। न्यायी समाज वह समाज है जिसमें उपर्युक्त तीनों गुणों में पूर्ण सामंजस्य हो। दूसरे शब्दों में समाज के सभी वर्ग मिलजुल कर कार्य करें, तभी समाज 'न्यायी' समाज वनता है।

यह प्रश्न कि व्यक्ति कर्त्तव्य भावना से काम क्यों करें जवकि उसे इसमें किसी प्रकार का सुख (भौतिक) न मिलता हो, उठना स्वाभाविक है। इस प्रश्न की ओर प्लेटो का ध्यान था। इसीलिये आदर्श राज्य में सामंजस्यता लाने के लिए प्लेटो ने कहा कि धन एवं अन्य भौतिक सुविधाएं रखने की छूट केवल उत्पादक वर्ग को ही मिलेगी। शासक वर्ग को इस प्रकार की कोई सुविधा नहीं होगी। उसने तो यहां तक कहा है कि शासक वर्ग का परिवार भी नहीं होगा। (प्लेटो आज के समान, यह मानते थे कि व्यक्ति भ्रष्ट कार्य परिवार के लिये सम्पत्ति इकट्ठा करने के लिए ही करता है।)

प्लेटो ने समाज को एक मूर्ति के समान माना। मूर्ति की सुन्दरता इस वात में निहित है कि उसके सभी अंगों में समरसता हो। कोई एक अंग अति सुन्दर हो तथा अन्य अंग उसकी तुलना में सुन्दर न हों तो मूर्ति को सुन्दर नहीं कहा जा सकता। अगर शासकों को ही सब सुविधाएं दे दी जायेंगी तो वह समाज उस मूर्ति के समान हो जायेगा जिसका मुंह तो अति सुन्दर है लेकिन अन्य अंगों पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया हो। शासक, जो स्वभावतः स्वर्ण के हैं, उन्हें धन-सम्पत्ति इकट्ठी नहीं करनी चाहिए अर्थात् उन्हें इन चीजों का उन लोगों के लिए त्याग करना चाहिये जिन्हें इनकी आवश्यकता हो। धन—सम्पत्ति या अर्थ ही एक वस्तु है जो कि सामाजिक संतुलन को विगाड़ देती है। अतः प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य में अर्थ को उतना ही महत्त्व दिया जायगा कि व्यक्ति की अपनी आवश्यताओं की पूर्ति हो जाय।

कुछ आलोचक यह प्रश्न उठाते हैं कि प्लेटो के आदर्श राज्य की कल्पना मात्र कल्पना है। इसे व्यवहार रूप प्रदान नहीं किया जा सकता। प्लेटो के अनुसार इस प्रकार का राज्य तभी संभव हो सकता है जब दार्शनिक शासक हो या शासक दार्शनिक हो। दर्शन एवं राजनीति के बीच सामंजस्य प्लेटो की अद्‌भुत कल्पना थी।(आज जो भी अव्यवस्था है, वह इसीलिए है कि योग्य व्यक्ति शासन में रुचि नहीं लेते।) प्लेटो ने विशुद्ध दर्शन एवं विशुद्ध राजनीति को अपने आदर्श राज्य में कोई स्थान नहीं दिया। अच्छा शासक वनने के लिये दर्शन और राजनीति में सामंजस्य होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नहीं, शासक जो ज्ञानी भी हैं, का यह कर्त्तव्य है कि वे अज्ञानी व्यक्तियों को उठायें, उन्हें ज्योति प्रदान करें। प्लेटो ने इस वात को 'गुफा की उपमा' में भलीभांति स्पष्ट किया है। अज्ञानी व्यक्ति गफा में पड़े हुए व्यक्तियों के समान हैं।

इन दार्शनिकों का काम उन्हें गुफा से बाहर निकालना है और उन्हें प्रकाश में लाना है।

व्यक्ति या आत्मा के संदर्भ में भी प्लेटो ने न्याय के प्रश्न को उठाया है। प्लेटो आत्मा के तीन पहलू मानते हैं। इच्छात्मक (Appetitive), भावात्मक (Spirited) तथा ज्ञानात्मक (Rational) पहलू। जब इन तीनों पहलुओं में सामंजस्य होता है तब आत्मा में न्याय की उत्पत्ति होती है। फ्रायड (मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिक) ने भी व्यक्तित्व के तीन पहलू—इड, ईगो एवं सुपरईगो माने हैं। 'इड' का सम्बन्ध इच्छाओं (दमित) से है। 'ईगो' व्यक्तित्व का वह पहलू है जो वास्तविकता (Reality) के सम्पर्क में आता है तथा 'सुपरईगो' का निर्माण सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक आदर्श करते हैं। अगर इन तीनों पहलुओं में सामंजस्य होता है तो वह व्यक्तित्व सामान्य व्यक्तित्व कहलाता है। व्यक्ति के व्यवहार में असामान्यता तब आती है जब 'ईगो' इड या सुपरईगो द्वारा परिचालित होता है।

समरसता या सामंजस्यता के लिये प्लेटो ने केवल समाज एवं व्यक्ति के संदर्भ में ही चर्चा नहीं की है वरन् अन्य सन्दर्भों में भी इसी तत्त्व को महत्ता प्रदान की है।

'रिपब्लिक' में प्लेटो ने जो शिक्षा-व्यवस्था प्रदान की है, उसके दो स्तर हैं—प्राथमिक शिक्षा एवं उच्च शिक्षा। प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर प्लेटो ने व्यायाम और संगीत (संगीत शब्द का प्रयोग यहां सभी प्रकार की कलाओं के अर्थ में किया गया है) को पाठ्यक्रम में रखा है। उच्चस्तरीय शिक्षा केवल उन्हीं चुने हुए व्यक्तियों को दी जाएगी जिन्हें शासक बनाना है। इस स्तर पर गणित एवं दर्शन (Dialectics) विषयों की शिक्षा की व्यवस्था है। शिक्षा के इस पाठ्यक्रम—व्यायाम, संगीत, गणित एवं दर्शन पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि इसमें इस बात का प्रावधान रखा गया है कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो; शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं में सामंजस्य स्थापित हो, दोनों के विकास के समान अवसर हों।

संगीत एवं कला के क्षेत्र में प्लेटो ने सामंजस्य पर बल दिया है। संगीत-शिक्षा के पाठ्यक्रम पर चर्चा करते हुए उसने कहा है कि पाठ्यक्रम में तेज धुनों, संवेगों को तीव्रता से उभारने वाली धुनों एवं मिश्रित धुनों को स्थान न दिया जाय। संगीत इस प्रकार का हो कि व्यक्ति के संवेगों में उथल-पुथल पैदा न हो तथा संगीत से व्यक्ति में समरसभाव की उत्पत्ति हो।

यहां स्त्रियों एवं परिवार के बारे में कुछ शब्द कहना अपेक्षित है। प्लेटो

स्त्रियों एवं पुरुषों में अन्तर नहीं मानते । स्त्रियां भी पुरुषों की भांति शासक, सैनिक आदि सभी कुछ बन सकती हैं । लेकिन चूंकि पुरुष प्रजनन नहीं कर सकते अतः स्त्रियां परिवार एवं बच्चों के लालन-पालन का कार्य ही करें तो सामाजिक सामंजस्य के लिए उत्तम रहेगा ।

संक्षेप में, उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्लेटो के 'रिपब्लिक' की मुख्य समस्या समरसता के आदर्श की प्रतिस्थापना है । जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्होंने इस आदर्श की प्राप्ति पर बल दिया है ।

१९
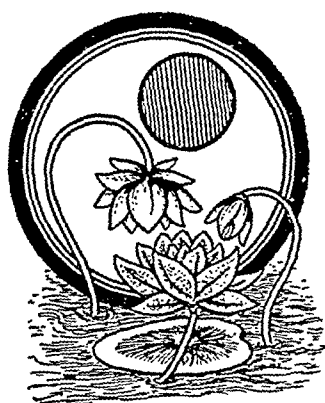
ईसाई धर्म में समता का स्वरूप

☐ श्री जेड० आर० मसीह

आज समस्त संसार में, प्रत्येक दिशा में घोर निराशा का सा वातावरण प्रायः देखने में आता है। चाहे धनवान व्यक्ति हो अथवा निर्धन, ऊँचे वर्ग की श्रेणी में आता हो अथवा निचली में, किसी-न-किसी प्रकार की चिन्ता उसे घेरे रहती है। इसी चिन्ता का परिणाम है—असंतोष। असंतोष से मानव में घृणा उत्पन्न होती है एवं घृणा से पाप का जन्म होता है। अतः मनुष्य शरीर के लिए आवश्यकताओं की पूर्ति दो भागों में प्रायः विभक्त की जा सकती है—

(अ) सांसारिक और (व) आध्यात्मिक

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और जिस समाज का वह सदस्य है, उसी समाज के सामयिक स्तर पर वह जीवनयापन के लिए लालायित होता है और समानता के स्तर पर पहुँचने के लिए यदि उसे ऐसे कार्य भी करने पड़ें, जिससे मान, मर्यादा एवं अनुशासन भंग होता हो, तब भी वह सांसारिक लोलुपता एवं भोगविलास के लिए प्रायः साधन जुटाता है।

इस स्थिति में भी सभी वर्ग के लोग नहीं आते। कुछ ऐसे भी होते हैं जो इस प्रकार साधन नहीं जुटा पाते अथवा नहीं चाहते, किन्तु पारिवारिक समस्याएँ और सामाजिक चेतना उन्हें कचोटती रहती है। ऐसी स्थिति में मानव में घृणा उत्पन्न होती है और घृणा से पाप। इस प्रकार असंतोष का एक भयंकर परिणाम यह होता है कि मनुष्य का साहस टूट जाता है और इससे वह आत्म-हत्या तक कर लेता है।

हमारे देश भारतवर्ष में इन आत्महत्याओं का दर अमेरिका की अपेक्षा अधिक है। अभी कुछ समय पूर्व ही प्राप्त आंकड़ों के आधार पर अमेरिका में

प्रत्येक ३८ घण्टे के अन्तर्गत एक आत्महत्या होती है जबकि बंगलौर में २६ घन्टे में एक। इससे भी भयानक और हृदय विदारक सत्य यह कहा जाता है कि भारत में प्रति १२ मिनिट के अन्तर्गत एक आत्महत्या होती है। भारत के गाँव तथा शहरों में प्रतिदिन ११० के लगभग आत्महत्याएँ होती हैं, जिनमें से अधिकांश डूबकर या जहर पीकर होती हैं।

आखिर यह सब क्यों? मनुष्य इतना क्षीण क्यों? इन सबका एक ही उत्तर है जो पवित्र धर्म शास्त्र 'बाइबिल' में इस प्रकार वर्णित है—जब उन्होंने परमेश्वर को पहिचानना न चाहा, इसलिए परमेश्वर ने भी उन्हें उनके निकम्मे मन पर छोड़ दिया कि वे अनुचित काम करें। [रोमियों १ अध्याय २८ पद]

आज संसार का प्रत्येक वर्ग किसी-न-किसी कारण से सशंकित है तथा संतुष्ट होने के लिए अनेक उपाय करता है। प्रत्येक दैनिक समाचार पत्रिका इस तथ्य की साक्षी हो सकती है कि संसार में कितना अन्याय और दुःख है। यह सब पढ़ कर कोई भी विचारशील व्यक्ति यह प्रश्न करेगा कि आखिर में सारे दुःख कहाँ से आते हैं और क्यों होते हैं? यदि यह जिज्ञासा करने वाला किसी प्रकार का धार्मिक विश्वास रखता हो, तो उसका प्रश्न ऐसा रूप धारण करेगा कि क्या परमेश्वर इन सब बातों को नहीं देखता, या वह इनके प्रति निश्चित रहता है? क्या वह इनका निवारण करना नहीं चाहता या वह इनके विषय में कुछ कर नहीं सकता? इस प्रकार के प्रश्न आना स्वाभाविक है और आवश्यक है कि इनका उत्तर भी हो।

ईसाई धर्मावलम्बी का यह विश्वास है कि एक सर्व शक्तिमान, न्यायशील, प्रेमी पिता परमेश्वर इस विश्व का सृजनहार और पालनहार है। हम अपने अनुभवों के आधार पर कह सकते हैं कि मनुष्य का दुःख कोई काल्पनिक अथवा स्वप्न नहीं, बल्कि वास्तविकता है। यदि कोई भक्तजन असाध्य रोग से पीड़ित है या निर्दोष बालक की असामयिक मृत्यु होती है, तब हम क्या कह सकते हैं? ऐसी समस्याओं पर विचार करते समय तीन प्रमुख बातों को सम्मुख रखना होगा—

(१) सृष्टि पर परमेश्वर का पूरा अधिकार है।

(२) परमेश्वर शुद्ध और पवित्र प्रेममय है।

(३) संसार में पाप और दुःख वर्तमान और वास्तविक हैं।

ईसाई मत के अनुसार परमेश्वर ने मनुष्य को स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में सृजा और इसके द्वारा उसने अपने सर्व सामर्थ्य को कुछ अंश तक सीमित

केया। सृष्टि में परमेश्वर का मनुष्य को बनाने का यह अभिप्राय प्रतीत नहीं होता कि मनुष्य ऐसे निर्जीव यंत्र के समान हो जो अपरिवर्तनशील नियमों पर चलता हो। परमेश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप में और अपने साथ संगति रखने के लिए सृजा है। यह संगति संभव हो सकती है, परन्तु इसमें न केवल सबसे उत्तम जीवन की प्राप्ति की सम्भावना है बल्कि साथ ही परमेश्वर के प्रति विद्रोह और पाप में गिरने की भी सम्भावना है। सृष्टि में जो स्वतन्त्रता हमें दी गई है उसमें भला और बुरा चुनने का अवसर और चुनने का उत्तरदायित्व भी दिया गया है। यदि ऐसा नहीं होता तो मनुष्य, मनुष्य न होकर और कुछ कम होता।

पवित्र धर्म शास्त्र 'बाइबिल' सृष्टि के सम्बन्ध में परमेश्वर के इस अभिप्राय को स्पष्ट करती है। संसार में भी बहुत सी बातें हैं जो गवाही देती हैं कि यह ऐसा स्थान है जिसका अभिप्राय यह है कि हम उसमें नैतिक उत्तरदायित्व को सीख लें और सद्नीति पर चलें। परमेश्वर ने बुराई को उत्पन्न नहीं किया और वह चाहता नहीं कि मनुष्य पाप करे, तो भी उसने ऐसे संसार को सृजा है जिसमें पाप संभव हो सकता है। जब हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी बुरे मार्ग पर चलते हैं, तब भी परमेश्वर हमारी स्वतन्त्रता को वापिस नहीं लेता बल्कि वह हमें अपने अच्छे अथवा बुरे चुनाव का फल भोगने देता है। वह हमें कठपुतली नहीं किन्तु व्यक्ति समझकर हमारे साथ व्यवहार करता है। इस कारण वह हमें पाप और पाप के दुष्परिणामों से भी नहीं रोकता है। उसने हमें स्वतन्त्र बनाया और मनुष्य इस प्रकार प्रदान की गई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर परमेश्वर के विरुद्ध विद्रोही बन दुःख का भागीदार हुआ।

मसीही विश्वास की यही आधारशिला है। "क्योंकि परमेश्वर ने जगत् से ऐसा प्रेम रखा कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे, वह नाश न हो, परन्तु अनन्त जीवन पाए"।

(यूहन्ना ३-१६ पद)

अतः यदि मनुष्य अपना प्राण त्याग भी दे तो भी एक समय उसे प्रभु यिशु मसीह के सम्मुख आना होगा, अपने कर्मों के अनुसार न्याय पाने के लिए। समस्त क्लेशों, दुःखों व पापों का एकमात्र उपाय यही है जो प्रभु यिशु मसीह के एक शिष्य मत्ती द्वारा अंकित किया गया है—"हे सब परिश्रम करने वालो और बोझ से दबे हुए लोगो! मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूंगा।

(मत्ती ११ : २८)

लोगों के लिए अर्थात् सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए है। यिशू मसीह ने पतित मानव-जाति के पाप का भार उठा लिया। वह क्रूस पर मरा और फिर जी उठा। मसीह के साथ जीवन हमें सांसारिक दुःख से बचाता है ऐसा नहीं, किन्तु वह मार्ग है जो हमें दुःखों के बीच से होकर ऐसे लक्ष्य तक पहुँचाता है जो उन दुःखों से परे है। यह मार्ग निराशा और पराजय का मार्ग नहीं बल्कि मसीह के साथ आशा, आनन्द और विजय का मार्ग है। यह अनुभव न केवल यिशू मसीह के शिष्यों का है बल्कि इतिहास साक्षी है कि प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी और अध्यात्मवेत्ताओं में गिने जाने वाले एल्बर्ट स्वाइत्जर जैसे व्यक्तियों का भी है।

२०
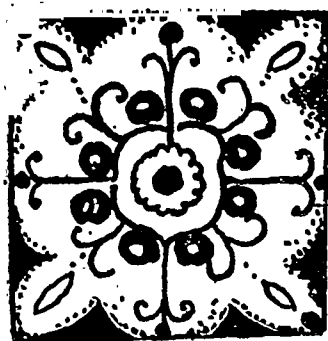
इस्लामी जीवन-दर्शन में समता की भूमिका

□ डॉ० फ़ज़्ले इमाम

"लेयुस्जदेलहू माफ़िस्समावाते व माफ़िल अर्ज़०"

—कुरआने मजीद

इस्लाम की मांग :

अल्लाह के लिए सम्पूर्ण जगत् की समस्त वस्तुएँ जो आसमान और ज़मीन में हैं, सर झुकाए हुए हैं। बल्कि इन्सान तो कभी बाग़ी, अल्लाह की हुकूमत का हो भी जाता है लेकिन इन्सान के अलावा दुनिया का कोई भी अंश अल्लाह का बाग़ी नहीं हो सकता है। जिसके लिए जो विधान नियमित है वह उसी विधान का पाबन्द है और इसीलिए यह दीने इस्लाम कोई अलग से पाबन्दी नहीं है जो इन्सान पर लागू होती है बल्कि वह पाबन्दी है जो प्रकृति के सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण दुनिया को घेरे हुए है, बस अन्तर केवल इतना है कि तमाम दुनिया का इस्लाम बेअख्तियारी और नाचारी का नतीजा है और इन्सान से अख्तियारी और ऐच्छिक इस्लाम की मांग है।

इस्लाम का अर्थ :

इस्लाम का अर्थ हुक्म मानकर सर झुका देने का है। अल्लाह के सामने यह सब तमाम चीजें जो भी आसमान और ज़मीन में हैं, सर झुकाए हुए हैं। इस्लामी बलन्दी को इस्लाम ने क़ुरआन में भी प्रकाशित किया है :—

"लक़द ख़लक़नल इन्साना फ़ी अहसनेतक़वीम०" क़ुरआन की इस आयत में इन्सान की सबसे अधिक श्रेष्ठता की बात कही गयी है। चूँकि दुनिया

ने इन्सान के वास्तविक स्थान को नहीं समझा, इसलिए उसके चरित्र के स्तर का भी वास्तविक निर्धारण नहीं हो सका और दृष्टिकोण में बलन्दी पैदा न हो सकी।

स्पष्ट है कि हमेशा उद्देश्य, माध्यम से बलन्द होता है। जो चीज़ निम्न होगी उसका उपयोग उसी अनुपात से निम्न होगा और जो चीज़ बलन्द होगी उसका उद्देश्य उसी के अनुसार बलन्दतरीन होगा। यही इस्लाम का उद्देश्य है और इसी उद्देश्य को एक लाख तेईस हज़ार नौ सौ निन्नावे पैग़म्बरों ने पेश किया। अन्त में इस्लाम के आख़िरी पैग़म्बर हजरत मुहम्मद मुस्तफ़ा ने इसी उद्देश्य को प्रतिपादित किया। लेकिन जिस दौर में वे इस उद्देश्य को लेकर बढ़े, उस समय केवल अरब ही में नहीं बल्कि सारी दुनिया में अंधेरा था, क्योंकि छठी सदी ईसवी का इतिहास यह बताता है कि उस समय समस्त विश्व पर अंधेरा फैला हुआ था। हज़रते ईसा, हज़रते मूसा आदि पैग़म्बरों की शिक्षाएँ परिवर्तित हो चुकी थीं, लेकिन सब से गहरा, काला, दम घोटने वाला अंधेरा अरब में था। इसलिए हज़रत मुहम्मद 'अरब' को ही चुनते हैं और यह बताना चाहते हैं कि जब जाहिल, अनपढ़, उद्दंड, उच्छृंखल अरब अच्छे इन्सान बन सकते हैं तो कौन दुनिया का ऐसा बिगड़ा हुआ इन्सान है जो इन्सानियत नहीं सीख सकता है। बहुत इतिहास में जाने की आवश्यकता नहीं, बस इतना ही समझ लीजिए कि हजरत मुहम्मद, अरब के उस इन्सान को इन्सान बना रहे थे जो बाप नहीं, अपनी बेटी का क़ातिल था, जो अपने दिल के टुकड़ों को मिट्टी में ज़िन्दा गाड़ देता था। यह बहुत बड़ा परिवर्तन था अर्थात् जिसके सीने में क़ातिल दिल है, उसके सीने में दिल तो वही रहे लेकिन भाव इतना अधिक बदल जाये कि अपनी ही बेटी क्या दूसरे की बेटी दिखाई दे तो उसको भी बाप की मुहब्बत और स्नेह देने पर विवश हो जाये।

मानसिक इन्क़लाब :

प्रश्न उठता है कि यह परिवर्तन, यह मानसिक इन्क़लाब कैसे और क्यों-कर हुआ ? क्या हज़रत मुहम्मद जादूगर थे कि जादू की छड़ी घुमाई और लोगों की आँखें और दिल बदल गये। याद रखिए कि पैग़म्बर इस्लाम यह परिवर्तन तलवार दिखा कर नहीं कर रहे थे। वे प्रेम, स्नेह, चरित्र और व्यवहार से यह परिवर्तन ला रहे थे। वे इस्लाम का इन्क़लाबी दर्शन पेश कर रहे थे, जहाँ बुरे से बुरा इन्सान भी अच्छा बन जाता है। इस्लाम का यह सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है कि बुराई, ताक़त से नहीं मिटती है। ताक़त के द्वारा बुराई थोड़ी देर के लिए रोकी जा सकती है, मिटाई नहीं जा सकती है। उदाहरणार्थ कोई बूढ़ा किसी बच्चे को डांटकर बुराई से रोकना चाहता है तो जब तलक बुजुर्ग की लाल आँखें उसे देखती रहेंगी तब तक वह बुराई से रुका

रहेगा, लेकिन जब बुजुर्ग हट जाये, बच्चा फिर बुराई शुरू कर देगा। अगर रुकावटों व प्रतिबन्धों के द्वारा बुराई से रोका जायेगा तो प्रतिबन्ध जितनी देर रहेगा, बुराई उतनी ही देर रुकी रहेगी। इसके विपरीत इस्लाम का इन्क़लाबी दर्शन ऐसी दीक्षा (तरबियत) पेश करता है जिसका प्रभाव यह है कि प्रतिबन्ध हटा लिए जायें, इन्सान को बुराई करने पर पूर्ण छूट एवं अधिकार हो; फिर भी वह बुराई करने पर तैयार न हो।

बुराई : कारण और निवारण :

हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा ने यह बताया कि बुराई मिटाने से पूर्व यह देखो कि बुराई पैदा कैसे होती है ? जब तक बुराई का कारण नहीं ढूँढेंगे तब तक बुराई नहीं मिटेगी। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति जिसका बुख़ार इतना बढ़ गया है कि उसे सरसाय हो गया और वह बहकी-बहकी बातें करने लगा। उसके बुख़ार को देखकर मैं भी यह कर सकता हूँ कि उसके शरीर पर बर्फ़ रख दूँ ताकि उसका बुख़ार गिरने लगे। लेकिन जैसे-जैसे बर्फ़ पिघलती जाएगी, बुख़ार फिर उभरने लगेगा। ज्ञात हुआ कि हमने बीमारी का ज़ोर रोका, मगर जो उसका कारण था उसे नहीं मिटाया। अगर बुख़ार जिगर (Liver) की खराबी से है तो जब तक जिगर (Liver) ठीक नहीं होगा, बुख़ार नहीं जा सकता है। इस्लाम ने बुराई तो रोकी, मगर इस तरह कि बुराई की जड़ काट दी।

दुनिया वालों में, इन्सान के दिल में यह एक प्राकृतिक भावना है। एक समान स्वाभाविक भाव है। यही स्वभाव जब असन्तुलित और बिना नकेल के हो जाता है तो बुराइयों का कारण बनता है। यह स्वभाव हर इन्सान में है, कि जो भी उसे मिले, ले ले। यह ले लेने का भाव इतना प्रबल है कि इससे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। अगर इस प्राकृतिक भाव को मालूम करना हो तो बच्चे से सीखिए। बच्चा, जब बात समझने लगे, आप अपनी ख़ाली मुट्ठी बढ़ाइए। आपकी मुट्ठी में कुछ नहीं है मगर आप उससे कहें, लो बेटा ! उसे पता नहीं कि आप उसे धोखा दे रहे हैं, आपका हाथ ख़ाली है मगर वह लेने के लिए हाथ बढ़ा देगा। बच्चे ने पाने की आशा में हाथ बढ़ाकर बताया कि प्रकृति ने लेना सिखाया है। न पाकर सम्भव है कि वह बच्चा रोने लगे, लेकिन उसका रोना भी बताता है कि प्रकृति ने लेना सिखाया था। प्रत्येक इन्सान में यह भावना बचपने से पैदा होती है और आयु के साथ-साथ बढ़ती रहती है। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा हुआ, लेने की भावना भी बड़ी हुई। जब जवान हुआ तो लेने की भावना भी जवान हुई। जब पढ़ लिखकर शिक्षित हुआ तो लेने की भावना भी शिक्षित हुई। जब उसमें शक्ति पैदा हुई तो लेने की भावना भी शक्तिशाली हुई। इन्सान ने मुहल्ले, गाँव, शहर में अपना प्रभाव पैदा किया

तो पूरे शहर को निचोड़ने लगा। जिसका प्रभाव देश में पैदा हुआ वह पूरे देश का तेल निकालने लगा। जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव पैदा कर सका वह पूरी दुनिया को पीसने का प्रयत्न करने लगा। निष्कर्ष यह निकला कि इन्सान जितना बढ़ता जा रहा है, जितना फैलता जा रहा है, जितना प्रभावशाली होता जा रहा है, उसी के साथ 'लेने' की भावना भी बढ़ती और फैलती जा रही है।

इस्लाम ने बताया कि दुनिया में समस्त बुराइयों की जड़ यही एक मात्र भावना है। यह भावना जब तक रहेगी, दुनिया में बुराइयाँ भी रहेंगी—लेकिन 'इस्लाम' ने इसी विष से औषधि बना दी। संखिया अवश्य विष है लेकिन डॉक्टर इसी विष से औषधि बनाता है। इसी प्रकार इस्लाम ने इसी लेने की भावना को संशोधित एवं इस्लाह करके इन्सानियत के रोग की चिकित्सा प्रदान की।

लेने वाले घटें : देने वाले बढ़ें :

विश्व में शान्ति तभी स्थापित की जा सकती है जब लेने वाले घटें और देने वाले बढ़ें। संसार में अराजकता, उपद्रव तथा अशान्ति सदैव बढ़ती रहेगी जब 'लेने' वाले बढ़ेंगे और 'देने' वाले घटेंगे। 'लेने' की भावना की वृद्धि में अशान्ति और 'देने' की भावना में शान्ति है।

अब यहाँ यह बात समझ लेना आवश्यक है कि इस लेने की भावना को देने की भावना से इस्लाम ने कैसे बदला है। क्योंकि यह भावना है और रहेगी। इसके लिए इस्लाम ने दो चीजों की ओर ध्यान दिलाया। जिन में एक कम हो और दूसरी अधिक हो। और कहा जाए कि कम दे दो तो हम अधिक दे देंगे तो इन्सान कम देकर अधिक के लिए तैयार हो जायेगा।

बस यही दुनिया नहीं :

इस्लाम ने इन्सानों को यह विश्वास दिलाया कि 'दुनिया' बस यही दुनिया नहीं है। क्योंकि अगर हम सोचते हैं कि बस यही दुनिया है और जब तक हम जीते हैं तभी तक जिन्दगी है तो हम यह समझने पर विवश हो जाएंगे कि जब तक जीवित हैं जो मिल जाए बस वही मिलने वाला है। अतः यदि केवल यही दुनिया मानी जाएगी तो दुनिया में अत्याचार ही अत्याचार रहेगा। शान्ति का नामोनिशान नहीं रह जाएगा।

पैग़म्बर ने अपने जीवन चरित्र से यह प्रमाणित किया कि यह दुनिया ही केवल दुनिया नहीं है अपितु इस दुनिया के बाद एक और दुनिया है, उसका नाम 'आख़िरत' है। इस दुनिया में जो कुछ है, मिटने वाला है। उस दुनिया में जो कुछ है वह सदैव रहने वाला है। यह दुनिया नाश्यवर है, वह दुनिया सदा-

गया है और यह बलन्दी निर्भर करती है, इन्सान की कर्त्तव्यपरायणता पर। इस कर्त्तव्यपरायणता की पस्ती और बलन्दी की सीमाएँ निश्चित की गयी हैं। कर्त्तव्य सदैव एक ही जैसे नहीं रहते हैं। कोई बड़े से बड़ा दार्शनिक, विद्वान् कर्तव्यों की कोई ऐसी सूची नहीं बना सकता है जो हर इन्सान के लिए हर हाल में पालन योग्य हो।

धार्मिक हैसियत से इस्लामी इबादत (उपासना) में सबसे महत्त्वपूर्ण 'नमाज़' है लेकिन अगर कोई पानी में डूबता हो और उसका बचाना नमाज़ भंग करने पर निर्भर हो तो नमाज़ को तोड़ना अनिवार्य है। अगर वह डूब गया और नमाज़ जारी रही तो यह 'नमाज़' अल्लाह की बारगाह में निरस्त हो जायेगी कि मेरा एक बन्दा डूब गया और तुम नमाज़ पढ़ते ही रहे। मुझे ऐसी नमाज़ की आवश्यकता नहीं है। इससे यह ज्ञात हुआ कि इस्लामी दर्शन के दृष्टिकोण से कर्तव्यों एवं उपासनाओं में परिवेश, परिप्रेक्ष, समय तथा काल के अनुसार परिवर्तित होते रहना है और कर्तव्यों की यही परख तथा रक्षा इन्सानियत का विशेष एवं मौलिक अंश है।

पैग़म्बर मुहम्मद की बहादुरी और क्षमा :

इस्लाम ने यह बताया कि कर्तव्यशील इन्सान के व्यवहार एवं आचरण उसके मन से प्रेरित नहीं होते हैं बल्कि कर्तव्यों के तक़ाजों को पूरा करने के लिए होते हैं। इस्लाम के आख़िरी पैग़म्बर हज़रते मुहम्मद मुस्तफ़ा ने चालीस वर्ष पूरे हो जाने के बाद अपनी पैग़म्बरी का एलान किया। चालीस वर्ष तक बिल्कुल ख़ामोश रहे। केवल इन्सानी कर्तव्यों पर व्यावहारिक रूप से प्रकाश डालते रहे। कोई एक शब्द भी नहीं कहते हैं। पैग़म्बरी के एलान के बाद आपको बहुत मुसीबतों, कठिनाइयों और परेशानियों का सामना करना पड़ा। शरीर पर कूड़ा करकट फेंका जाता रहा, पत्थरों की बारिश की जाती रही। मक्का में तेरह वर्ष इसी प्रकार व्यतीत करते रहे। यदि हज़रत मुहम्मद के जीवन के इसी काल को कोई देखे तो यह विश्वास कर लेगा कि जैसे ये अहिंसा के सबसे बड़े समर्थक एवं प्रवर्तक हैं। यह मार्ग इतनी सबलता से निरन्तर अपनाए रहे कि कोई भी पीड़ा, चोट, और व्यंग्य हज़रत मुहम्मद को विचलित नहीं कर सका। इस मध्य में कोई भी ऐसी घटना नहीं होती है जो इस मार्ग के विपरीत हो। यद्यपि कोई लाख बेकस और बेबस हो तो भी उसे जोश आ ही जाता है और वह जान लेने और जान देने को तैयार हो जाता है फिर चाहे उसे और अधिक कष्ट क्यों न उठाना पड़े, मगर एक दो वर्ष नहीं तेरह वर्ष तक निरन्तर पत्थर खाकर भी, सब्र व सकून एवं धैर्य के साथ वही जीवन व्यतीत कर सकता है जिसके सीने में वह दिल और दिल में वह भावना ही न हो जो लड़ाई पर उकसा सके।

इसी मध्य में वह समय भी आता है जब दुश्मन आपकी जिन्दगी के चिराग़ को बुझा देना चाहते हैं और एक रात को निर्णय कर लेते हैं कि उस रात को सब मिलकर हज़रते मुहम्मद को शहीद कर डालें। उस समय भी तलवार, नियाम से बाहर नहीं निकलती, कोई सरदारी का दावा नहीं करते बल्कि ख़ुदा के हुक्म से मक्का छोड़ देते हैं। जो हज़रत मुहम्मद के व्यक्तित्व को नहीं जानता हो, वह इस हटने को क्या समझेगा ? यही तो कि जान के डर से शहर छोड़ दिया—और वास्तविकता भी यही है कि जान की सुरक्षा के लिए यह प्रबन्ध था—लेकिन केवल जान नहीं बल्कि जान के साथ उन उद्देश्यों की सुरक्षा भी थी जो जान से सम्बन्धित थे। बहरहाल कोई इस कदम को कुछ भी कहे, मगर दुनिया इसे बहादुरी तो नहीं कहेगी—और अगर इस रूप को देखकर हज़रत मुहम्मद के बारे में कोई राय क़ायम की जायेगी तो वह भी वास्तविकता के विपरीत और गुमराह करने वाली होगी।

अब, हज़रते मुहम्मद, जब मदीना पहुँचते हैं तो ५३ वर्ष की उम्र है और आगे बुढ़ापे की ओर बढ़ते हुए क़दम हैं। बचपना और जवानी का हिस्सा ख़ामोशी से गुज़रा है और फिर जवानी से लेकर अधेड़ उम्र तक की मन्ज़िलें पत्थर खाते गुज़री हैं—अन्त में जान की सुरक्षा के सम्मुख शहर छोड़ चुके हैं। भला कोई यह कल्पना कर सकता है कि जो एक समय में जान की सुरक्षा के लिए वतन छोड़ दे, वही शीघ्र ही फ़ौजों का सिपहसालार बना दिखाई देगा। हालाँकि मक्का ही में नहीं, मदीना में आने के बाद आपने लड़ाई की कोई तैयारी नहीं की। इसका प्रमाण यह है कि एक वर्ष की अवधि के बाद जब दुश्मनों से मुक़ाबले की नौबत आई तो आपके साथ कुल ३१३ आदमी थे और केवल १३ तलवारें और २ घोड़े थे। स्पष्ट है कि यह एक साल की तैयारी का नतीजा नहीं था, जबकि इस एक साल में मदीना में निर्माण कार्य बहुत से हो गए। कई मस्जिदें, और शरणार्थियों (महाजिरीन) के लिए मकान बन गए। मगर लड़ाई का कोई सामान नहीं एकत्रित किया गया। इस से साफ़ स्पष्ट है कि आपकी ओर से लड़ाई का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। जब दुश्मनों ने अतिक्रमण किये तब जाकर बद्र, उहद, खन्दक, खैबर और हुनैन की लड़ाइयाँ होती हैं। 'उहद' की लड़ाई में सिवा दो एक के सब साथी भाग जाते हैं तो भी आप लड़ाई के मैदान से नहीं हटते हैं। यहाँ तक कि घायल हो जाते हैं। [illegible] ख़ून में भीग जाता है, सर के अन्दर खोद की कड़ियाँ चुभ जाती हैं, दाँत शहीद हो जाते हैं—लेकिन अपनी जगह से एक क़दम नहीं हटते हैं। अब क्या बुद्धि, विवेक और न्याय की दृष्टि से मक्का छोड़कर मदीना आना जान के डर से [illegible] में समझा जा सकता है जिससे बहादुरी पर धब्बा आता है ? हर्गिज़ नहीं।

कुछ लोगों ने पैग़म्बरे इस्लाम की तलवार और लड़ाई के [illegible]

है जिसमें एक हाथ में तो क़ुरआन और दूसरे में तलवार। मगर जिस प्रकार पैग़म्बर की केवल उस जीवन की तस्वीर सामने रखकर वह राय क़ायम करना त्रुटिपूर्ण था कि आप पूर्णतया अहिंसा के प्रवर्तक हैं अथवा सीने में वह दिल ही नहीं जो लड़ाई कर सके, ठीक उसी प्रकार इस दौर को सामने रखकर यह तस्वीर खींचना भी अत्याचार है कि बस क़ुरआन है और तलवार। आख़िर यह किस की तस्वीर है ? हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा की है—तो मुहम्मद नाम तो उस पूरे जीवन के मालिक व्यक्तित्व का है जिसमें वह ४० वर्ष ख़ामोशी के हैं, वह १३ वर्ष भी हैं जब पत्थर खाते रहे और अब यह मदीना के १० वर्ष भी हैं। इसलिए हज़रत मुहम्मद मुस्तफ़ा की पूरी तस्वीर तो वह होगी जो उनके जीवन के सभी पहलू को पेश करे। हाँ, इसी दस वर्ष में 'हुदैबिया' नामक सन्धि भी होती है। जब पैग़म्बर लड़ाई के इरादे से नहीं, हज के इरादे से मक्का की ओर आते हैं। साथ में वही विजेता लशकर है, बहादुर सिपाही और सूरमा हैं—और सामने वही निरन्तर परास्त होने वाली फ़ौज है लेकिन फिर भी मक्का के दुश्मन 'हज' अदा करने में बाधाएँ उत्पन्न करते हैं। उस समय यह बाधाएँ ही सैद्धान्तिक रूप से लड़ाई का पहलू बनने के लिए पर्याप्त थीं—लेकिन पैग़म्बरे इस्लाम इस अवसर पर चढ़ाई करके लड़ाई करने के आरोप से बरी रखते हुए सुलह करके वापस लौट आते हैं। जबकि कुछ साथ वालों में आक्रोश था और लड़ाई के लिए तैयार थे। शर्तें भी ऐसी थीं जैसे कोई विजेता, पराजित हो जाने वाले से मनवाता है—अर्थात् इस समय वापस लौट जाइए—इस साल 'हज' न कीजिए, अगले वर्ष आइएगा—केवल ३ दिन मक्का में रहिएगा। चौथे दिन आप में से कोई मक्का में नहीं दिखाई दे। अगर कोई हमारी ओर से आपके पास चला जाये तो वापस करना होगा और अगर आप में से कोई भाग कर हमारे में आ जाए तो हम वापस नहीं करेंगे।"

इस प्रकार की शर्तें और फिर पैग़म्बर का सुल्ह करना, वास्तव में बहुत बड़ी बहादुरी है। इसके बाद जब दुश्मनों की ओर से समझौता तोड़ा गया तो हज़रत मुहम्मद मक्का में विजेता बनकर प्रवेश करने के लिए विवश हो जाते हैं—अब देखना यह है कि दुश्मनों से कैसा बर्ताव होता है। हालाँकि ये दुश्मन कोई साधारण दुश्मन नहीं हैं, निरन्तर १३ वर्ष तक शरीर पर कूड़े और पत्थर फेंकते रहे हैं और जब मदीना आ गए तब भी चैन नहीं लेने दिया है। कितने ही रिश्तेदारों और सम्बन्धियों को ख़ून में तड़पते देखा है। अपने सगे चचा हज़रते हमज़ा का सीना चाक करके कलेजा चबाते हुए देखा है। जब वही दुश्मनों की जमाअत सामने है और बिल्कुल हज़रते मुहम्मद के क़ब्जे में है। यह समय तो वह था कि सम्पूर्ण पिछले अत्याचारों का गिन-गिन कर बदला लिया जाता लेकिन उस रहम और दया के पुतले ने जब सब को बेबस और बेकस पाया तो क्षमा का आम ऐलान कर दिया और ख़ून की एक भी बूँद

ज़मीन पर गिरने नहीं दी। अब दुनिया वाले बतायें कि इस्लाम के पैग़म्बर क्या थे—लड़ाई करने वाले अथवा शान्ति रखने वाले ?

वास्तव में इस्लाम में लड़ाई हो या सुलह; यह मनुष्य की अपनी भावनाओं की बुनियाद पर नहीं होती है बल्कि कर्तव्यों के आधार से निर्धारित हुआ करती है। जिस समय ख़ामोश रहना, कर्तव्य का तक़ाज़ा था, ख़ामोश रहे, और जब हालात के बदलने से लड़ाई की आवश्यकता हुई तो, लड़ाई भी लड़े, फिर जब सुलह की सम्भावना हो गई तो सुलह करली—और जब दुश्मन बिल्कुल बेबस हो गया तो क्षमा कर दिया। यही इस्लाम तथा पैग़म्बरे इस्लाम की शिक्षा का उदाहरण है।

२१
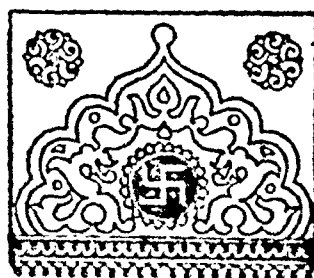
समता : मार्क्सवादी धारणा

□ डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

प्राचीन काल से आज तक मानववादी विचारकों की शृंखला में मानव समता ही नहीं, जीव मात्र की समता पर सोचा गया है। बहुत पुराचीन काल में ही योगियों ने अंतरावलोकन और वस्तु-पर्यवेक्षण के बल पर चीजों और परिदृश्यों, प्राणियों और पदार्थों की मूलभूत एकता का साक्षात्कार कर लिया था। किसी साधक ने सृष्टि मात्र के मूल में कार्यरत शक्ति को चिन्मय और किसी ने भौतिक तत्त्व माना था। दार्शनिकों में चार्वाकमत के विचारकों ने यह देखा कि जगत् की स्थिति, गति और पुनः स्थिति का जो क्रम है, वह स्वभावतः है, वह किसी अलौकिक सत्ता से संचालित या प्रेरित नहीं है। लोकायतों के इस इहलौकिकतावाद का अध्यात्मवादी विचारकों ने विरोध किया और इन में वेदान्त ने घोषित किया कि सृष्टि नहीं है, सृष्टि भ्रम है। सत्य चेतना है और चेतना दिव्य है, अतिक्रमणशील है। वह मायात्मक जगत् का अतिक्रमण (ट्रान्सैन्डेंस) कर मुक्त हो जाती है, अतएव संसार केवल मूर्खों के लिए सच है।

आत्यन्तिक दृष्टि से जगत् को भ्रम मान कर भी वेदान्त परम्परा के दार्शनिकों ने प्राणीमात्र की समता घोषित की क्योंकि सर्वत्र चैतन्य है अतः कीट-पतंग से मानव तक और मानव से दिव्य योनियों तक एक ही विश्व चेतना का प्रकाश है, अतएव विद्वान् वही है, जो समदर्शी हो, "शुनि चैव श्वपाके च पंडिता समदर्शिनः" (गीता)।

समता का यह धरातल बहुत ऊंचा है लेकिन व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्ता में समानान्तरता मानने के कारण वेदान्तियों ने वास्तविक

इन दोनों धारणाओं में उत्पादन के साधनों पर किसका अधिकार हो, व्यक्तियों या समाज का, यह तै नहीं किया जाता। मार्क्सवादी समता की धारणा यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की पद्धति के विनाश के बिना आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक समता कायम नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में अराजकतावादी विचारक प्रूधो का मत स्मरणीय है। उसने कहा था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति चोरी है।

इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था में ही समता स्थापित हो सकती है, जिसमें उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करके आर्थिक शोषण का अन्त कर दिया जाता है। समाजवाद के आलोचकों का यह कथन कि समाजवाद में, सोवियत रूस और चीन में असमता है, निराधार है क्योंकि वहाँ असमता विनाशोन्मुख है। समाजवाद के प्रथम सोपान में पारिश्रमिक योग्यतानुसार दिया जाता है जबकि जन सेवाएं (शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, यात्रा-व्यवस्था आदि) प्रायः मुफ्त होती हैं अतएव शिक्षा, स्वास्थ्य, निवास और यात्रा करीव-करीव निःशुल्क होने से, पारिश्रमिक में यदि अन्तर रहता भी है तो वह अधिक अखरता नहीं है जबकि सामंती और पूंजीवादी देशों में वेतनमानों का वैषम्य प्राणान्तक हो जाता है क्योंकि ऐसे मुल्कों में मेहनतकश जनता उच्च शिक्षा, खर्चीली दवाइयों तथा स्तरीय जीवन से वंचित रहती है, केवल उच्च वर्ग और उच्च मध्य वर्ग ही सुखी रह पाता है।

अतः जो लोग 'योग्यतानुसार पारिश्रमिक' के समाजवादी सिद्धान्त को समझना चाहते हैं, उन्हें राज्य द्वारा संचालित जनसेवाओं की विराटता और सर्वसुलभता पर मनन करना चाहिए। हमारे देश में रोटी, यात्रा, शिक्षा, निवास और उपचार सर्वसुलभ नहीं है, अतः असमता है।

समाजवाद का अगला कदम साम्यवाद है, जिसमें पारिश्रमिक योग्यता के आधार पर नहीं, इच्छानुसार या आवश्यकतानुसार मिल सकता है क्योंकि साम्यवाद के सोपान तक पहुँच कर वस्तुओं का उत्पादन, तकनीकी उन्नति से इतना अधिक होगा कि सभी लोगों की सारी जरूरतें पूरी की जा सकेंगी और श्रम या कार्य तब बोझ या व्याधि नहीं, आनन्द या क्रीड़ा में बदल जायगा।

लेकिन साम्यवादी व्यवस्था में भी समता हर बात में नहीं हो सकती। शरीर-संरचना, रूप, रुचि, योग्यता, बौद्धिक-प्रतिभा, सर्जनात्मक शक्ति आदि की दृष्टि से अन्तर रहेगा ही। मुख्य बिन्दु यह है कि साम्यवादी समाज में इस प्रकार के अन्तर व्यक्तित्व की विशिष्टताओं के रूप में रहेंगे, वैषम्यमूलक अंतर्विरोधों के रूप में नहीं।

कार्ल मार्क्स ने १८४४ ई० की अपनी 'आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपि' शीर्षक पुस्तक में सर्व प्रथम विषमताग्रस्त समाजों में सर्वत्र व्याप्त "अ-लगाव" (एलियनेशन) की ओर ध्यान खींचा था। आज सौ सवा सौ वर्षों के बाद भी हम गैर बराबरी ग्रस्त समाजों की रग-रग में समायी हुई विषमता की व्याधि और तज्जन्य अ-लगाव से लड़ रहे हैं।

उत्पादन के साधनों पर कुछ एक व्यक्तियों या वर्गों के स्वामित्व से श्रमिक या वेतनभोगी नौकर अपने कार्य से आत्मनिर्वासित हो जाता है, क्योंकि उसका लाभ और श्रेय मालिक को मिलेगा या बड़े अधिकारी को :—

That labour is external to the worker, i.e., it does not belong to his essential being, that in his work, therefore, he does not affirm himself but denies himself, does not feel content but unhappy, does not develop freely his physical and mental energy but mortifies his body and ruins his mind........he is at home when he is not woking and when he is working, he is not at home. His labour is therefore not voluntary but coerced, it is forced labour."[1]

श्रम-प्रक्रिया या उत्पादन के सारे सिलसिल हर लाभ और प्रतियोगिता पर आधारित स्वामित्व के रहते, श्रमजीवी जनता के लोग अपने कार्य को कभी अपना नहीं समझ पाते अतः उन्हें कार्य बोझ लगता है अतएव उन्हें केवल जैवी स्तर की गतिविधियों में आनन्द आता है (भोजन, पान, यौनसुख आदि)। इस प्रकार निजी स्वामित्व पर आधारित विषम आर्थिक व्यवस्था में साधारण जन, पशु स्तर पर रहता है। पूंजीवादी समाजों में करोड़ों लोग ऐसा ही अमानवीय और अ-लगाव ग्रस्त जीवन जी रहे हैं।

मनुष्य यदि वह पशु नहीं है तो वह केवल आवश्यकता पूर्ति के लिए कार्य नहीं करता, वह आनन्द या आत्म अभिव्यक्ति के लिए काम करता है। कार्य उसके लिए स्वेच्छापरक हो, विवशता नहीं। समताहीन समाजों में मनुष्य, पशु की तरह विवश होकर कार्य करता है। मनुष्य का यह पाशवीकरण या अमानवीकरण (डी ह्यूमेनाइजेशन) आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत सम्पत्ति पर एकाधिकारी वर्गों के अस्तित्व के कारण है, अतः वर्गहीन समाज में ही समता रह सकती है।

यदि श्रमिक के उत्पादन से लाभ दूसरे व्यक्ति को होता है, यदि श्रम, मजदूर या वेतनभोगी व्यक्ति के लिए पराची वस्तु है.......यदि श्रमिक के लिए

---

1. Economic and Philosophical Manuscripts of 1844, pp. 68-69.

श्रम आनन्द नहीं, यातना है तब वह श्रम किसी (मालिक) और के लिए आनन्ददायक चीज होगी। । इस प्रकार, देवता, प्रकृति आदि मनुष्य के दुश्मन नहीं हैं बल्कि मनुष्य ही मनुष्य के लिए पराई सत्ता या शत्रु है।"[1]

सारांश यह है कि भारतीय समाज में सम्पत्ति-सम्बन्धों के आमूल परिवर्तन के बिना और व्यक्तिगत सम्पत्ति-संग्रह या व्यक्तिगत उत्पादन-वितरण व्यवस्था को पूर्णतः बदले बिना, समता की बात करने वाले लोग अपने को भी धोखा दे रहे हैं और दूसरों को भी। धोखे की यह प्रक्रिया, संस्कृति और विचारों के क्षेत्रों में चली आ रही है। आज सभी धार्मिक सम्प्रदाय भी "समता" का घोष कर रहे हैं पर ये ही धार्मिक सम्प्रदाय श्रमिक समाज को सदा के लिए, उसके स्वामियों और सेठों का दास बनाए रखने के लिए अमूर्त्त समता का उपदेश कर रहे हैं और धनी वर्ग के विरुद्ध श्रमिकों के स्वाभाविक असंतोष को शांत कर रहे हैं। धर्म या मजहब, इन लोगों के लिए सहनशीलता या जीवन-संघर्ष से पलायन का मार्ग है। जीवन-संघर्ष में शोषित जन का पक्षधर बन कर धर्म श्रमिकों को मुक्त करने की कार्यवाही को अधर्म मानता है। इस प्रकार धर्म-क्षेत्र, प्रतिक्रियावाद के केन्द्र और धार्मिक लोग, धनी वर्ग के अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने वाले बन गए हैं। धर्म में जो सबके अभ्युदय की धारणा थी, वह सिर्फ कथनी तक सीमित हो गई है।

भारतवर्ष में जैन और बौद्ध आंदोलनों ने वर्णव्यवस्था का विरोध किया था। अहिंसा और अपरिग्रह जैसी मानवीय भावनाओं का उपदेश कल्याणकारी था। लेकिन कालांतर में जैन मतावलम्बी, महावीर तथा अन्य तीर्थङ्करों की क्रांतिकारी दृष्टि (अपरिग्रह) को छोड़कर व्यापारी या वणिक वर्ग के अंग बन गए और आज उनकी अहिंसा और अपरिग्रह औपचारिक आग्रह बनकर रह गए हैं। एक विराट जनान्दोलन (जैन + बौद्ध + आजीवक + लोकायत आदि) अब एक वर्ग या जाति में परिणत हो गया है, अतः इस स्थापित और समृद्ध जाति के लिए धर्म और साधना का रूप भी वर्गीय हो गया है, उसमें श्रमिक वर्ग की मुक्ति के लिए कोई आश्वासन नहीं है।

समता, पुण्य कार्य (वरच्यू) है पर वह धारणा तक ही सीमित रह जाने पर अलंकार की शक्ल धारण कर लेता है। समता तभी पुण्य कार्य बन सकता है जब उसे निजी सम्पत्ति के निराकरण से जोड़ा जाए और व्यापार, कृषि और उद्योग आदि उत्पादन के क्षेत्रों का सामाजिकीकरण हो। व्यक्तिगत लाभ और हानि पर आधारित कार्यों और व्यापार द्वारा, समाज बाजार में परिणत होता है और बाजार में समता नहीं, पैसे की ताकत काम करती है।

---

1. Economic and Philosophical Manscripts of 1844, p. 75.

योग से शरीर में परिवर्तन हो सकता है, समाज में नहीं। धर्म का अर्थ यदि व्यापक अर्थों में किया जाए तो सबसे बड़ा धर्म वही है, जिससे मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण, दवाव या दलन समाप्त हो, पर भारतवर्ष के सभी धार्मिक सम्प्रदाय व्यक्तिगत स्वामित्व पर आधारित समाज-व्यवस्था के पक्षधर हैं। वे यथास्थितिशीलता के विरुद्ध नहीं लड़ते, शान्ति और सहनशीलता सिखा रहे हैं। इससे लाभ मालिकों को होता है, उनके दासों को नहीं।

भारतीय धर्ममतावलम्बियों को समता, बंधुत्व और जन स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना होगा, अन्यथा वे अप्रासंगिक हो जाएंगे।

२२

समता : गांधीवादी दृष्टिकोण

□ श्री काशीनाथ त्रिवेदी

समता और समानता :

हम सब जानते हैं कि **समता** और **समानता** में दोनों भिन्न अर्थ वाले स्वतन्त्र शब्द हैं। हिन्दी में कभी-कभी इनका उपयोग पर्यायवाची शब्द के रूप में होता है, पर असल में एक-दूसरे के पर्याय हैं नहीं। जो समता है, वह समानता नहीं है। समता भावरूप है। उसका सम्बन्ध मन की आन्तरिक चेतना से है, विवेक से है, विचार से है। बोलचाल में समानता का मतलब बराबरी होता है। यह एक बिलकुल बाहरी चीज है। खाने में बराबरी, पहनने में बराबरी, काम-काज में बराबरी, रहन-सहन में बराबरी, पैसे-टके में बराबरी, जात-पांत में बराबरी अथवा उमर में, योग्यता में, पेशे में बराबरी का जो मतलब होता है, वह समता वाले मतलब से बिलकुल अलग ही है। समता में सूक्ष्मता है, आन्तरिकता है। समता-युक्त जीवन, जीवन जीने की एक अलग ही कला है। उसमें आपस की बराबरी से भिन्न एक बहुत मौलिक और गम्भीर दृष्टि निहित है। उसका आकलन जितना व्यापक और विशाल है, उतना ही सूक्ष्म और गहन भी है। मन की एक शुद्ध, बुद्ध, उच्च, निर्लेप और निःसंग स्थिति की परिणति समता में होती है।

यह समता हर किसी के बस की चीज नहीं। यह सहज और सुलभ भी नहीं। कठिन चिन्तन, मनन, मन्थन और निग्रह के बाद यह कुछ बिरले ही लोगों में प्रकट होती है। इसे आम आदमी की पहुँच के बाहर की चीज कहना या मानना उचित होगा। मेरे विचार में इसके मूल में आत्मा की एकता सचित है।

जिसे आत्मा की एकता की आन्तरिक प्रतीति हो लेती है उसके जीवन में और व्यवहार में समता का उदय क्रम-क्रम से होता जाता है और अन्त में वह समता-निष्ठ बनकर जीने लगता है। अपनी इस भूमिका में समताशील व्यक्ति के निकट अपने-पराए का, ऊंच-नीच का, छोटे-बड़े का, अमीर-गरीब का, हिन्दू-मुसलमान का, देशी-विदेशी का या स्त्री-पुरुष का कोई भेद टिक नहीं पाता। वह अभेद की स्थिति में जीने-मरने-वाला बन जाता है। उसकी समता उसे चराचर सृष्टि के साथ इस तरह जोड़ देती है कि उसमें और सृष्टि के अन्य जीवों या पदार्थों में आपस का कोई अन्तर या व्यवधान नहीं रह जाता। सबकुछ आत्म-रूप-सा बन जाता है। यह मानव-मन की एक ऐसी ऊंची भूमिका है, जो लम्बी और कठिन साधना के बाद ही किसी योग-युक्त साधक को कभी सुलभ हो पाती है। आगे हम यही देखेंगे कि समता के इस अर्थ में गांधीजी का अपना जीवन किस हद तक समता-युक्त बन पाया था।

गांधीजी की समता : किशोरावस्था में और युवावस्था में :

अपनी 'आत्मकथा' के आरम्भ में गांधीजी ने किशोरावस्था में अपने मांसाहार का जो अनुभव लिखा है, उससे हमें उनके मन में छिपी, बीज-रूप में बैठी, समता का संकेत मिलता है। जिस दिन मांसाहार के हिमायती अपने मित्र के कहने, फुसलाने और पटाने पर उन्होंने पहली बार अपने घर से दूर, अपने पारिवारिक संस्कारों के विरुद्ध और अपनी आदत के खिलाफ जाकर बकरे का मांस खाया, उस दिन घर लौटने के बाद रात को वे चैन की नींद सो नहीं सके। रात भर वे यह अनुभव करते रहे कि जिस बकरे का मांस उन्होंने खाया है, वह उनके पेट में पड़ा-पड़ा मिमिया रहा है! उन्हें अपनी उस उमर में भी यह बात अटपटी-सी लगी कि एक जीवधारी दूसरे जीवधारी को मारकर उसका मांस पकाए और उसे खाए! जीव-मात्र की एकता के इस विचार ने उनके मन में एक नई चेतना जगादी। मुझे लगता है कि गांधीजी के जीवन में समता का बीज तभी अंकुरित हुआ। मांसाहार का दोष उनके ध्यान में आ गया। मांसाहार अपने आप में एक गलत चीज थी ही, छिपकर मांसाहार करना दूसरी गलत चीज बनी, मांसाहार के कारण माँ के सामने झूठ बोलना पड़ा, कहना पड़ा कि आज भूख ही नहीं लगी, यह तीसरी गलत चीज हुई। गलतियों की इस परम्परा से उबरने और अपने माता-पिता के साथ सच्चाई का और प्रामाणिकता का व्यवहार करने की उत्कट भावना ने गांधीजी से यह संकल्प करवा लिया कि वे तब तक मांसाहार नहीं करेंगे, जबतक उनके माता-पिता जीवित हैं, और जब तक वे स्वयं सयाने बनकर स्वतन्त्र रूप से कमाने खाने लायक नहीं बन जाते हैं।

उनका यह संकल्प उस समय और पुष्ट हुआ, जब बैरिस्टरी सीखने के लिए विलायत जाने से पहले उन्होंने अपनी माँ के पैर छूकर उनकी साक्षी में

और परिवार के अन्य लोगों की साक्षी में यह प्रतिज्ञा की कि विलायत में रहते समय वे शराब पीने, मांस खाने और पराई स्त्री का सेवन करने से प्रयत्न-पूर्वक बचेंगे। ऐसा लगता है कि उस समय तक उन्हें इस बात की प्रतीति हो चुकी थी कि अपनी माता के सुख और सन्तोष में ही उनका अपना सुख और सन्तोष भी समाया हुआ है। समत्व-युक्त चिंतन के बिना इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने की प्रेरणा सहसा किसी को नहीं मिल सकती। माँ का दुःख, माँ की चिन्ता, मेरा ही दुःख और मेरी चिन्ता है, इसकी गहरी अनुभूति उन्हें उस समय न होती, तो वे ऐसी प्रतिज्ञा कर ही नहीं पाते। माँ के संतोष के लिए तीन साल की अवधि को ध्यान में रखकर की गई अपनी इस प्रतिज्ञा को उन्होंने अपने पूरे जीवनकाल की प्रतिज्ञा में बदल कर अपने मन की समता का एक अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया है। केवल माँ का सन्तोष ही क्यों ? पूरी मानवता का सन्तोष क्यों नहीं ? अपनी आत्मचेतना का सन्तोष क्यों नहीं ? इससे हमें उनकी आत्मौपम्य बुद्धि का ही पता चलता है। इसी के बल पर उन्होंने अपनी मन की समता का उत्तरोत्तर विकास किया और वे अपने समय के एक महान् समत्वशील व्यक्ति बने।

दक्षिण अफ्रीका में समता का विकास :

सन् १८९३ में गांधीजी एक दीवानी मुकदमें के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका पहुंचे। कुछ ही महीनों के लिए वे उधर गए थे। २४ साल की उमर लेकर गए थे। अकेले गए थे। लेकिन दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के बाद वहां के विषम भेदभावयुक्त लोक-जीवन का जो प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें हुआ, काले और गोरे लोगों के बीच पड़ी गहरी खाई का जो भयावना, घिनौना और मनः-प्राण को बुरी तरह कचोटने वाला रूप उन्होंने देखा, उसने उनकी समत्व बुद्धि को और समता की भावना को प्रबल रूप से जगा दिया। वहां उन्होंने पग-पग पर जिस अपमान का, तिरस्कार का, और आदमी-आदमी के बीच के असह्य और अक्षम्य भेदभाव का दर्शन और अनुभव किया, वह उनकी समत्व भावना के लिए एक चुनौती बन गया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में फैले रंग-भेद और जाति-भेद को अपनी शक्ति-भर मिटाने का संकल्प किया और वे इस काम में जी-जान से जुट गए। लगातार २१ बरस तक वे वहां सतत जूझते ही रहे। वहीं उनके सत्व का और उनकी समता का अद्भुत विकास हुआ। वहीं उन्होंने मान-अपमान, सुख-दुःख, हानि-लाभ और जीवन-मरण जैसे सनातन द्वन्द्वों से ऊपर उठकर, जीने और काम करने की कला सीखी। वहीं अपनों से और बीरानों से निकट की आत्मीयता और पारिवारिकता का विकास एवं विस्तार करने की दिशा और दृष्टि उन्हें मिली। वहीं अपने समाज में फैली सामाजिक और आर्थिक विषमता को जड़मूल से मिटाने के विषय में उनका अध्ययन, चिन्तन और प्रयोग

चला। वहीं रस्किन की पुस्तक पढ़कर वे सर्वोदय की दिशा में मुड़े। वहीं गीता का गहन अध्ययन और चिन्तन करते-करते उन्होंने उसके मर्म को समझा।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः :

गीता के इस सुप्रसिद्ध उक्ति के अनुसार उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच के भेदों की व्यर्थता को समझा और प्राणिमात्र के प्रति अपनी एकता का भान उन्हें हुआ। वहीं वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्य मात्र को अपना मित्र और साथी समझो, पर मनुष्यों में पाई जाने वाली बुराइयों को मिटाने के लिए निर्वैर और निःसंगभाव से सतत जूझते रहो! इस सिलसिले में वहां उन्हें निष्क्रिय प्रतिरोध का, असहयोग का, आगे चलकर सत्याग्रह का रास्ता सूझा। वे अपने जमाने के एक अग्रगण्य और मार्गदर्शक सत्याग्रही बने। सत्य की ही खोज उनके जीवन का मिशन बनी। वहीं वे इस परिणाम पर पहुँचे कि मानवों की दुनिया में कोई उनका शत्रु नहीं है और स्वयं वे किसी के शत्रु नहीं हैं। अजातशत्रुत्व की उनकी यह भूमिका उत्तरोत्तर विकसित होती चली गई और वे सारे संसार के एक जाने-माने अजातशत्रु व्यक्ति बन गए। यदि उनके जीवन में, विचार में, वाणी में, व्यवहार में समता न होती, सन्तुलन न होता, संयम, विवेक और सहिष्णुता, उदारता और क्षमा न होती, उनका अपना पिण्ड करुणा से ओतप्रोत न होता, तो देश-विदेश के विचक्षण लोगों ने उनमें जिस महानता के और महात्मापन के प्रभावकारी दर्शन किए, वे दर्शन उस रूप में उन्हें कभी न हो पाते।

दक्षिण अफ्रीका में रहते-रहते ही उन्होंने अपने पारिवारिक जीवन को बड़ी कुशलता से संवारा और निखारा। परिवार की संकीर्ण परिभाषा को उन्होंने जड़-मूल से बदल डाला। उनका परिवार केवल उनमें, उनकी पत्नी में या उनके चार पुत्रों में सीमित नहीं रह पाया। वह उत्तरोत्तर विशाल से विशालतर और विशालतम बनता गया। वह मनुष्य-समाज की सीमा से परे पशु-पक्षी, पेड़-पौधे और कीड़े-मकोड़ों तक फैलता चला गया। इन सबके प्रति उनमें एक सूक्ष्म आत्मीय भाव प्रकट हो गया। वे इन सबके अपने बन गए। यदि उनके जीवन में सच्ची समता विकसित न होती, तो वे इतने सजग, जाग्रत, चौकस और चौकन्ने बन ही न पाते। समता की उनकी साधना ने ही उनमें इन विलक्षण गुणों का और तन-मन की इन अनोखी शक्तियों का इतना सुन्दर विकास होने दिया था। एक बार जैन-तत्त्वज्ञान के जाने-माने विद्वान् और चिन्तक प्रज्ञा-चक्षु पण्डित सुखलालजी ने गांधीजी के अलौकिक गुणों की चर्चा करते हुए मुझसे कहा था कि संसार के अनेक महापुरुषों और अवतारी पुरुषों के विषय में उन्होंने जो कुछ जाना, सुना और समझा है, उसे ध्यान में रखकर वे निःसंकोच यह कहने की स्थिति में हैं कि गांधीजी के जीवन में और कार्य में उन्होंने जिस प्रखर जागृति के दर्शन किए हैं, वैसी जागृति और किसी महापुरुष में उनके पहले कभी देखी-सुनी नहीं गई! वह उन्हीं की अपनी एक विशिष्ट विभूति थी, जो असमान

तो नहीं थी, पर जिसे उन्होंने अविरत साधना के सहारे सिद्ध किया था।

समता की साधना ने ब्रह्मचर्य की दिशा में मोड़ा :

चराचर सृष्टि की अविरत सेवा का जो उदात्त विचार गांधीजी के मन में उन दिनों रमने लगा था, उसके परिणाम स्वरूप कोई छत्तीस साल की उमर में गांधीजी ने लम्बे चिंतन-मन्थन के बाद अपने मन को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि आगे का उनका सारा जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक बीतेगा। इसीके फल-स्वरूप एक दिन दक्षिण अफ्रीका में ही उन्होंने अपनी पत्नी श्रीमती कस्तूरबाई से कह दिया कि अब हम इस घर में पति-पत्नी के रूप में नहीं, भाई-बहन या माँ-बेटे के रूप में रहेंगे और अपना सारा शेष जीवन लोकसेवा में लगा देंगे! उनकी विकसित और जाग्रत समता ने उन्हें विवश किया कि वे अपने जीवन में से स्त्री-पुरुष के भेद को भी संकल्प-पूर्वक समाप्त कर दें। पहले वे निर्भय बने। फिर उन्होंने अपनी पत्नी को निर्भय बनाया और बाद में सारी मानवता को निर्भयता का सन्देश देने की क्षमता उन्होंने अपने अन्दर विकसित की। नतीजा यह निकला कि केवल कस्तूरबा ही निर्भय नहीं बनीं, बल्कि गांधीजी के निकट सम्पर्क में आने वाली देश की और दुनिया की सारी बहनें, बेटियां, बहुएँ और मातएँ भी निर्भय बनीं। गांधी का स्पर्श पाकर उनके जीवन काल में निर्भयता संक्रामक बन गई। गांधी के समता-युक्त जीवन की यह एक विलक्षण सिद्धि थी।

समता की साधना ने शत्रु को मित्र बनाया :

दक्षिण अफ्रीका की ही बात है। वहां की गोरी सरकार ने उन दिनों वहां बसे भारत-वासियों को सताने के लिए कई अन्यायपूर्ण कानून बना रखे थे। गांधीजी ने उन कानूनों का अपने सत्याग्रही तरीके से विरोध किया। सरकार ने सत्या-ग्रही गांधी को और उनके सैकड़ों-हजारों सत्याग्रही साथियों को गिरफ्तार करके जेलों में बन्द कर दिया। जनरल स्मट्स उन दिनों दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार में प्रधानमन्त्री थे। वे गांधीजी को और उनके साथियों को अपनी निरंकुश सत्ता के जोर पर दबाना और आतंकित करना चाहते थे। पर गांधीजी की परिभाषा वाला सत्याग्रही न कभी किससे दबता है और न आतंकित ही होता है। वह तो जेल को भी महल और मन्दिर बनाकर वहाँ अपनी जीवन-साधना को निखारता रहता है। ऐसे ही एक जेलवास की अवधि में गांधीजी ने जेल में रहते हुए चप्पल-जूते गांठना सीखा और दक्षिण अफ्रीका के अपने प्रति-द्वन्द्वी प्रधानमन्त्री जनरल स्मट्स के लिए अपने हाथों पठानी चप्पल के ढंग की एक चप्पल जोड़ी तैयार की। जेल से छूटने पर गांधीजी ने स्वयं जनरल स्मट्स को अपनी ओर से बनाई चप्पल जोड़ी भेंट की। गांधीजी की इस मानवतापूर्ण सहृदयता ने जनरल स्मट्स को पानी-पानी कर दिया। उनका सिर गांधीजी के आगे झुक गया। वे उनकी महानता का और असाधारणता का लोहा मान

गए! शत्रु को मित्र बना लेने की यह कला गांधीजी ने समता की अपनी साधना के कारण ही सीखी। राज-काज के मामलों में और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की विभिन्न समस्याओं के मामलों में जनरल स्मट्स के साथ गांधीजी के तीव्र और प्रामाणिक मत-भेद लम्बे समय तक बने रहे, पर इन मत-भेदों ने उनके बीच की सदाशयता में कोई दरार नहीं पड़ने दी!

भारत में समता की साधना :

अपनी जवानी के और जीवन के इक्कीस बरस दक्षिण अफ्रीका जैसी प्रतिकूल जगह में बिताकर ४५ बरस की उमर में गांधीजी अपने देश में वापस आए। उस समय तक न केवल दक्षिण अफ्रीका में और हिन्दुस्तान में, बल्कि सारी दुनिया के समझदार और जिम्मेदार लोगों के बीच गांधीजी के नाम और काम की धूम मच चुकी थी। वे उस समय के संसार में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे, जिसने अपने निज के जीवन के साथ ही अपने समाज के जीवन में भी बिना किसी हिंसा के शांतिमय क्रांति कर दिखाई थी; जिसने सत्कार्यो के लिए न केवल अपने समाज को और अपने देशवासियों को, बल्कि अपने समय के विदेशी शासकों और प्रशासकों को भी न्यायसंगत रीति से अपना सारा व्यवहार चलाने के लिए प्रेरित और अनुप्राणित किया था। अपनी इसी अलौकिक-सी लगने वाली पूंजी के साथ गांधीजी ने भारत लौटकर भारतवासियों की सेवा में लगे रहने का अपना निश्चय व्यक्त किया। समता की उनकी साधना ने यहाँ एक नई दिशा पकड़ी। दक्षिण अफ्रीका के साथियों, मित्रों, प्रेमियों और प्रशंसकों ने गांधीजी को उनकी विदाई के समय सोने-चाँदी और हीरे-मोती वाली कई कीमती चीजें उपहार के रूप में प्रेम-पूर्वक दी थीं। लाखों की कीमत वाले इन उपहारों को गांधीजी ने सधन्यवाद लौटा दिया और इनमें अपनी कुछ रकम जोड़कर सारी रकमों का एक सार्वजनिक ट्रस्ट दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों की सेवा के लिए बना दिया! गांधीजी के समान समताशील और जागृत व्यक्ति ही धन-सम्पत्ति के मामले में ऐसा कठोर निर्णय सहजभाव से कर सकता था। अपनी इस समता की दीक्षा उन्होंने अपने पुत्रों को और अपनी पत्नी को भी दी। धन-सम्पत्ति के प्रति उनकी निर्लिप्तता का एक स्वच्छ उदाहरण हमें उनके जीवन की इस पावन घटना से प्राप्त होता है।

समता की इस साधना ने ही गांधीजी को अपरिग्रही जीवन जीने की प्रेरणा दी। धन, सम्पत्ति और सत्ता के संचय से वे स्वयं स्वेच्छापूर्वक कोसों दूर रहे! इनमें उन्हें हिंसा के, शोषण के, अनीति और अन्याय के दर्शन होते रहे। गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि जो मनुष्य अपने खरे पसीने की कमाई पर जीएगा, जीने का हक लेगा, वह कभी परिग्रही, धनी और ऐश्वर्यशाली जीवन की दिशा में मुड़ ही नहीं सकेगा। बिना शोषण के, बिना अप्रामाणिकता के,

तो नहीं थी, पर जिसे उन्होंने अविरत साधना के सहारे सिद्ध किया था।

समता की साधना ने ब्रह्मचर्य की दिशा में मोड़ा :

चराचर सृष्टि की अविरत सेवा का जो उदात्त विचार गांधीजी के मन में उन दिनों रमने लगा था, उसके परिणाम स्वरूप कोई छत्तीस साल की उमर में गांधीजी ने लम्बे चिंतन-मन्थन के बाद अपने मन को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि आगे का उनका सारा जीवन ब्रह्मचर्य पूर्वक बीतेगा। इसीके फल-स्वरूप एक दिन दक्षिण अफ्रीका में ही उन्होंने अपनी पत्नी श्रीमती कस्तूरबाई से कह दिया कि अब हम इस घर में पति-पत्नी के रूप में नहीं, भाई-बहन या माँ-बेटे के रूप में रहेंगे और अपना सारा शेष जीवन लोकसेवा में लगा देंगे! उनकी विकसित और जाग्रत समता ने उन्हें विवश किया कि वे अपने जीवन में से स्त्री-पुरुष के भेद को भी संकल्प-पूर्वक समाप्त कर दें। पहले वे निर्भय बने। फिर उन्होंने अपनी पत्नी को निर्भय बनाया और बाद में सारी मानवता को निर्भयता का सन्देश देने की क्षमता उन्होंने अपने अन्दर विकसित की। नतीजा यह निकला कि केवल कस्तूरबा ही निर्भय नहीं बनीं, बल्कि गांधीजी के निकट सम्पर्क में आने वाली देश की और दुनिया की सारी बहनें, बेटियां, बहुएँ और माताएँ भी निर्भय बनीं। गांधी का स्पर्श पाकर उनके जीवन काल में निर्भयता संक्रामक बन गई। गांधी के समता-युक्त जीवन की यह एक विलक्षण सिद्धि थी।

समता की साधना ने शत्रु को मित्र बनाया :

दक्षिण अफ्रीका की ही बात है। वहां की गोरी सरकार ने उन दिनों वहां बसे भारत-वासियों को सताने के लिए कई अन्यायपूर्ण कानून बना रखे थे। गांधीजी ने उन कानूनों का अपने सत्याग्रही तरीके से विरोध किया। सरकार ने सत्याग्रही गांधी को और उनके सैकड़ों-हजारों सत्याग्रही साथियों को गिरफ्तार करके जेलों में बन्द कर दिया। जनरल स्मट्स उन दिनों दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार में प्रधानमन्त्री थे। वे गांधीजी को और उनके साथियों को अपनी निरंकुश सत्ता के जोर पर दबाना और आतंकित करना चाहते थे। पर गांधीजी की परिभाषा वाला सत्याग्रही न कभी किससे दबता है और न आतंकित ही होता है। वह तो जेल को भी महल और मन्दिर बनाकर वहाँ अपनी जीवन-साधना को निखारता रहता है। ऐसे ही एक जेलवास की अवधि में गांधीजी ने जेल में रहते हुए चप्पल-जूते गांठना सीखा और दक्षिण अफ्रीका के अपने प्रति-द्वन्द्वी प्रधानमन्त्री जनरल स्मट्स के लिए अपने हाथों पठानी चप्पल के ढंग की एक चप्पल जोड़ी तैयार की। जेल से छूटने पर गांधीजी ने स्वयं जनरल स्मट्स को अपनी ओर से बनाई चप्पल जोड़ी भेंट की। गांधीजी की इस मानवतापूर्ण सहृदयता ने जनरल स्मट्स को पानी-पानी कर दिया। उनका सिर गांधीजी के आगे झुक गया। वे उनकी महानता का और असाधारणता का लोहा मान

गए ! शत्रु को मित्र बना लेने की यह कला गांधीजी ने समता की अपनी साधना के कारण ही सीखी। राज-काज के मामलों में और सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की विभिन्न समस्याओं के मामलों में जनरल स्मट्स के साथ गांधीजी के तीव्र और प्रामाणिक मत-भेद लम्बे समय तक बने रहे, पर इन मत-भेदों ने उनके बीच की सदाशयता में कोई दरार नहीं पड़ने दी !

भारत में समता की साधना :

अपनी जवानी के और जीवन के इक्कीस बरस दक्षिण अफ्रीका जैसी प्रतिकूल जगह में बिताकर ४५ बरस की उमर में गांधीजी अपने देश में वापस आए। उस समय तक न केवल दक्षिण अफ्रीका में और हिन्दुस्तान में, बल्कि सारी दुनिया के समझदार और जिम्मेदार लोगों के बीच गांधीजी के नाम और काम की धूम मच चुकी थी। वे उस समय के संसार में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे, जिसने अपने निज के जीवन के साथ ही अपने समाज के जीवन में भी बिना किसी हिंसा के शांतिमय क्रांति कर दिखाई थी ; जिसने सत्कार्यों के लिए न केवल अपने समाज को और अपने देशवासियों को, बल्कि अपने समय के विदेशी शासकों और प्रशासकों को भी न्यायसंगत रीति से अपना सारा व्यवहार चलाने के लिए प्रेरित और अनुप्राणित किया था। अपनी इसी अलौकिक-सी लगने वाली पूंजी के साथ गांधीजी ने भारत लौटकर भारतवासियों की सेवा में लगे रहने का अपना निश्चय व्यक्त किया। समता की उनकी साधना ने यहाँ एक नई दिशा पकड़ी। दक्षिण अफ्रीका के साथियों, मित्रों, प्रेमियों और प्रशंसकों ने गांधीजी को उनकी विदाई के समय सोने-चाँदी और हीरे-मोती वाली कई कीमती चीजें उपहार के रूप में प्रेम-पूर्वक दी थीं। लाखों की कीमत वाले इन उपहारों को गांधीजी ने सधन्यवाद लौटा दिया और इनमें अपनी कुछ रकम जोड़कर सारी रकमों का एक सार्वजनिक ट्रस्ट दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों की सेवा के लिए बना दिया ! गांधीजी के समान समताशील और जाग्रत व्यक्ति ही धन-सम्पत्ति के मामले में ऐसा कठोर निर्णय सहजभाव से कर सकता था। अपनी इस समता की दीक्षा उन्होंने अपने पुत्रों को और अपनी पत्नी को भी दी। धन-सम्पत्ति के प्रति उनकी निर्लिप्तता का एक स्वच्छ उदाहरण हमें उनके जीवन की इस पावन घटना से प्राप्त होता है।

समता की इस साधना ने ही गांधीजी को अपरिग्रही जीवन जीने की प्रेरणा दी। धन, सम्पत्ति और सत्ता के संचय से वे स्वयं स्वेच्छापूर्वक कोसों दूर रहे ! इनमें उन्हें छिपी हिंसा के, शोषण के, अनीति और अन्याय के दर्शन होते रहे। गांधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि जो मनुष्य अपने खरे पसीने की कमाई पर जीएगा, जीने का व्रत लेगा, वह कभी परिग्रही, धनी और वैभवशाली जीवन की दिशा में मुड़ ही नहीं सकेगा। विना शोषण के, विना अप्रामाणिकता के,

बिना अनीति और अन्याय के अटूट धन-सम्पत्ति का संचय करना औसत आदमी के लिए कभी सम्भव ही नहीं होता। एक जगह ढेर खड़ा होगा, तो दूसरी जगह गड्ढा बनेगा ही। उनकी समता उनसे कहती थी कि संग्रह में संहार छिपा हुआ है। इसलिए वे अपने अपरिग्रह को अन्त तक बढ़ाते ही चले गए। नित्य की अपनी आवश्यकता से अधिक कोई वस्तु वे अपने पास रखना पसन्द नहीं करते थे। इस विषय में वे बहुत ही सजग और चौकस थे। उनकी ऐसी सजगता और चौकसाई के कुछ हृदयस्पर्शी प्रसंगों की चर्चा करके मैं अपने इस लेख को समाप्त करना चाहूंगा। इनमें कुछ तो मेरे अपने देखे और जाने हुए प्रसंग हैं।

गांधीजी की समता के ये प्ररक प्रसंग :

१. छुआछूत के अधार्मिक और अमानवीय विचारों और व्यवहारों में गले-गले तक डूबे हिन्दू समाज को समतानिष्ठ गांधीजी ने पहला धक्का उस समय दिया, जब उन्होंने अहमदाबाद के अपने आश्रम में अस्पृश्य माने जाने वाले एक ढेड़ परिवार को रख कर अपनी सगी बहन को न केवल नाराज किया, बल्कि उन्हें आश्रम छोड़कर जाने की भी सलाह दी ! जब इस घटना के विरोध में अहमदाबाद के धनिक वर्ग ने आश्रम को आर्थिक मदद देना बन्द किया, तो गांधीजी ने अपने साथियों से कह दिया कि जिस दिन हमारे हाथ में जरूरी खर्च के लिए पैसा नहीं रहेगा, हम मिट्टी खोदकर और मिट्टी फोड़कर अपनी जरूरत का पैसा कमा लेंगे, पर अपने आश्रम में छुआछूत को तो एक क्षण के लिए भी नहीं अपनाएँगे ! समता का प्रखर साधक-उपासक इससे भिन्न और कोई निर्णय ले ही कैसे सकता था ?

२. सन् १९१६–१७ में गांधीजी ने अहमदाबाद के निकट साबरमती नदी के किनारे वाली वीरान जमीन पर अपना आश्रम खड़ा किया और उसे सत्याग्रह आश्रम का नाम दिया। जब गांधीजी और उनके साथी इस नई जगह में आश्रम-वासी की तरह रहने लगे, तो उन्होंने देखा कि आश्रम के लिए पसन्द की गई इस भूमि में तो अनगिनत सांपों की बहुत बड़ी और पुरानी बस्ती है। समतानिष्ठ गांधीजी ने तुरन्त ही एक निश्चय किया और आश्रम के बच्चों से लेकर बड़ों तक सबको यह कह दिया कि हम सांपों के घर में उनके मेहमान की तरह यहाँ रहने आये हैं अतः हम ऐसा कोई काम नहीं करेंगे, जिनसे साँपों को कष्ट हो। उनको मारने की बात तो हम कभी सोचेंगे भी नहीं। सांप तो हमारा बहुत ही बड़ा और भला दोस्त है। उसकी अमूल्य सेवा के कारण ही हमारी खेती पकती है और हम दोनों समय का भोजन कर पाते हैं। इस तरह गांधीजी की आश्रम-भूमि में सांप अवध्य बना और सन् '१६ से लेकर सन् '३४ तक गांधीजी के साबरमती वाले आश्रम में सांपों की बस्ती पूरी तरह सुरक्षित रही। न किसी आश्रमवासी ने किसी सांप को मारा और न किसी सांप ने कभी किसी आश्रम-

वासी को डसा ! दोनों तरफ से पड़ोसी-धर्म का और मित्र-धर्म का अपूर्व पालन हुआ ! एक दिन तो एक सांप शाम की प्रार्थना के समय कहीं से रेंगता हुआ चला आया और प्रार्थना में लीन गांधीजी की पीठ पर चढ़ गया ! जिन्होंने खुली आंखों यह दृश्य देखा, उनकी तो घिग्घी ही बँध गई, पर जब तक प्रार्थना चली गांधीजी समाधिस्थ की तरह बैठे रहे। जब प्रार्थना पूरी हुई, तो अपने बदन पर ओढ़ी हुई खादी की चादर को उलट कर वे थोड़े आगे खिसके और सांप को उसके रास्ते जाने दिया !

३. एक दिन सुबह गांधीजी को बताया गया कि उनके स्नान-घर में रखे गए तांबे-पीतल के बरतन चोरी चले गए हैं। किसी आश्रमवासी की गफलत से उस रात स्नान-घर खुला रह गया था। जैसे ही गांधीजी को इस चोरी की खबर मिली, उन्होंने निश्चय किया कि भविष्य में उनके स्नान-घर में टिन का कनस्तर ही रखा जाए, जिससे किसीको चोरी करने की प्रेरणा ही न हो !

४. एक रात आश्रम में गश्त लगाने वाले भाइयों ने एक ऐसे व्यक्ति को पकड़ा जो चोरी करने के इरादे से आश्रम में आया था। उन्होंने उसे आश्रम के मेहमान-घर के एक कमरे में बन्द कर दिया और वे फिर गश्त पर चले गए। दूसरे दिन सुबह की प्रार्थना के बाद गांधीजी को बताया गया कि रात गश्त लगाने वालों ने एक चोर को पकड़ा है और उसे मेहमान-घर के एक कमरे में बन्द किया है। गांधीजी ने चोर माने गए आदमी से मिलना चाहा। वे गांधीजी के सामने लाए गए। गांधीजी ने उनसे पहली बात यह पूछी कि रात को उन्होंने कुछ खाया था या नहीं ? जब पकड़े गए भाई ने कहा कि रात वे भूखे ही रहे हैं, तो गांधीजी ने अपने साथियों से कहा कि पहले इन्हें कुछ खिला-पिला दो और फिर मेरे पास लाओ। जब वे खा-पीकर लौटे, तो गांधीजी ने उन्हें बड़े प्रेम से अपने पास बैठाया और पूछा कि वे चोरी क्यों करते हैं ? अगर उन्हें कहीं काम न मिलता हो तो वे आश्रम में आ जाएं। यहां उन्हें काम दिया जाएगा और इस तरह वे अपने पसीने की रोटी खा सकेंगे। गांधीजी के इस वात्सल्यपूर्ण व्यवहार ने उन भाई को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने उनके सामने ही फिर कभी चोरी न करने की प्रतिज्ञा की !

गांधीजी के समता-पूर्ण जीवन, विचार, कार्य और व्यवहार को उजागर करने वाली ऐसी अनगिनत घटनाएं उनके जीवन-काल में घट चुकी हैं। यहां उन सबकी चर्चा सम्भव ही नहीं है। आवश्यक भी नहीं लगती। गांधीजी ने अपने जीवन और कार्य द्वारा हमें अपनी समता-निष्ठा का और समत्वशीलता का जो सुभग, सुखद और स्पृहणीय दर्शन कराया है, उसकी थोड़ी प्रतीति कर, मैंने इस लेख के निमित्त से ऊपर की पंक्तियों में चर्चा की है। आशा है, पाठकों को मेरी ये पंक्तियां रुचेंगी, प्रिय लगेंगी और उनके चिन्तन को सही दिशा में मोड़ने में सहायक हो सकेंगी।

❀❀❀

२३

समत्वमूलक जीवन–चर्या : वर्तमान संदर्भ में

☐ मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'कमल'

चेतना जीवन रक्षा की :

संसार का प्रत्येक प्राणी अपने लिये सुख की कामना करता है। अपने लिये सुख प्राप्त करने तथा दुःख से बचाव की चेष्टा का भान छोटे-से-छोटे प्राणी में भी होता है। एक चींटी भी उस पर पानी का छींटा डालें तो उससे बचने के लिये प्राण-प्रण से प्रयत्न करती है। जीवन रक्षा की चेतना यूं सभी प्राणियों में होती है किन्तु जिस प्राणी में इन्द्रिय विकास जितना अधिक होता है वह अपने लिये सुख प्राप्त करने की चेष्टा भी उतनी ही अधिक करता है। सभी प्राणियों में मनुष्य का विवेक सर्वाधिक रूप से विकसित होता है अतः मनुष्य की सुख-दुःख सम्बन्धी चेष्टाएँ अधिक होती हैं। उनका प्रभाव व्यापक होता है।

अपना सुख, सबका सुख :

सामान्य मनुष्य जिस मिथ्या दृष्टि के साथ चलता है, उसके प्रभाव से वह यही सोचता है कि उसे और उसके निकटस्थों को सुख मिले। पहली बात यह कि दूसरों को सुख मिलता है या नहीं इसकी वह चिंता नहीं करता। दूसरी यह कि स्वार्थ के हावी होने पर वह अपने सुख के लिये दूसरों के सुख को छीनने या नष्ट करने की कोशिश भी करता है। इस तरह अपने-अपनों के सुख के दायरों में बन्द होकर वह स्वार्थी, हृदयहीन, बर्बर तथा क्रूर बन जाता है। यह मनुष्य का ममत्व होता है, जो सुख है, वह मेरा हो—इस भावना के प्रभाव से उसकी सम्यक् दृष्टि अथवा उसका सद् विवेक कुंठित बना रहता है तथा ममत्व में मदान्ध होकर वह संसार में अनीति, अन्याय, अत्याचार में डूब जाता है।

इस दृष्टि से संसार में ममत्व का प्रभाव जितना बढ़ता है, गहरा होता है उतना ही अन्याय पूर्ण वातावरण विस्तृत होता है। वस्तुतः अन्याय का अर्थ ही यह है कि न्याय सबको नहीं मिलता, और न्याय नहीं मिलता है तो सबको सुख नहीं मिलता। यदि सबको सुख नहीं मिलता तो मूल रूप में एक को भी सच्चा सुख नहीं मिलेगा। असल में अपना सुख सबका सुख, यह मनोदशा आज नहीं है। मनुष्य को विचार करना होगा कि उसे अगर अपना सुख चाहिये तो वह दूसरों के सुख पर आक्रमण ही क्यों करें ?

और यदि वह इस मोह चेष्टा के साथ छीन-झपट करता है तो अन्ततोगत्वा वह अपना सुख ही खो बैठता है। क्योंकि प्रतिशोध की इस ज्वाला से वह स्वयं को बचा नहीं सकता, संभव है अस्थायी तौर पर वह अपने लिये सुख-सुविधाओं के किसी नीड़ की रचना भी करले फिर भी किसी सुदीर्घ सुख की योजना वह कर नहीं पायेगा।

अतः समत्व का मूल सिद्धान्त यह है कि तुम अपने सुख की चिंता छोड़ दो—ममत्व त्याग दो, सबके सुख की चिंता करो क्योंकि सबके सुख में अपना सुख का आपोंआप सनिविष्ट है।

अपने आचरण का मूल समत्व पर आधारित होना चाहिये। सम्यक् दृष्टि के साथ जब समत्व–मूल का विकास होगा तब मनुष्य जड़ सुखों के पीछे पागल सा नहीं भटकेगा तथा आत्मिक गुणों का विकास साधकर सच्चे सुख का रसास्वाद करना चाहेगा। समत्व–मूल के स्थापित हो जाने पर समस्त जीवनचर्या तदनुसार ढल जायेगी तथा सबके सुख में अपने सुख की अनुभूति होने लग जायेगी।

समत्व का आदिम अंकुर :

मनुष्य के आध्यात्मिक दिशा–बिन्दु पर विचार करने से पहले हम यह देख लें कि मानव-जाति के वैज्ञानिक विकास के इतिहास-कथन में समत्व-मूलकता कहाँ तक साझेदार है। वैज्ञानिक दृष्टि से सबसे पहले आदिम युग में मनुष्य पेड़ों से फल तोड़कर अपना जीवन निर्वाह करता था और वृक्षों की छाल से ही अपना तन ढकता था। वह मातृसत्तात्मक युग था, माँ ही सन्तान की पहचान थी। उस समय मूल में व्यापक रूप में समत्व था क्योंकि तव विषमता लाने वाली कोई स्थिति नहीं थी किन्तु जब प्रकृति-कृपा कम होने लगी तथा जीवन निर्वाह होने में कष्ट होने लगा तो मनुष्य पशु-पालन की ओर झुका। तव उसका एक जगह रहना नहीं होता था। वह घूमता रहता था। उसके घुमन्त स्वभाव-संस्कार में स्वार्थ फिर भी निहित नहीं हुए थे किन्तु कृषि को जैसे ही

उसने अपने अर्जन का साधन बनाया तो उसे एक स्थान पर स्थिर होना पड़ा। इस तरह जन्म हुआ सम्पदा का।

सम्पत्ति के जन्म के साथ मानव के स्वार्थ अभिव्यक्त होने लगे और फिर हुई पूँजीवाद की शुरूआत। माया-ममता यहीं से पनपी। सम्पत्ति की रक्षा का प्रश्न पैदा हुआ। फलस्वरूप सामन्तवादी खेमा बना। वर्ण-व्यवस्था शुरू हुई। जिन्होंने रक्षा का भार लिया वे क्षत्रिय कहलाये। समाज के लिये अर्जन का दायित्व वैश्यों ने लिया। ब्राह्मण-वर्ग धर्म और ज्ञान की ओर प्रसार का अभिशरण बना। सबकी सेवा करना शूद्रों पर थोपा गया। वर्ण-व्यवस्था भारतीय इतिहास की विशेषता थी। सामन्त भूमि का स्वामी बन गया तो वणिक ने अपने व्यापार-प्रसार के जरिये अपना वर्चस्व दूर-दूर तक स्थापित कर लिया। व्यापार के लिये आये अंग्रेजों ने हुकूमत पर कब्जा कर लिया। सामन्तवाद भी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के रूप में दुनिया के सभी भागों में फैलता गया। इन व्यवस्थाओं से उत्पन्न असमानताओं के कारण असंतोष बढ़ा तथा विद्रोह हुए।

समत्व का मूल मनुष्य के मन में फिर अंकुरित हुआ। राजनीति, जनतंत्र तथा अर्थ-क्षेत्र में समाजवाद और साम्यवाद आये। यह विकास मनुष्य के मन में बैठे समत्व के कारण ही सम्भव हो सका। आज जनतंत्र को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन के रूप में पनपाने और अपनाने की ओर आवाज है। उसके पीछे भी यही समत्व मूल बना है। इस रूप में मानव-जाति का जो वैज्ञानिक इतिहास माना जाता है, वह भी समत्व उपलब्धि का प्रबल साक्ष्य ही है।

समत्व, मनोविज्ञान और आध्यात्म :

मनुष्य के अन्तर्मन की गहराइयों में समत्व का ही अस्तित्व है, यह कोई भी महसूस कर सकता है। मुझे अन्य सबके समान समझा जाये, यह प्रत्येक मनुष्य के मन में बैठी मूल भावना है। इसी कारण वह अपने साथ किये जाने वाले भेद-भाव को सहन नहीं कर सकता है। इसको एक दृष्टान्त से समझना चाहिये—मानिये एक साथ चार व्यक्तियों को एक पंक्ति में आपने भोजन करने के लिये बिठाया, किन्तु चारों की थाली में अलग-अलग सामग्री परोसी गई। एक थाली में मक्के की रोटी व एक सब्जी, दूसरे को गेहूँ की रोटी और चार सब्जी, तीसरे को एक मिठाई और नमकीन अधिक रखा तो चौथे को कई मिष्ठान और नमकीन परोसा तो चौथे की तुलना में शेष तीन व्यक्ति भोजन करने में बड़ा कष्ट अनुभव करेंगे जिसका एकमेव कारण होगा भेदभाव। यह भेदभाव न हो और चारों थालियों में समान भोजन हो—चाहे वह मक्के की रोटी व एक सब्जी ही क्यों न हो, फिर भी किसी को कोई कष्ट नहीं होगा और

चारों साथ बैठकर प्रेम पूर्वक भोजन करेंगे। इस प्रकार के विचार में समत्व ही सक्रिय है।

समत्व मूल का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी बड़ा सशक्त है और पग-पग पर अपने साथ किये जाने वाले विषमतापूर्ण व्यवहारों से जूझता रहता है। किन्तु इस पहलू के साथ जब तक आध्यात्मिक पहलू नहीं जुड़ता, तब तक मनुष्य का दृष्टिकोण एकांगी ही बना रहता है। वह अपने सुख और अपने साथ समत्व-पूर्ण व्यवहार के लिये ही सोचता है। आध्यात्मिक पहलू के पुष्ट होने पर ही वह सार्वजनीन तथा व्यापक दृष्टिकोण बना पाता है।

समत्व मूल का आध्यात्मिक पक्ष इस दृष्टि से सर्वोच्च महत्त्व का माना जाना चाहिये। मोह को जीतने के विवेक तथा प्रयास को जो सक्रिय बनाता है वही समत्व के मूल को अपने जीवन में भावनात्मक दृष्टि से जमा पाता है। जब समत्व आत्मसात् हो जाता है तो वह सम्पूर्ण विचार में प्रभावशील हो जाता है।

वर्तमान विषमता के कारण और परिप्रेक्ष्य में समत्व-मूल :

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का चूंकि मूलाधार अर्थ है, अर्थ में भी पूंजी-वादी पद्धति। अतः वर्तमान विषमताओं के कारण इसी पद्धति में सन्निहित हैं। पूंजीवादी पद्धति व्यक्तिवादी है और इसमें व्यक्तिवादी लाभ का ही मुख्य दृष्टि-कोण है। इसमें होड़, गर्दनतोड़ स्पर्धा चलती है और व्यक्ति द्वारा अधिकाधिक लाभ कमाने की बेहद दौड़ चलती है, जिसके कारण विषमता का वातावरण बनता है। शोषण का बोलबाला हो जाता है और श्रम उसकी अधीनता में आ जाता है। वर्तमान में सामाजिक विषमता बहुत गहरी है।

समाज को इस दृष्टि से हम दो भागों में बांट सकते हैं—एक छोटा सम्पन्न वर्ग—दूसरा बहुसंख्यक अभावग्रस्त वर्ग। एक शोषक, दूसरा शोषित। समाधान यह है कि किसी की या सबकी सम्पन्नता का आधार श्रम होना चाहिये क्योंकि उत्पादन का मूल श्रम है और श्रम से मूल्य पैदा होता है। एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका मूल्य तो है, किन्तु जिसके उत्पन्न होने में मानव-श्रम की आवश्यकता न हुई हो। जब श्रम से ही मूल्य पैदा होता है तो उसका मूल्य का पहला अधिकारी श्रमिक होना चाहिये, लेकिन वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में नियंत्रण ऐसे वर्ग के हाथों में है जो स्वयं श्रम नहीं करता बल्कि जो श्रम का शोषण करता है तथा शोषण-शक्ति से समाज पर अपना नियंत्रण एवं वर्चस्व बनाता है। यह अर्थ प्रतिष्ठा है, श्रम प्रतिष्ठा नहीं।

शोषण की इस वैषम्यमूलक व्यवस्था के कारण सम्पन्न और अधिक सम्पन्न बनता है, तथा अभावग्रस्त और दरिद्रतर। इस अवस्था में नैतिकता

धराशायी हो जाती है क्योंकि एक ओर सम्पन्न वर्ग अपनी मदान्धता में, तो दूसरी ओर अभावग्रस्त वर्ग अपनी आर्थिक लाचारियों में नैतिकता से दूर हटता जाता है। जिस समाज से नैतिकता विदा हो जाती है, उस समाज में धर्म और आध्यात्मिकता का रूप स्वस्थ कैसे रह सकता है ?

अधिक अर्थ संचय अधिक ममत्व को जन्म देता है, तथा अधिक ममत्व सदैव समत्व-मूल पर प्रहार करता है। यदि समत्व का प्रकाश नहीं रहेगा तो ममत्व का अंधकार फैलेगा ही। आज सारा समाज इसी अंधकार में भटक रहा है। वह दिग्भ्रान्त है।

जीवन बदलने का प्रश्न :

अर्थ-मूल्यों पर आधारित जीवन-चर्या को जब तक हम श्रम एवं नीति के मूल्यों पर आधारित नहीं बना लेते तब तक वह समत्व-मूल को पुष्ट करने में सहायक नहीं हो सकती। जीवन-चर्या को निज की इच्छा एवं भावनापूर्ण बनाने में महावीर-दर्शन एक सशक्त प्रेरणा देता है। उनके अपरिग्रह दर्शन में स्पष्ट कहा गया कि अर्थ के प्रति अपने ममत्व को घटाते जाओ। एक गृहस्थ के जीवन में धन का अपना महत्व होता है। जिसके बिना एक कदम भी चलना दूभर होता है, किन्तु इस अर्थ का उपयोग जूते की तरह किया जाना चाहिये, पगड़ी की तरह नहीं। यही ममत्व-विसर्जन की स्थिति है।

हर आदमी रोटी की जगह रोटी खाता है। वह न तो सोना चबाता है न नोट। यह इसकी तृष्णा ही है कि वह अपने लिये अधिकाधिक अर्थ संचय करता है। मनुष्य की इस वृत्ति पर ललकारते हुए महावीर ने कहा कि—'मूच्छा परिग्गहो' जो परिग्रह के प्रति मूर्च्छा है, ममत्व है, वही पहिग्रह है, अर्थात् सोना, चाँदी, धन, सम्पत्ति, स्वयम् में परिग्रह नहीं हैं, सबसे बड़ा परिग्रह उसके प्रति ममत्व, मूर्च्छा है। ममत्व छूट जाये तो हर समदर्शी के लिये सम्पत्ति मिट्टी के ढेले के समान हो जाती है। वर्तमान संदर्भ में जब अर्थ के इस प्रभुत्व को ममत्व-त्याग के बल पर घटा दें या समाप्त करदें तो फिर नीति जीवन-चर्या की निर्देशिका बन जावेगी। यह नीति श्रम पर आधारित होगी और जब इन्सान अपने ही श्रम की रोटी खायेगा तो मन विशुद्ध बनेगा। मन विशुद्ध बनेगा तो वचन शुद्ध होगा और शुद्ध मन तथा वचन सम्पूर्ण आचरण को शुद्धता में ढाल देगा। ऐसा समग्र शुद्ध वातावरण ही समत्व-मूल को सुदृढ़ बना सकेगा।

समत्वमूलक समाज :

भारतीय संस्कृति में समत्वमूलक समाज की मात्र परिकल्पना ही नहीं की गई अपितु उसे साकार करने की दृष्टि भी दिखाई गई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की हमारे यहाँ परिकल्पना है। यदि सारा संसार ही एक परिवार

का रूप बन जाये तो इस यथार्थोन्मुख स्वप्न का एक वास्तविक लघु घटक है परिवार। किसी भी एक परिवार को हम लें बल्कि अपने ही परिवार से अनुभव लें कि एक परिवार में वृद्ध माता-पिता होते हैं जो अशक्त तथा सेवा के पात्र होते हैं, युवा सदस्य अपनी पूरी मेहनत से अर्थोपार्जन करते हैं तो छोटे-छोटे बच्चे भी पालन-पोषण करने लायक होते हैं। युवा सदस्य यह नहीं सोचते कि वे ही मेहनत करते हैं तो उसका फल केवल वे ही अकेले भोगें बल्कि बड़े विनय से वे माता-पिता की सेवा करते हैं। बड़े स्नेह से छोटे-छोटे बच्चों का पालन-पोषण करते हैं और बचे हुए अंश से अपना निर्वाह करते हैं। इसमें वे असीम सुख व आनन्द का अनुभव करते हैं। क्या ऐसा सुखद वातावरण परिग्रह की मूर्च्छा से सम्भव है? क्या ममत्व त्याग के बिना समत्व के ऐसे कल्पनातीत सुख की सृष्टि उस अनुभूति से सम्भव है? इस परिस्थिति पर सहृदयता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

क्या हम परिवार की इस शुभ कल्पना को सारे संसार में विस्तृत नहीं कर सकते? क्या समत्वमूल समाज की इस परिकल्पना को साकार नहीं किया जा सकता है? वस्तुतः यह कल्पना नहीं, सत्य है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने विवेक एवं सदाशय से इस सत्य को उपलब्ध करें।

एक में सब और सब में एक :

मनुष्य का हृदय मूलतः भावनाशील है। वह दुर्भाग्य से आज अर्थ एवं पूंजीवादी पद्धति से स्वयं को एक निर्जीव मशीन बना चुका है। ऐसे में उसे अपनी भावनाशील वृत्ति को उभारना और सशक्त बनाना चाहिये। 'सब धन धरती का, सब धरती गोपाल की।' यह भी यदि मानलें तो ममत्व की विषैली ग्रंथियाँ कट जायेंगी तथा सहज ही एक तटस्थ वृत्ति का आविर्भाव हो जायेगा। जड़ पर जब ममत्व नहीं होगा तो चेतन के प्रति जागरूकता पैदा होगी और चेतन के प्रति जागरूकता ही सच्चे समत्व की जननी है।

चेतन शक्ति में अपनी निष्ठा निहित कर देने से सच्ची मानवता का विकास होता है, जो अपने स्नेह एवम् सहयोग का आंचल सम्पूर्ण विश्व और प्राणी जगत् तक फैला देती है। सब अपने समत्व के अमृत से तृप्त हो जाते हैं। ऐसी ही मनःस्थिति में इस मान्यता का उदय होता है— एक में सब हैं—सब में एक है। तो आइये, वर्तमान संदर्भ में हम अपनी जीवनचर्या की सही समीक्षा करते हुए उसे बदलें, उसे नये नैतिक मूल्यों पर आधारित करें तथा उसकी सहायता से एक समत्वमूलक नये समाज की स्थापना, रचना करें जो अर्थ पर नहीं, श्रम और नीति पर टिका हो तथा आध्यात्मिकता को समृद्ध बनाता हो।

◆ ◆ ◆

धराशायी हो जाती है क्योंकि एक ओर सम्पन्न वर्ग अपनी मदान्धता में, तो दूसरी ओर अभावग्रस्त वर्ग अपनी आर्थिक लाचारियों में नैतिकता से दूर हटता जाता है। जिस समाज से नैतिकता विदा हो जाती है, उस समाज में धर्म और आध्यात्मिकता का रूप स्वस्थ कैसे रह सकता है ?

अधिक अर्थ संचय अधिक ममत्व को जन्म देता है, तथा अधिक ममत्व सदैव समत्व-मूल पर प्रहार करता है। यदि समत्व का प्रकाश नहीं रहेगा तो ममत्व का अंधकार फैलेगा ही। आज सारा समाज इसी अंधकार में भटक रहा है। वह दिग्भ्रान्त है।

जीवन बदलने का प्रश्न :

अर्थ-मूल्यों पर आधारित जीवन-चर्या को जब तक हम श्रम एवं नीति के मूल्यों पर आधारित नहीं बना लेते तब तक वह समत्व-मूल को पुष्ट करने में सहायक नहीं हो सकती। जीवन-चर्या को निज की इच्छा एवं भावनापूर्ण बनाने में महावीर-दर्शन एक सशक्त प्रेरणा देता है। उनके अपरिग्रह दर्शन में स्पष्ट कहा गया कि अर्थ के प्रति अपने ममत्व को घटाते जाओ। एक गृहस्थ के जीवन में धन का अपना महत्त्व होता है। जिसके बिना एक कदम भी चलना दूभर होता है, किन्तु इस अर्थ का उपयोग जूते की तरह किया जाना चाहिये, पगड़ी की तरह नहीं। यही ममत्व-विसर्जन की स्थिति है।

हर आदमी रोटी की जगह रोटी खाता है। वह न तो सोना चबाता है न नोट। यह इसकी तृष्णा ही है कि वह अपने लिये अधिकाधिक अर्थ संचय करता है। मनुष्य की इस वृत्ति पर ललकारते हुए महावीर ने कहा कि—'मूच्छा परिग्गहो' जो परिग्रह के प्रति मूर्च्छा है, ममत्व है, वही पहिग्रह है, अर्थात् सोना, चाँदी, धन, सम्पत्ति, स्वयम् में परिग्रह नहीं हैं, सबसे बड़ा परिग्रह उसके प्रति ममत्व, मूर्च्छा है। ममत्व छूट जाये तो हर समदर्शी के लिये सम्पत्ति मिट्टी के ढेले के समान हो जाती है। वर्तमान संदर्भ में जब अर्थ के इस प्रभुत्व को ममत्व-त्याग के बल पर घटा दें या समाप्त करदें तो फिर नीति जीवन-चर्या की निर्देशिका बन जावेगी। यह नीति श्रम पर आधारित होगी और जब इन्सान अपने ही श्रम की रोटी खायेगा तो मन विशुद्ध बनेगा। मन विशुद्ध बनेगा तो वचन शुद्ध होगा और शुद्ध मन तथा वचन सम्पूर्ण आचरण को शुद्धता में ढाल देगा। ऐसा समग्र शुद्ध वातावरण ही समत्व-मूल को सुदृढ़ बना सकेगा।

समत्वमूलक समाज :

भारतीय संस्कृति में समत्वमूलक समाज की मात्र परिकल्पना ही नहीं की गई अपितु उसे साकार करने की दृष्टि भी दिखाई गई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की हमारे यहाँ परिकल्पना है। यदि सारा संसार ही एक परिवार

का रूप बन जाये तो इस यथार्थोन्मुख स्वप्न का एक वास्तविक लघु घटक है परिवार। किसी भी एक परिवार को हम लें बल्कि अपने ही परिवार से अनुभव लें कि एक परिवार में वृद्ध माता-पिता होते हैं जो अशक्त तथा सेवा के पात्र होते हैं, युवा सदस्य अपनी पूरी मेहनत से अर्थोपार्जन करते हैं तो छोटे-छोटे बच्चे भी पालन-पोषण करने लायक होते हैं। युवा सदस्य यह नहीं सोचते कि वे ही मेहनत करते हैं तो उसका फल केवल वे ही अकेले भोगें बल्कि बड़े विनय से वे माता-पिता की सेवा करते हैं। बड़े स्नेह से छोटे-छोटे बच्चों का पालन-पोषण करते हैं और बचे हुए अंश से अपना निर्वाह करते हैं। इसमें वे असीम सुख व आनन्द का अनुभव करते हैं। क्या ऐसा सुखद वातावरण परिग्रह की मूर्च्छा से सम्भव है? क्या ममत्व त्याग के बिना समत्व के ऐसे कल्पनातीत सुख की सृष्टि उस अनुभूति से सम्भव है? इस परिस्थिति पर सहृदयता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

क्या हम परिवार की इस शुभ कल्पना को सारे संसार में विस्तृत नहीं कर सकते? क्या समत्वमूल समाज की इस परिकल्पना को साकार नहीं किया जा सकता है? वस्तुतः यह कल्पना नहीं, सत्य है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने विवेक एवं सदाशय से इस सत्य को उपलब्ध करें।

एक में सब और सब में एक :

मनुष्य का हृदय मूलतः भावनाशील है। वह दुर्भाग्य से आज अर्थ एवं पूंजीवादी पद्धति से स्वयं को एक निर्जीव मशीन बना चुका है। ऐसे में उसे अपनी भावनाशील वृत्ति को उभारना और सशक्त बनाना चाहिये। 'सब धन धरती का, सब धरती गोपाल की।' यह भी यदि मानलें तो ममत्व की विषैली ग्रंथियाँ कट जायेंगी तथा सहज ही एक तटस्थ वृत्ति का आविर्भाव हो जायेगा। जड़ पर जब ममत्व नहीं होगा तो चेतन के प्रति जागरूकता पैदा होगी और चेतन के प्रति जागरूकता ही सच्चे समत्व की जननी है।

चेतन शक्ति में अपनी निष्ठा निहित कर देने से सच्ची मानवता का विकास होता है, जो अपने स्नेह एवम् सहयोग का आंचल सम्पूर्ण विश्व और प्राणी जगत् तक फैला देती है। सब अपने समत्व के अमृत से तृप्त हो जाते हैं। ऐसी ही मनःस्थिति में इस मान्यता का उदय होता है— एक में सब हैं—सब में एक है। तो आइये, वर्तमान संदर्भ में हम अपनी जीवनचर्या की सही समीक्षा करते हुए उसे बदलें, उसे नये नैतिक मूल्यों पर आधारित करें तथा उसकी सहायता से एक समत्वमूलक नये समाज की स्थापना, रचना करें जो अर्थ पर नहीं, श्रम और नीति पर टिका हो तथा आध्यात्मिकता को समृद्ध बनाता हो।

◆ ◆ ◆

२४

समता–दर्शन : आज के सन्दर्भ में

☐ श्री प्रकाशचन्द्र सूर्या

विश्व आज असमानता, वमनस्य और अराजकता की लपटों में झुलस रहा है। भौतिक सम्पन्नता, विलासी जीवन, मानव के उद्विग्न मन को आवश्यक सुख-शांति उपलब्ध नहीं करा पाया है, फिर भी सत्ता और सम्पन्नता की होड़ में मानव अंधी दौड़ लगा रहा है।

सामाजिक असमानता को दूर करने के लिये समाजवादी विचारधारा का सूत्रपात दुनिया के कई देशों में सत्ता के माध्यम से हुआ। समाजवादी विचारधारा मानव-मस्तिष्क में क्रांति लाने के बजाय, मानव के आचरणों को समतामय बनाने के बजाय और उसके जीवन-संसार को सुख एवम् स्वर्ग तुल्य बनाने के बजाय, उसकी आकांक्षाओं पर मात्र ऐसे मलहम के रूप में प्रयुक्त हुई जो कुछ समय के लिये ठंडक तो दे सकती है परन्तु उसके घाव को ठीक करने के बजाय अधिक गहरा करती है।

समाजवाद वस्तुतः राजनैतिक विचारधाराओं से सम्प्रेषित रहा। उसमें मानव और उसके जीवन-प्रक्रिया के सम्बन्ध में सदाचार और सुसंस्कार के पोषण के सिद्धान्तों का अभाव है। समाजवाद अधिकारों को संघर्ष से प्राप्त करने की राह बताता है जबकि अधिकारों की प्राप्ति मूलतः योग्यता पर आधारित है।

सम्पत्ति व सत्ता, योग्यता एवम् संस्कारजन्य उपायों से प्राप्य होना चाहिये। न तो सम्पत्ति साध्य है न ही सत्ता। न इनके लिये साधना आवश्यक

है। समतामय जीवन, सत्ता एवम् सम्पत्ति को साधन के रूप में कल्याणकारी एवम् जनोपयोगी कार्यों में लगाने का संदेश देता है।

मानव-जीवन में जब तक सुसंस्कारों का मौलिक एवम् यथार्थ स्थान नहीं बनता, उसकी आकांक्षायें निरंकुश रहेंगी। महत्त्वाकांक्षी होना दुःखद नहीं है, परन्तु महत्त्वाकांक्षायें अच्छे ध्येय एवम् कल्याणकारी भावनाओं से प्रेरित होना आवश्यक है। हर क्षेत्र में मानव का ध्येय आसमान सा विशाल होना कहाँ तक उचित है? अच्छे कार्यों के लिये वास्तव में लक्ष्य अत्यन्त विस्तृत होना अच्छा है एवम् लक्ष्य असीम होना चाहिये परन्तु भौतिक सम्पन्नता के लिये, आध्यात्मिक पतन के लिये, नैतिक मूल्यों के ह्रास के लिये यह सीमा भी इतनी विस्तृत हो तो निश्चय ही मानव समुदाय एक दिन अत्यन्त कठिनाई में होगा। सत्य तो यही है। पतन की सीमायें आज टूटती जा रही हैं। कल्पनातीत घटनायें आज आपके सम्मुख हैं। ऐसे जटिल समय में मानव का कल्याण, देश व समाज का कल्याण, केवल मानव-आचरण के आमूलचूल परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है। समता-दर्शन में मानव की इन त्रासदियों के लिये अत्यन्त सार्थक सूत्र हैं। समता-दर्शन के समन्वय, समभाव तथा सम्यक्त्व जैसे वैचारिक तत्त्वों का व्यावहारिक दृष्टिकोण है। मानव वर्तमान कलेवर को, अन्यान्य त्रासदियों को, इन सूत्रों को आत्मसात कर सहज ही आत्म-कल्याण व जन-कल्याण में उपादेय हो सकता है।

समता-दर्शन चूंकि सत्ता एवम् सम्पत्ति को लक्ष्य नहीं करता, निरापद समाजवादी समाज व्यवस्था का उत्कृष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। सीमातिरेक सम्पत्ति के ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त तथा अपरिग्रह के व्यावहारिक दृष्टिकोण से समाज में नवीन आर्थिक क्रांति का अभ्युदय हो सकता है। सम्पत्ति अगर व्यक्ति पर प्रभावी न रहे तो उसका सदुपयोग निश्चित है। सम्पत्ति का उपभोग, सिर्फ भोग-विलास एवम् भौतिक सुख-सुविधाओं के सृजन में न हो तो अन्ततोगत्वा उसका यथार्थ मूल्य पहचानने में एवम् उसके परोपकारी उपयोग में कोई संदेह नहीं रहता। जीवन इन तत्त्वों के सहारे आसान जरूर आभासित हो परन्तु इन तत्त्वों में इतने लिप्त हो जायें कि मौलिक एवम् यथार्थ को भूल जायँ, यह असह्य है। आज की परिस्थितियों में यह सत्य प्रतीत होता है :—

THE ONLY TIME YOU THINK OF AIR WHEN YOU ARE DEPRIVED OF IT, MAN LIVES BY BREAD ALONE WHEN THERE IS NO BREAD.

अस्तित्व के लिये आवश्यक रोटी है। और रोटी की आवश्यकता मानव तब महसूस करता है जब फाक़े पड़ रहे हों या कि रोटी ही उपलब्ध न हो। यह कैसी विडम्बना है?

आज के जीवन की सबसे गहन पीड़ा भी यही है—बढ़ती हुई भोगलिप्सा एवम् अति भौतिकवादी जीवन-प्रक्रिया, जिसने आधारभूत आवश्यकताओं को भुला दिया है।

समाजवाद वर्गहीन समाज की कल्पना करता है। निःसन्देह यह कल्पना मूल्यवान है, परन्तु समता-दर्शन में गुण-कर्मों के आधार पर वर्गों की कल्पना की है। जन्म से, आर्थिक सम्पन्नता से कोई उच्च अथवा गरीबी से कोई हीन नहीं हो सकता। व्यक्ति के अर्जित गुणों एवम् कार्य की उच्च-नीचता की नींव पर जो वर्गीकरण खड़ा किया जायगा, वही वास्तव में मानवीय समता को एक ओर पुष्ट करेगा तो दूसरी ओर सद्गुणों एवम् सत्कर्मों को प्रेरित भी करेगा।

आज विषमताओं का फैलाव व्यक्ति से लेकर समाज तक, समाज से लेकर देश और देश से लेकर विश्व तक ही सीमित नहीं है। विज्ञान एवम् आध्यात्म भी इससे अछूते नहीं हैं। विषमता के इस वृहत नागपाश से समाज को मुक्त करने का समग्र समाधान 'समता' में निहित है। विषमता विकृति है, समता पूर्णता है।

द्वितीय खण्ड

समता-व्यवहार

२५
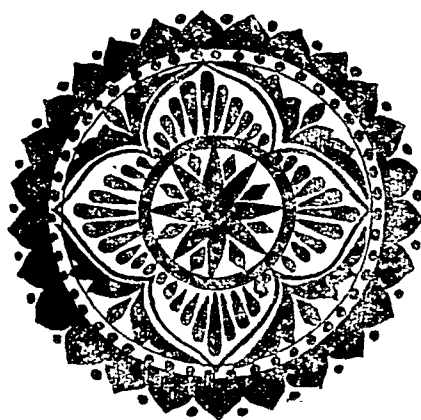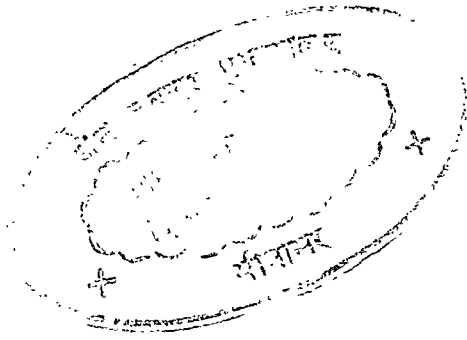
जीवन में समता लाने के उपाय

☐ आचार्य श्री हस्तीमलजी म०सा०

विषमता दुःख, क्लेश और अशान्ति की जननी है तो समता सुख, शान्ति, सन्तोष और मित्रता को सरसाने वाली एवं अभीष्ट फल देने वाली कामधेनु है। घर, परिवार या राष्ट्र कहीं भी समता के बिना शान्ति सुलभ नहीं हो सकती। शास्त्र में कहा है—'समयाए विरण मुक्खो, नहु हुओ कहवि नहु होई' अर्थात् समता के बिना कभी आत्मा की मुक्ति नहीं हुई और न होगी।

अब प्रश्न उठता है कि भौतिकता के चकाचौंध भरे आज के आडम्बरी जीवन में जहां हर व्यक्ति अपने को दूसरे से सुखी, समृद्ध और बड़ा देखना चाहता है, अपनी सुविधा के सामने दूसरे की दुविधा का कुछ भी ध्यान नहीं रखता, स्वार्थ-सिद्धि के सामने परमार्थ पर पल भर भी विचार करना नहीं चाहता, ऐसी स्थिति में जीवन में समता का आसन कैसे जमाया जाय ?

आत्मौपम्य बुद्धि :

यह सच है कि समता एक उत्कृष्ट साधना है, अनुपम व्रत है, मगर व्यवहार में समता को लाना तभी संभव है जब मन में प्राणि-मात्र पर आत्म-बुद्धि हो। जगत् के जीवों को आत्म तुल्य समझे बिना, व्यवहार में समता आ नहीं सकती। भगवान् महावीर ने 'स्थानांग सूत्र' में कहा है—'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है। संसार के अनन्त-अनन्त जीव चेतना या उपयोग गुण से एक हैं। संग्रहनय इनमें भेद नहीं मानता। वह जीव मात्र को अपना रूप मानता है। दृष्टि में भेद नहीं होगा तो व्यवहार में भी भेदभाव का स्थान नहीं रहेगा। गीता में भी कहा है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति' अर्थात् जो समस्त प्राणियों में आत्मवत् देखता है, वह पण्डित है। आत्मतुल्य सबको देखने वाला

किसी के साथ विषम व्यवहार क्यों करेगा ? कहा भी है—'आत्मौपम्येन भूतानां दयांकुर्वन्ति साधव: ।' याने संसार के सभी साधु, महात्मा अपनी तरह अन्य प्राणियों के प्राण को भी रक्षणीय समझते हैं। 'आचारांग' सूत्र में स्पष्ट कहा है जिसको तुम मारते हो और पीड़ा देते हो, वह स्वयं तुम ही हो। इस प्रकार जीव मात्र में आत्म बुद्धि हो जाने पर वैर, विरोध और किसी प्रकार का विषम-भाव का उदय ही नहीं हो पाएगा।

जैसा कि कहा है—तुमंसिणाम तं चेव जं हंतव्वंति मण्णसि, तुमंसिणाम तं चेव जं अज्जावेयव्वंति मण्णसि, तुमंसिणाम तं चेव जं परियावेयव्वंति मण्णसि, एवं जं परिघेत्तव्वंति मण्णसि, जं उद्दवेयव्वंति मण्णसि, अंजूचेयं पडिवुद्धजीवी, तम्हा ण हंता णवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं णाभिपत्थए। —आचा० १।५।५।१६४

सरल स्वभावी साधक इस प्रकार विवेकपूर्वक जीवन चलाता, इसलिए न किसी की घात करता है और न करवाता है, क्योंकि वह पर जीव से अपनी आत्मा की तुलना एवं वेदन कर किसी को मारने की इच्छा ही नहीं करता।

जागतिक जीवों के प्रति यह आत्मीय भाव बना रहे तो कहीं भी विषम व्यवहार का कारण ही उपस्थित नहीं होगा और समता की शीतल सरिता में अवगाहन कर सभी परम प्रसन्न और सुखी हो सकेंगे।

गुणग्रहण की अभिरुचि :

मानव जब किसी के दोषों का विचार करता है, तब सहज ही मन में विषमता का उदय हो आता है। अत: विषमता से बचने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति में दोष के बदले गुण देखा जाय तथा उसे ग्रहण किया जाय। गुण-दर्शन और ग्रहण से सहज ही प्रेम और सौहार्द का जागरण संभव होता है। इससे दूसरे के मन में भी आदर उत्पन्न होगा और धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी।

वस्तु में गुण और दोष दोनों प्रचुर मात्रा में होते हैं। हमको हंस जैसे नीर-क्षीर विवेक न्याय से दोषों के बीच से गुण को ग्रहण कर लेना है। गुण-ग्रहणता का लक्ष्य होने से, विषमता स्वत: दूर हो जायेगी और समता मानस में वास कर लेगी, अत: गुण-ग्रहण के लिए सतत ध्यान बनाये रहें।

स्वदोष-दर्शन :

वैर-विरोध या वैमनस्य का प्रमुख कारण पर दोष-दर्शन है। इसी के कारण आज संसार में जहां-तहां पारस्परिक विरोध और कलह का बोलवाला है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के तिल जैसे दोष को ताड़ की तरह देखता और अपने ताड़वत् दोष को तिल तुल्य मानता है। केवल दोष दर्शन ही नहीं किन्तु उस पर होने वाली कटु आलोचना भी आपसी मधुर सम्बन्ध को विषाक्त कर देती है।

सबके मन में एक ही बात घर किये रहती है कि मैं ही ठीक हूं और कोई नहीं। बस यही विषमता की बुनियाद है। जब तक हमारी दृष्टि गुण दर्शन के बदले, दोषों को देखती रहेगी, तब तक मन में समता सम्भव नहीं है।

कल्याणकामी जनों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे परदोष-दर्शन के बदले स्वदोष पर ही दृष्टि डालें तथा सोचें कि—'मो सम कौन कुटिल खल कामी' अर्थात् मुझ से बढ़कर कोई भी खल, कुटिल और कामी नहीं है। इस तरह जब स्वदोष-दर्शन का स्वभाव पड़ जायेगा तो दूसरे का कभी तिरस्कार नहीं होगा। गुणों के प्रति प्रमोद जगने से कहीं त्रुटि देखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। स्वदोष-दर्शन से दूसरे के दोष देखने की आदत छूट जायेगी, जिससे पारस्परिक ईर्ष्या, क्रोध और द्वेष भावना ठंडी पड़ जाएगी।

सर्वभूत-मैत्री :

संसार में प्रायः अधिकांश व्यक्ति अपने दुःख को ही दुःख समझते, दूसरे के दुःख को नहीं। वे मानते हैं कि 'मैं सुखी तो जग सुखी।' अपने घर और परिवार को ही अपना समझने वाले लोग कभी किसी को गिरते देखकर सहानुभूति के बदले हँसने के संग ताली पीटने लगते हैं। भला ! ऐसे लोगों के जीवन में समता कैसे आ सकती है ?

समता के लिए पर के साथ भी पारिवारिक प्रिय दृष्टि का होना आवश्यक है। शरीर के अंगों में कभी कहीं बाधा आ जाय तो समान रूप से उसकी संभाल की जाती है। सिर हो या पैर, शुश्रूषा में भेद नहीं होता, ऊंच-नीच की दृष्टि नहीं रहती, वैसे ही प्राणिमात्र में भी अंगांगी भाव से देखने पर, विषमता नहीं पनपती, उल्टे सुख, शान्ति और संतोष वहाँ उजागर हो उठता है।

समता और सादगी :

लोक जीवन में रहन-सहन और ठाठबाट का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक व्यक्ति विशाल कोठी में रहता, बढ़िया वस्त्राभूषण पहनता और वातानुकूल यान या वाहन में घूमता है और दूसरे एक कच्चे मकान में रहता, फटा वस्त्र पहनता तथा यों ही पैर रगड़ते चलता है। इस रहन-सहन के भेद से एक में अहंकार उत्पन्न होता तो दूसरे में दीनता के साथ ईर्ष्या का अनल धधक उठता है। यदि रहन-सहन में सादगी अपनायी जाय तो बहुत-सी विषमता अनायास ही समाप्त हो जाए।

रहन-सहन सम्बन्धी अमीर-गरीब की भेद-रेखा सादगी से मिटायी जा सकती है। प्राचीन काल में श्रीमन्त भी ग्रामीणों के साथ वैसे ही कच्चे मकान में रहते और उन्हीं की तरह मोटे और सादे वस्त्र पहनते थे। फलतः वे गरीबों

की आँखों में नहीं अखरते थे। अमीर और गरीबों की वेष-भूषा में इतनी समानता होती थी कि सहज में पहचानना कठिन हो जाता था। वस्तुतः समाज में समता-विस्तार के लिए सादगी आवश्यक है।

अमीरी और विलास के लिए परिग्रह का संचय अत्यावश्यक होता है एवं उसके लिए हिंसा, असत्य, चोरी, डकैती आदि दुष्कर्मों का खुलकर प्रयोग किया जाता है। ऐसी स्थिति में समता जीवन में कैसी आयेगी ? अतः आवश्यक है कि सादगी पर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाय। 'सादा जीवन और उच्च विचार' रूप भारतीय संस्कृति के महत्त्व को हृदयंगम किया जाय।

सादगी अपनाने पर आवश्यकताएं सीमित हो जायेंगी और हम व्यर्थ के हाय-हाय से बच जायेंगे। भारतीय ऋषि-मुनियों ने सादगी को अपना कर ही समता का साक्षात्कार किया था। त्यागियों और अनगारों का वह पूर्ण सादा जीवन आज भी आँखों में झलक रहा है।

भाषा और व्यवहार में मृदुता :

समता और विषमता की पहचान मानव के वचन और व्यवहार से होती है। हमारा बोलचाल और लेनदेन का व्यवहार ही वृत्तियों में समता या विषमता को उत्पन्न करता है। किसी का सत्कार और किसी का तिरस्कार मानसिक विषमता को प्रकट करते हैं। अतः समता के लिए आवश्यक है कि सबके साथ भाषा और व्यवहार में मृदुता एवं समादर हो। यह तभी संभव है जब सबके प्रति बन्धुत्व और आत्मीयता हो। पिता, पुत्र, भाई-भाई और स्वजन-परिजन से सम्बन्धित हजारों लोग भिन्न-भिन्न होकर भी एक-रस होकर रहते हैं। उनमें भेद होते हुए भी विषमता नहीं मानी जाती। सबके प्रति प्रेम एवं आदरपूर्ण व्यवहार रखने वाला विषम दृष्टि से नहीं देखा जाता।

निर्मम जीवन और समता :

समता-सिद्धि के लिए जीवन को निर्मम बनाना आवश्यक है। ममता ही दुःख और विषमता की जननी है। धन, जन एवं परिवार की ममता में उलझा हुआ मानव सदा चिन्तित और व्याकुल बना रहता है। ममता में फंसा प्राणी एक से राग और दूसरे से द्वेष करता है। देखा जाता है कि ममतालु को कहीं शान्ति नहीं मिलती। राजा या रंक, अमीर या गरीब, बालक या वृद्ध, रागी अथवा विरागी कोई भी क्यों न हो, जब तक ममता में बंधा है, समता की उपलब्धि नहीं होगी। समता के लिए ममभाव को घटाकर, माध्यस्थ भाव का आलम्बन लेना आवश्यक है। वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव को जानकर मध्यस्थ रहने वाला, हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है।

'ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र' में बताया गया है कि राजा जितशत्रु के मन्त्री सुबुद्धि ने बदलती हुई परिस्थितियों में भी, कैसे समता को बनाये रक्खा। राजा के साथ विशिष्ट भोजन में सब लोगों ने भोजन की सराहना की पर मन्त्री तटस्थ रहा। ऐसे ही खाई के बदबूदार पानी से भी सब लोग नाक भौं सिकोड़कर निकले, पर मन्त्री उसमें बिना किसी भय और चिन्ता के तटस्थ ही नहीं रहे, किन्तु गन्दे पानी को स्वच्छ बनाकर राजा के समक्ष प्रमाणित कर दिया कि संसार के हर पदार्थ शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ होते हैं। इनमें हर्ष-शोक करने जैसा कोई कारण नहीं है। राजा, सुबुद्धि की इस गंभीरता एवं समझ से प्रभावित होकर व्रती-श्रावक बन गया। यह समता का ही प्रभाव है।

महाराजा भरत इसी निर्मम भाव के कारण छः खण्ड के अधिपति होकर भी हर्ष-शोक में नहीं पड़े। किसी ने भरत के लिए भगवान् ऋषभ द्वारा मोक्ष जाने के निर्णय का विरोध किया। कहने लगा कि इतना बड़ा आरम्भी यदि मोक्ष जायेगा तो नरक किसके लिए है? प्रसंग का ज्ञान होने पर भरत ने उस पर रोष नहीं किया, पर तेल का कटोरा हाथ में देकर, नगर भ्रमण करा के समझाया कि मनुष्य तन से विभिन्न प्रवृत्तियां करते हुए भी मन से निर्मम, अलिप्त रह सकता है।

मध्यस्थभाव से जीने की यह कला समता-प्राप्ति का प्रमुख उपाय है। जिसने संसार के द्वन्द्व में इस तरह मध्यस्थ भाव से जीना सीख लिया, उसे संसार के सुख-दुःख, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोग और भवन या वन में हर्ष-शोक नहीं होता। उसका मन तथा मस्तिष्क सदा, सर्वत्र शान्त, संतुलित और स्वस्थ रहता है। यही समता की आराधना का लाभ है।

विचार सहिष्णुता और समता :

विश्व के रंगमंच पर नाना आकृति, प्रकृति और रुचि के प्राणी होते हैं। सबके शील, स्वभाव, आचार, विचार एवं व्यवहार एक से नहीं हो सकते। इन भिन्नताओं से यदि मानव टकराता रहा तो संसार अशान्ति का अड्डा बन जायेगा। अतः हमें भिन्नता में भी अभिन्न रूप खोजने का यत्न करना चाहिए।

महर्षियों ने कहा है—'एक मांहि अनेक राजे, अनेक मांहि एककं'। हम शास्त्र की भाषा में अनेक में एक और एक में अनेक भी हैं। हमें व्यक्तिगत ही नहीं, देश, जाति, धर्म और सम्प्रदाय भेद में भी टकराहट को समाप्त करना है। हर देश, जाति-धर्म एवं सम्प्रदाय को परस्पर भाईचारे के व्यवहार से रहना है।

प्राचीन साहित्य में पशु जगत् के अमुक जन्तुओं से भी शिक्षा ग्रहण करने की बात कही गयी है। फिर भला! मानव अपने साथ रहने वाले भाइयों से ही

जाति, प्रान्त, धर्म या सम्प्रदाय के नाम से घृणा या तिरस्कार करता रहा तो यह कितनी हास्यास्पद बात होगी ?

तप, जप, सत्संग आदि हमारी धार्मिक साधना, जो ममता की बेड़ी काटने के लिए की जाती है, राग भाव की तीव्रता से सफल नहीं हो पाती। उसमें ममता पनप रही है क्योंकि हम देव, गुरु, धर्म को भी राग घटाने के स्थान पर राग वृद्धि का कारण बना रहे हैं। हम अपनी आम्नाय के देव, गुरु, धर्म से भिन्न अन्य को तिरस्कार भरी हीन दृष्टि से देखने लगे हैं। गुण पूजा का स्थान व्यक्ति पूजा और वेष पूजा ने ले लिया है। इतिहास बतलाता है कि भगवान् पार्श्वनाथ के भक्त भगवान् महावीर को देव, गुरु मानने में नहीं सकुचाये और न भगवान् महावीर के श्रमणोपासक पार्श्व-परम्परा के साधुओं की भक्ति में ही कभी पीछे रहे। उन्होंने महाव्रती साधु में गुरु रूप के दर्शन किये थे।

मगर आज हम छोटी-छोटी बात को लेकर भी आपस में टकरा जाते हैं। फलस्वरूप साधना में समता के दर्शन नहीं हो पाते। हमें राष्ट्र, जाति, धर्म और सम्प्रदाय में मैत्रीपूर्ण व्यवहार को बढ़ावा देकर यह प्रमाणित करना चाहिए कि धर्म राग-द्वेष को क्षीण करने वाला है। हमारा यह यत्न होना चाहिये कि एक दूसरे के विचारों का आदर करते हुए, परस्पर के उपादेय अंश को ग्रहण करें। इससे आपसी प्रेम और मित्रता की वृद्धि होगी जो समाज में समता उत्पन्न कर सकेगी।

समता और आत्मालोचन :

विश्व के चराचर प्राणियों के साथ मैत्री भाव से रहने का ध्यान रक्खा जाय तो जीवन में समता की प्राप्ति हो सकती है और विषमता को उत्पन्न करने वाला वैर-विरोध रूप दावानल शान्त हो सकता है। पर यह समता तब तक स्थायी और पूर्ण नहीं हो पाती, जब तक राग-रोष का सर्वथा उन्मूलन नहीं कर लिया जाय।

शान्ति और समता से जीवन चलाने वाले परिवार एवं समाज के सदस्यों के मन में भी मोह वश कदाचित् वैषम्यभाव का उदय होना और प्रमाद से समता वृत्ति में चूक जाना संभव है। अतः समता की लहर को स्थिर करने के लिए, आत्म-निरीक्षण एवं परिशोधन का ध्यान रखना होगा।

आज घर में किसी सेवक और गांव में दलित वर्ग के साथ कभी अभद्र-व्यवहार होता या उसको दबाया जाता तो सरकार में शिकायत की जाती तथा प्रतिपक्षी को दंडित करने के लिए जोर दिया जाता है। यदि आत्म-निरीक्षण से अधिकारी व्यक्ति अपनी भूल को देखता रहे और उसके लिए स्वयं क्षमा-

याचना या पश्चाताप से परिमार्जन करले तो संभव है ऐसी स्थिति नहीं आवे। शान्तिकामी जन को प्रतिदिन अपने व्यवहारों का आलोचन करना चाहिये। कहीं किसी के साथ बोलते या व्यवहार करते, अनुचित या प्रतिकूल आचरण तो नहीं किया है? अगर कुछ वैसा हो गया हो तो अपने को उचित प्रायश्चित्त से अनुशासित करते रहना चाहिये। इससे हमारा साम्यभाव अबाधित चलता रहेगा। जैन शास्त्र में सामायिक के पश्चात् प्रतिक्रमण विधान का यही आशय है, कहा ही है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत, नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं, किन्नु सत्पुरुषैरिति ।।

अर्थात् प्रतिदिन नर को अपने चरित्र को देखते रहना चाहिये कि उसमें कहाँ तक पशुओं से तुल्यता है और कहाँ तक सत्पुरुषों का सादृश्य?

२६
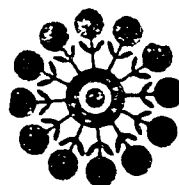
समता और उसका मुख्य बाधक तत्त्व—क्रोध

□ डॉ० हुकमचंद भारिल्ल

समताभाव आत्मा का सहज स्वभाव है। आत्मा का सुख और शांति भी समताभाव में ही निहित है। यद्यपि यह समतास्वभावी आत्मा ज्ञान का घनपिंड और आनन्द का कन्द है, स्वभाव से स्वयं में परिपूर्ण है तथापि कुछ विकृतियां, कमजोरियां तब से ही इसके साथ जुड़ी हुई हैं, जब से यह है। उन कमजोरियों को शास्त्रकारों ने विभाव कहा, कषाय कहा और न जाने क्या-क्या नाम दिये। उनके त्याग का उपदेश भी कम नहीं दिया। सच्चे सुख को प्राप्त करने का उपाय भी उनके त्याग को ही बताया। यहाँ तक कहा—

क्रोध, मोह, मद, लोभ की, जो लों मन में खान।
तों लों पंडित—मूरखो, तुलसी एक समान।।

महात्माओं के अनेक उपदेशों के बावजूद भी आदमी इनसे बच नहीं पाया। अपने समता स्वभाव को प्राप्त कर नहीं पाया।

इन कमजोरियों के कारण प्राणियों ने अनेक कष्ट उठाये हैं, उठा रहे हैं और उठायेंगे। इनसे बचने के भी उसने कम उपाय नहीं किए, पर बात वहीं की वहीं रही। कई बार इसके महत्त्वपूर्ण कार्य बनते-बनते इन्हीं विकृतियों के कारण बिगड़े हैं।

जिन विकारों के कारण, जिन कमजोरियों के कारण, आदमी सफलता के द्वार पर पहुँच कर कई बार असफल हुआ, सुख और शांति के शिखर पर पहुंच

कर कई बार असफल हुआ, सुख और शांति के शिखर पर पहुंच कर उसे प्राप्त किए बिना ही ढुलक गया, समता स्वभावी होकर भी समता को पर्याय में प्राप्त कर नहीं सका। उन विकारों में, उन कमजोरियों में सबसे बड़ा विकार, सबसे बड़ी कमजोरी है क्रोध।

क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, ऐसी कमजोरी है जिसके कारण उसका विवेक समाप्त हो जाता है, भले-बुरे की पहिचान नहीं रहती। जिस पर क्रोध आता है, क्रोधी उसे भला-बुरा कहने लगता है, गाली देने लगता है, मारने लगता है यहां तक कि स्वयं की जान जोखम में डालकर भी उसका बुरा करना चाहता है। यदि कोई हितैषी पूज्य पुरुष भी बीच में आवे तो उसे भी भला, बुरा कहने लगता है, मारने को तैयार हो जाता है। यदि इतने पर भी उसका बुरा न हो तो, स्वयं बहुत दुःखी होता है, अपने ही अंगों का घात करने लगता है, माथा कूटने लगता है, यहां तक कि विषादि-भक्षण द्वारा मर तक जाता है।

लोक में जितनी भी हत्याएँ और आत्म-हत्याएँ होती हैं, उनमें अधिकांश क्रोधावेश में ही होती हैं। क्रोध के समान आत्मा का कोई दूसरा शत्रु नहीं है। समता के समान कोई मित्र भी नहीं।

क्रोध करने वाले को जिस पर क्रोध आता है, वह उसकी ओर ही देखता है, अपनी ओर नहीं देखता। क्रोधी को जिस पर क्रोध आता है, उसी की गलती दिखाई देती है, अपनी नहीं। चाहे निष्पक्ष विचार करने पर अपनी ही गलती निकले, पर क्रोधी विचार करता ही कब है ? यही तो उसका अन्धापन है कि उसकी दृष्टि पर की ओर ही रहती है और वह भी पर में विद्यमान-अविद्यमान दुर्गुणों की ओर ही। गुणों को वह देख ही नहीं पाता। यदि उसे पर के गुण दिखाई दे जावें तो फिर उस पर क्रोध ही क्यों आवे, फिर तो उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी।

यदि मालिक के स्वयं के पैर से ठोकर खाकर कांच का गिलास टूट जावे तो एकदम चिल्लाकर कहेगा—इधर बीच में गिलास किसने रख दिया ? उसे गिलास रखने वाले पर क्रोध आयेगा, स्वयं पर नहीं। वह यह नहीं सोचेगा कि मैं देखकर क्यों नहीं चला। यदि वही गिलास नौकर के पैर की ठोकर से फूटे तो चिल्लाकर कहेगा—देखकर नहीं चलता, अन्धा है। फिर उसे बीच में गिलास रखने वाले पर क्रोध न आकर, ठोकर देने वाले पर आयेगा क्योंकि बीच में गिलास रखा तो स्वयं उसने है। गलती हमेशा नौकर की ही दिखेगी चाहे स्वयं ठोकर दे, चाहे नौकर के पैर की ठोकर लगे, चाहे स्वयं गिलास रखे, चाहे दूसरे ने रखा हो।

यदि कोई कह दे कि गिलास को आप ही ने रखा था और ठोकर भी आपने मारी। अब नौकर को क्यों डांटते हो, तब भी यही बोलेगा कि इसे उठा लेना चाहिए था। उसने उठाया क्यों नहीं? उसे अपनी भूल दिख ही नहीं सकती क्योंकि क्रोधी, पर में ही भूल देखता है। स्वयं में देखने लगे तो क्रोध आयेगा कैसे? यही कारण है कि आचार्यों ने क्रोधी को क्रोधान्ध कहा है।

क्रोधान्ध व्यक्ति क्या-क्या नहीं कर डालता? सारी दुनिया में मनुष्यों द्वारा जितना भी विनाश होता देखा जाता है, उसके मूल में क्रोधादि भाव ही देखे जाते हैं। द्वारिका जैसी पूर्ण विकसित और सम्पन्न नगरी का विनाश द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण ही हुआ था। क्रोध के कारण सैंकड़ों घर-परिवार टूटते देखे जाते हैं। अधिक क्या कहें—जगत् में जो कुछ भी बुरा नजर आता है, वह सब क्रोधादि विकारों का ही परिणाम है। कहा भी है—'क्रोधोदयात् भवति कस्य न कार्यहानिः' क्रोधादि के उदय में किसकी कार्य हानि नहीं होती, अर्थात् सभी की हानि होती ही है।

क्रोध एक शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है। वह क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भंग कर ही देता है, साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है। जिसके प्रति क्रोध प्रदर्शन होता है, वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है। और इस दुःख पर उसकी त्यौरी चढ़ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोड़े निकलते हैं कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है, व उचित है या अनुचित?

क्रोध का एक खतरनाक रूप बैर है। बैर क्रोध से भी खतरनाक मनोविकार है। वस्तुतः वह क्रोध का ही एक विकृत रूप है। 'बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।' क्रोध के आवेश में हम तत्काल बदला लेने की सोचते हैं। सोचते क्या हैं तत्काल बदला लेने लगते हैं। जिसे शत्रु समझते हैं, क्रोधावेश में उसे भलाबुरा कहने लगते हैं, मारने लगते हैं पर जब हम तत्काल कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न कर मन में ही उसके प्रति क्रोध को इस भाव से दबा लेते हैं कि अभी मौका ठीक नहीं है, प्रत्याक्रमण करने से मुझे हानि हो सकती है, शत्रु प्रबल है। मौका लगने पर बदला लूंगा। तब वह क्रोध बैर का रूप धारण कर लेता है और वर्षों दबा रहता है तथा समय आने पर प्रकट हो जाता है। ऊपर से देखने पर क्रोध की अपेक्षा यह विवेक का कम विरोधी नजर आता है पर यह है क्रोध से भी अधिक खतरनाक, क्योंकि यह योजनाबद्ध विनाश करता है जबकि क्रोध विनाश की योजना नहीं बनाता। तत्काल जो जैसा सम्भव होता है कर गुजरता है। योजनाबद्ध विनाश सामान्य विनाश से अधिक खतरनाक और भयानक होता है।

यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध में देखने में आती है, उतनी बैर में नहीं तथापि क्रोध का काल बहुत कम है जबकि बैर पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है ।

क्रोध और भी अनेक रूपों में पाया जाता है । झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट, क्षोभ आदि भी क्रोध के ही रूप हैं । जब हमें किसी की कोई बात या काम पसन्द नहीं आता है और वह बात बार-बार हमारे सामने आती है तो हम झल्ला पड़ते हैं । बार-बार की झल्लाहट, चिड़चिड़ाहट में बदल जाती है । झल्लाहट और चिड़चिड़ाहट असफल क्रोध के परिणाम हैं । ये एक प्रकार से क्रोध के हल्के-हल्के रूप हैं । क्षोभ भी क्रोध का ही अव्यक्त रूप है ।

ये सभी विकार क्रोध के ही छोटे-बड़े रूप हैं । सभी मानसिक शान्ति को भंग करने वाले हैं, महानता की राह के रोड़े हैं । इनके रहते कोई भी व्यक्ति महान् नहीं बन सकता, पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता । यदि हमें महान् बनना है, पूर्णता को प्राप्त करना है तो इन पर विजय प्राप्त करनी ही होगी । इन्हें जीतना ही होगा । पर कैसे ?

महापंडित टोडरमल के शब्दों में—"अज्ञान के कारण जब तक हमें पर पदार्थ इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेंगे तब तक क्रोधादि की उत्पत्ति होती ही रहेगी ,किन्तु जब तत्त्वाभ्यास के बल से पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होगी तब स्वभावत: क्रोधादि की उत्पत्ति नहीं होगी ।" आशय यह है कि क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण, हमारे सुख-दु:ख का कारण दूसरों को मानना है, जब हम अपने सुख-दु:ख का कारण अपने में खोजेंगे, उनका उतरदायित्व अपने में स्वीकारेंगे तो फिर हम क्रोध करेंगे किस पर ?

अपने अच्छे-बुरे और सुख-दु:ख का कर्ता दूसरों को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है ।

इन विकारों से बचने एवं समताभाव प्राप्त करने का एक ही मार्ग है—अपने को जानिये, अपने को पहिचानिए और अपने में जम जाइये, रम जाइये, अपने में ही समा जाइये ।

करके तो देखिए—क्रोधादि की उत्पत्ति भी न होगी और आप समताभाव को सहज ही प्राप्त कर लेंगे ।

□ □ □

२७
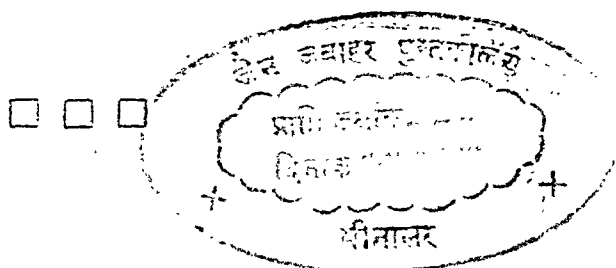
क्रोधाग्नि : कैसे सुलगती है ? कैसे बुझती है ??

☐ श्री रणजीतसिंह कूमट

आग का सामान्य सिद्धान्त :

लाख का घर एक चिनगारी से नष्ट हो जाता है। समता को नष्ट करने में भी क्रोध की यही भूमिका है। क्रोध मैत्री का नाश करता है। सामान्य व्यवहार में कटुता का मूल क्रोध है। प्रश्न उठता है कि हमारी समता में आग कैसे लगती है ? इसके लिये यह समझें कि सामान्य वस्तु में आग कैसे लगती है ? वस्तु में आग लगने का सिद्धान्त यदि अध्ययन करें तो पता लगता है कि वस्तु में थोड़ी बहुत आग निहित है और बाहरी तत्त्व की सहायता से निहित आग भड़कती है। आग लगने का फार्मूला इस प्रकार है :—

वस्तु में निहित ताप+ताप का संयोग+आक्सीजन

किसी वस्तु में बहुत जल्दी आग लग जाती है तो अन्य वस्तु को काफी देर तक आग के पास रखने पर भी उसमें आग नहीं लगती। पैट्रोल के पास जरा भी ताप बढ़े तो आग लग जाती है परन्तु अभ्रक को आग में रख दो तो आग नहीं लगती। आग लगने के वक्त व बाद में ऑक्सीजन मिल जावे तो आग और अधिक तेजी से जलती है और यदि ऑक्सीजन को रोक दिया जाय तो आग बुझ सकती है। अतः आग लगने में बाहरी तत्त्व ताप का संयोग व ऑक्सीजन हैं परन्तु वस्तु का स्वयं का निहित ताप इस बात को निर्धारित करेगा कि उस वस्तु में आग लगेगी या नहीं लगेगी और यदि लगेगी तो कितनी देर से। आग

लगने के वाद बुझाना हो तो ऑक्सीजन की पूर्ति रोकने से आग बुझ जावेगी। पानी से सामान्य आग बुझ जाती है परन्तु जिनका निहित ताप पानी से भी कम नहीं किया जा सकता, उस आग को पानी भी नहीं बुझा सकता, जैसे पैट्रोल, बिजली या रसायन की आग।

क्रोधाग्नि का सिद्धान्त :

आग का यह सामान्य सिद्धान्त इसलिए विवेचित किया कि हम इसी आधार पर अपनी क्रोधाग्नि के बारे में समझ सकें। हममें क्रोधाग्नि कैसे लगती है ? हम कब भड़कते हैं ? जो सिद्धान्त वस्तु में आग लगने पर लागू है वही हम पर भी लागू होता है। कोई व्यक्ति बहुत जल्दी आगबबूला हो जाता है तो कोई व्यक्ति बहुत कुछ कहने पर भी शान्त रहता है। कोई व्यक्ति समझाने पर भी शान्त नहीं होता और कोई थोड़ी देर के क्रोध के बाद एकदम शांत हो जाता है।

क्रोध का विश्लेषण करें तो पता लगता है कि क्रोध का भी वही सिद्धान्त है जो आग का है। क्रोध का किसी भी व्यक्ति में जो निहित तत्त्व है वही यह निर्धारित करता है कि वह व्यक्ति कितना जल्दी क्रोध से प्रज्वलित होगा। फार्मूला इस प्रकार लिख सकते हैं :—

क्रोध का निहित तत्त्व + बाहर का भड़काने वाला प्रसंग + क्रोध को जारी रखने में सहायक तत्त्व

जिस व्यक्ति में निहित क्रोध अधिक है वह जरा-सा संयोग मिलते ही क्रोधित हो जावेगा। वही प्रसंग अन्य कई व्यक्तियों को क्रोधित करने में सफल नहीं होगा। जो शान्त मुनि होते हैं, उनको कितना ही भड़काया जावे वे क्रोधित नहीं होते। क्रोध प्रारम्भ होने के बाद एक अन्य क्रिया अन्दर शुरू हो जाती है— क्रोध के उत्तरोत्तर बढ़ने की। उसी में व्यक्ति Work up होकर और क्रोध करता ही जाता है। इस प्रकार का क्रोध कभी-कभी उस व्यक्ति की जान भी ले बैठता है। क्रोध कितनी देर चलेगा, यह इस बात पर निर्भर है कि वह प्रेरक प्रसंग कितनी देर तक उपस्थित है। उदाहरणार्थ दो व्यक्तियों में झगड़ा प्रारम्भ हो गया। यदि इनमें से एक चुप हो जाय या प्रस्थान कर जाय तो जल्दी क्रोध समाप्त हो सकता है, लेकिन यदि दोनों बराबरी से क्रोध करते रहें तो आग उत्तरोत्तर बढ़ेगी, घटने का सवाल क्या ? निहित क्रोध भी सापेक्ष तत्त्व है। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति यदि किसी व्यक्ति का पूर्वाग्रह या द्वेष है तो जल्दी क्रोध जागता है परन्तु उसके प्रति राग या मोह है तो क्रोध देर से या नहीं जागता है।

क्रोध की जड़ हमारे में है :

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि क्रोध बाहरी तत्त्व के संयोग से अवश्य प्रकट होता है लेकिन जब तक हमारे में क्रोध का तत्त्व निहित नहीं होगा तब तक बाहरी संयोग कुछ नहीं कर सकता। अतः क्रोध की जड़ हमारे में है न कि किसी अन्य में। अधिकतर किसी भी झगड़े या क्रोध की बात का दोष हम दूसरे पर डाल कर यह समझाने की कोशिश करते हैं कि यदि उसने कुछ न कहा होता तो मुझे क्रोध न आता, लेकिन यह भुलावा मात्र है। क्रोध की जड़ जब तक हममें है, हम क्रोध से मुक्त नहीं हो सकते। जब क्रोध का प्रसंग आवे और क्रोध न भड़के तब ही हम कह सकते हैं कि हम क्रोध का शमन कर सके हैं। अभ्रक के समान यदि आग न लगने की क्षमता हो जाय तब ही समझना चाहिए कि क्रोध शान्त हुआ है।

आचार्य रजनीश ने एक मजेदार बात कही है, उन्होंने कुछ व्यक्तियों से कहा कि आप एक कमरे में वन्द होकर खाली तकिये को छड़ी से पीटिये। कुछ देर तो वे उसे कुतूहलवश पीटते रहे, लेकिन कुछ ही देर में वे इतने आगबबूला हो गये कि तकिये को पीटते-पीटते स्वयं बेहाल हो गए। यह इसी बात का द्योतक है कि हम में निहित क्रोध ही क्रोध का जन्मदाता है। बाहर के प्रसंग निमित्त मात्र हैं। यही बात अन्य कषाय यथा मान, माया, लोभ पर भी लागू होती है।

क्रोध का शमन :

क्रोध के शमन का लक्षण यह नहीं कि लम्बे समय तक क्रोध नहीं आया परन्तु सही लक्षण यह है कि काफी उत्तेजना दिलाने पर भी क्रोध प्रकट न हो। क्रोध का दमन हो सकता है, प्रसंग न हो तब तक क्रोध प्रकट न हो यह भी संभव है, लेकिन क्रोध समूल नष्ट हो जाय, यह बहुत कठिन साधना है।

क्रोध का शमन बहुत बड़ा तप है। शुभचन्द्राचार्य ने तो यहां तक कह दिया कि यदि क्रोध का शमन नहीं किया तो सब तप व्यर्थ है :—

यदि क्रोधादयः क्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा।
तपोभिरथ तिष्ठन्ति तपस्तत्राप्य पार्थकम् ॥

—ज्ञानार्णव, अध्याय १९, श्लोक ७६

हे मुनि ! यदि क्रोधादिक कषाय क्षीण हो गए हैं तो तप करके खेद करना व्यर्थ है, क्योंकि क्रोधादिक को जीतना तप है और यदि क्रोधादिक तेरे तिष्ठते हैं तो तेरा तप करना व्यर्थ है क्योंकि कषायी का तप करना व्यर्थ ही होता है।

क्रोधादिक कषायों पर विजय के विना धर्म की बाह्य क्रियाएं दिखावा मात्र हैं। अतः हमारा ध्यान इस ओर जाना चाहिये कि हम किस प्रकार अपने कषायों को कम कर सकते हैं। बाहरी प्रसंग के होते हुए भी क्रोध न आवे तब ही क्रोध का शमन किया जाना कहलावेगा, अन्यथा दमन ही कहलावेगा। दमन किया कषाय अधिक तीव्रता से फूटता है। यदि किसी व्यक्ति की बात पर हमें क्रोध आया और उसको किन्हीं कारणों से प्रकट नहीं करके अन्दर दमन किया तो वह इकट्ठा होता रहता है। इसे घुटन कहते हैं और मौका पाकर या तो वह फूट पड़ता है या अधिक घुटन से अन्य मनोवैज्ञानिक रोग भी हो जाते हैं।

स्वास्थ्य के लिए या सामान्य दैनिक व्यवहार में भी क्रोध के शमन के विना सफलता नहीं मिलती। जो लोग क्रोध के वशीभूत होते हैं उनको रक्तचाप, अपच, हृदय रोग आदि बीमारियां होती हैं। जो क्रोध तो करते हैं पर प्रकट नहीं कर पाते (विशेषकर कमजोर या स्त्री वर्ग में) उनमें मनोवैज्ञानिक रोग जैसे हिस्टीरिया, शिजोफेरेनिया आदि मानसिक रोग हो जाते हैं। सामान्य व्यवहार में भी जो व्यापारी या अफसर क्रोध करते हैं, वे आगे सफल नहीं हो पाते। अतः क्रोध का शमन धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं, व्यावहारिक एवं चिकित्सा के दृष्टिकोण से भी आवश्यक है। क्रोध शमन की जिम्मेदारी हमारे ऊपर है। अन्य को दोष देना कि उसने क्रोध दिलाया, उचित नहीं है।

क्रोध से बचाव :

जिस व्यक्ति या बात पर हमें क्रोध आया, उसका निष्पक्ष विश्लेषण करके क्रोध की जड़ तक पहुँचना चाहिए, तब ही क्रोध के शमन का उपाय किया जा सकता है। कई बार हम पहचानेंगे कि किसी के द्वारा गलत कान भरने से हमारा पूर्वाग्रह बन गया और जैसे ही मौका मिला हम क्रोध से भड़क गये। किन्हीं वस्तुओं के प्रति हम संस्कार या चिड़ बना लेते हैं और जैसे ही वह प्रसंग उपस्थित होता है चिड़ कर क्रोधित हो जाते हैं। बालक अपनी कुछ वस्तुओं के प्रति प्रेम और कुछ के प्रति चिड़ बना लेते हैं। वही बालकभाव या संस्कार जब युवावस्था या वयस्कावस्था तक चला आता है और उसी संस्कार से प्रेरित होते हैं तो बालक की तरह मचल उठते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति भी अपने जीवन के कुछ निश्चित सिद्धान्त बना लेते हैं जिनमें वे किसी के भी हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते। उन बातों के प्रति यदि कोई प्रश्न उठाए तो उसका सही समीक्षण करने की बजाय क्रोधित होकर व्यवहार करते हैं। वयस्क मस्तिष्क से यदि सम्यक् विश्लेषण करने की आदत डालें तो बालक या प्रौढ़ संस्कार से इस प्रकार विचारहीन होकर व्यवहार करने से हम रुकेंगे और क्रोध से बच सकेंगे।

कुछ लोगों की सलाह है कि जब कभी क्रोध का प्रसंग आवे तो मुँह से

बोल निकालने से पहले एक से दस तक गिनती कर लें। इस बीच ही शायद उनको ख्याल आ जावे कि क्रोध उस मौके का सही जवाब नहीं है। इसी प्रकार दूसरों की चुगली या गलतियों के बारे में अधिक दिलचस्पी न लेने से जो कान भरने वाली शिकायत रहती है, वह नहीं रहेगी। किसी भी व्यक्ति को आरोपित करने से पहले उसे बोलने का मौका दिया जावे तो जिस बात पर हम क्रोध करने वाले हैं उसका समाधान शायद उसमें मिल जावे।

क्रोध का शमन कैसे करें, इसके उपाय स्वयं हमें ही निकालने होंगे। परन्तु इतना काफी है कि जिस समय भी क्रोध आवे, उसका हम पूरा विश्लेषण करें और उसके प्रति जागरूक हों, उसके कारणों की जांच करें। इनसे सही उपाय मिल सकेंगे और दोष बाहर डालने की बजाय हमारे आन्तरिक कारणों की जांच कर उनको मिटाने का उपाय कर सकें तो बाहरी प्रसंग व्यर्थ हो जावेंगे और हम अपने जीवन को समतामय एवं मधुर बना सकेंगे। हमारी समता दूसरों को भी समता एवं शान्ति प्रदान करेगी।

२८
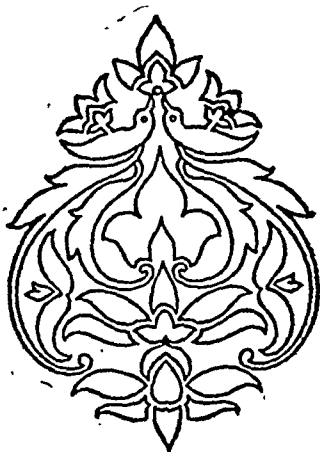
जीवन में समता कैसे आए ?

□ श्री आनन्दमल चोरड़िया

समता-व्यवहार का आधारभूत तत्त्व :

योगी पुरुष किसी तरह अपने मन को आधीन करते भी हैं तो रागद्वेष और मोह आदि विकारों पर आक्रमण करके उसे पराधीन बना देते हैं। यम, नियम आदि के द्वारा मन की रक्षा करने पर भी रागादि पिशाच कोई न कोई प्रमाद रूप बहाना ढूंढ कर बारबार योगियों के मन को छलते रहते हैं।

अंधे का हाथ पकड़ कर चलने वाले अंधे को वह कुए में गिरा देता है, उसी प्रकार राग-द्वेष आदि से जिसका ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसा मन भी अंधा होकर मनुष्य को नरक-कूप में गिरा देता है।

अतः निर्वाण पद प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले साधक को समता भाव के द्वारा सावधान होकर राग-द्वेष रूपी शत्रुओं को जीतना चाहिये। अभि-प्राय यह है कि इन्द्रियों को जीतने के लिए मन को जीतना चाहिये और मन को जीतने के लिये राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

जीवन में समता कैसे आये ?

तीव्र आनन्द को उत्पन्न करने वाले समता भाव रूपी जल में अवगाहन करने वाले पुरुषों का राग-द्वेष रूपी मल सहसा ही नष्ट हो जाता है। समता-भाव का अवलम्बन करने से अन्तर्मुहूर्त में मनुष्य जिन कर्मों का विनाश कर डालता है, वे तीव्र तपश्चर्या से करोड़ों जन्मों में भी नष्ट नहीं हो सकते।

जैसे आपस में चिपकी हुई वस्तुएँ बाँस आदि की सलाई से पृथक् की जाती हैं, उसी प्रकार परस्पर बंधे हुए जीव और कर्म को साधक समताभाव

सामायिक की शलाका से पृथक् कर देता है अर्थात् निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है। समता भाव रूपी सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अंधकार नष्ट कर देने पर साधक अपनी आत्मा में परमात्मा का स्वरूप देखने लगता है।

यद्यपि साधक अपने आनन्द के लिए समता भाव का विकास करता है, फिर भी समता भाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे प्राणी भी परस्पर प्रीतिभाव धारण करते हैं।

समता भाव की प्राप्ति निर्ममत्व भाव से होती है, और निर्ममत्व भाव जागृत करने के लिए इन द्वादश भावनाओं का आश्रय लेना चाहिये—१-अनित्य भावना, २-अशरण भावना, ३-संसार भावना, ४-एकत्व भावना, ५-अन्यत्व भावना, ६-अशुचित्व भावना, ७-आश्रव भावना, ८-संवर भावना, ९-निर्जरा भावना, १०-धर्मस्वाख्यात भावना, ११-लोक भावना, व १२-बोधि दुर्लभ भावना। इन द्वादश भावनाओं से जिसका चित्त निरन्तर भावित रहता है, वह प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक परिस्थिति में अनासक्त रहता हुआ, समता भाव का अवलम्बन करता रहता है।

जो शत्रु-मित्र और मान-अपमान में सम है एवं सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम है, आसक्ति से रहित है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील और जिस किसी प्रकार से शरीर का निर्वाह होने में सदा सन्तुष्ट है और शरीर में तथा रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है, मनोज्ञ-अमनोज्ञ पदार्थों में, समय में अर्थात् किसी भी परिस्थिति में राग-द्वेष के भावों की उत्पत्ति को समता भाव से सहन करता है, विषयों से विरक्त और समता भाव युक्त चित्त वाला है। ऐसे मनुष्य की कषाय रूपी अग्नि शांत हो जाती है और सम्यक्त्व रूपी दीपक प्रदीप्त हो जाता है।

समता और सामायिक :

जिसकी आत्मा संयम में, नियम में एवं तप में सुस्थिर है, उसी को सामायिक होती है। जो त्रस (कीट, पतंगादि) और स्थावर (पृथ्वी, जल आदि) सब जीवों के प्रति सम है, अर्थात् समत्व युक्त है, उसीकी सच्ची सामायिक होती है। समभाव सामायिक है अतः कषाय युक्त व्यक्ति की सामायिक विशुद्ध नहीं होती। आत्मा ही सामायिक (समत्व भाव) है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है। समता भाव पूर्वक सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है। चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे, मुनिवेश धारण कर स्थूल क्रियाकांड रूप चारित्र पाले, परन्तु समताभाव रूप सामायिक के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा। चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बुद्ध या कोई अन्य हो, समता भाव से भावित आत्मा ही मोक्ष प्राप्त करती। है

समता और सेवा :

समता और सेवा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सेवा समता की सहचरी है। निष्काम सम्यक् सेवा समता का ही एक रूप है। समतासाधक इस प्रकार का चिंतन करता है कि माता-पिता ने मेरा पालन किया, बड़ा किया, शिक्षा दिलाई एवं पड़ौसियों ने व मित्रों ने मेरे शारीरिक, मानसिक विकास में सहयोग दिया आदि। अतः ऐसे प्राणियों के लिये मेरा कर्तव्य, उत्तरदायित्व है कि मैं उनके उपकारों का बदला दूं। अपने ऋण को चुकाऊं, भूखों को अन्न दूं, नंगों को वस्त्र दूं, निराश्रितों को आश्रय दूं, रोगी को औषध दूं, अशिक्षित को शिक्षा प्राप्ति में सहयोग दूं और प्राणी-मात्र की कर्तव्य-बुद्धि से आवश्यक व उपयोगी सेवा करके ऋण मुक्त बनूं। यह सेवा और समता का सम्बन्ध है। सत्य भाषण, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, परोपकार, दान, त्याग, क्षमा, विनय, सरलता, तप, पितृ-भक्ति, मातृ-भक्ति, विनोदप्रियता, मिलनसारी, हँसमुखपना, कार्यचातुरी, प्राणीसेवा, जाति-सेवा, समाजसेवा, कवित्व-कला, भाषणकला, लेखन-कला, चिकित्साज्ञान, आदि अनेक गुण हैं। इन गुणों की ओर देखा जाय और उस व्यक्ति की सराहना की जाय तो मानव-मानव में ईर्ष्या-द्वेष घटकर प्रेम और सहयोग की भावना पैदा होगी। यही समता और सेवा का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

समता व्यवहार के बाधक तत्त्व :

रागद्वेष सहित अशांत भावना विषमता है। सुख में फूलना, दुःख में रोना विषमता है। एक प्राणी को अपना दूसरे प्राणियों को पराया समझना विषमता है। वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि अनित्य हैं, उनका आधार लेने वाला, उनको अपना मानने वाला कोई भी साधक विषमता का त्याग और समता की प्राप्ति नहीं कर सकता। आसक्ति, कामना, ममता, तृष्णा, व्याकुलता, अशान्ति, क्षोभ, मान, माया, लोभ, पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत रहना, और अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर तथा मनोज्ञ वस्तु के न मिलने पर जो अनुकूल-प्रतिकूल का दुःख होता है वह विषमता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, कपट, ठगी, अन्याय, अत्याचार आदि पाप को जो ठीक समझे, उनका समर्थन करे और उन्हें ही अपने कार्यों का आधार बनावे, अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का अहित करना, कालाबाजारी, करना, तस्करी व्यापार करना, खाद्यान्न में मिलावट करना, रिश्वत लेना-देना, अपनी सत्ता का दुरुपयोग करने वाला, निरापराधी का संहार करना आदि विषमता अर्थात् समता व्यवहार के बाधक तत्त्व हैं।

प्रतिकूलता की प्रतीति होने पर भय, उद्वेग, वैर, ईर्ष्या, चिन्ता आदि अनेक दोष आते हैं, किन्तु इन सबका मूल द्वेष ही है। इसी प्रकार अनुकूलता की प्रतीति होने पर काम, लोभ, ममता, आदि अनेक दोष हैं, पर इन सब का मूल राग ही है, अतः राग-द्वेष के त्याग से सबका त्याग हो जाता है। ※※

२६

व्यवहार में समता

☐ श्री चंदनमल 'चाँद'

समता शब्द प्रिय लगता है। दूसरों को समता का उपदेश देना भी प्रिय होता है किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में स्वयं को समता की साधना करनी पड़ती है तो कठिन होता है। हमारे दैनिक जीवन एवं व्यवहार में अनेक बार ऐसे प्रसंग घटित होते हैं, जिन प्रसंगों पर यदि थोड़ी समता रखी जाय तो कलह से बचा जा सकता है।

समता किसे कहते हैं? समता का उपदेश सभी धर्म ग्रन्थों एवं महापुरुषों ने दिया है। भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृतांग' में फरमाया है—'समयं समासरे' अर्थात् सदा समता का आचरण करना चाहिए। 'उत्तराध्ययन' सूत्र में आया है 'न यावि पूयं गरहं च संजए' अर्थात् मुनि, पूजा और निन्दा दोनों की चाह न करे, समभाव रखे। आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है—

'सयंबरोवा, आसंबरोवा, बुद्धोवा, तहेव अन्नोवा।
समभाव भाविअप्पा लहइ मोक्खं न संदेहो।।'

चाहे श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बुद्ध हो या अन्य कोई भी हो, समता से भावित आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करती है।

जैन दर्शन में ही नहीं बल्कि 'महाभारत' के शान्तिपर्व में भी आया है कि दो अक्षरों का 'मम' अर्थात् ममत्व मारने वाला है और तीन अक्षरों का 'नमम' यानी निर्ममत्व तारने वाला है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि समभाव ही समस्त कल्याण का मूल है। अरविन्द घोष समता की व्याख्या करते हुए लिखते

हैं—'सम होना माने अनन्त होना, विश्वमय होना। समग्र विश्व-जीवन पर आत्मा का प्रभुत्व-स्थापन करने की पहली सीढ़ी का नाम समता है।'

वस्तुतः समता का सीधा सरल अर्थ है—आसक्ति रहित होना, ममत्व से परे होना। किन्तु दुनिया में सर्व साधारण के लिए यह संभव नहीं कि ममत्व छूट जाए। घर, परिवार, पत्नी, पुत्र, धन आदि का ममत्व उससे छूटता नहीं। सारा संसार ही ममत्व के कारण चल रहा है। संसार छोड़ दिया किन्तु ममत्व नहीं छूटा। पंथ का ममत्व, पुस्तक-पन्नों का ममत्व, गुरु का ममत्व, उपकरणों का ममत्व कम ज्यादा जुड़ा ही रहता है।

हमारे लेख का अभिप्राय समता के उस पहलू से है जो व्यवहार में निभ सकता है। थोड़ा अभ्यास, थोड़ी सहनशीलता और किंचित प्रयत्न समता की साधना में उपयोगी बन सकते हैं। घर में आर्थिक कठिनाई आ गई और दुःखी होकर बैठ गए। बीमारी ने घेर लिया और रोने लगे। हमारी इच्छा के प्रतिकूल किसी ने कुछ कर दिया और हम क्रोध से लाल पीले हो गये। थोड़ी सम्पत्ति मिल गई और घमंड में फूल गये। कहीं पद और प्रतिष्ठा मिल गई तो पैर जमीन पर ही नहीं पड़ रहे हैं। ये सारी स्थितियां समता के अभाव में है। यदि हमने थोड़ी भी समता को अपनाया हो तो अनुकूल परिस्थिति में घमंड नहीं आता एवं प्रतिकूल परिस्थिति में रोना या दीनता नहीं आती। वस्तुतः व्यवहार एवं जीवन में जिसने अनुकूल एवं प्रतिकूल स्थितियों में धैर्य एवं शान्ति से सम-भाव रखना सीखा है, उसने समता का पाठ पढ़ा है।

दिन भर में हम अनेक बार क्रोध, ईर्ष्या एवं द्वेष से उद्वेलित हो उठत हैं। छोटी-छोटी बातों पर संतुलन बिगाड़ कर स्वयं परेशान होते हैं और दूसरों को परेशान कर देते हैं। कभी पत्नी पर बरस पड़ते हैं, कभी बच्चों पर। कभी ग्वाले से उलझ रहे हैं तो कभी पड़ोसियों से तकरार हो रही है। यदि इन दैनिक तकरारों एवं झगड़ों का शांति से विवेचन करें तो हँसी आने लगती है और स्वयं ही मन कहता है कि व्यर्थ ही बात को बतंगड़ बनाया।

समता के अनेक उदाहरण धर्मग्रन्थों, इतिहास एवं महापुरुषों के जीवन-चरित्रों से हमें मिलते हैं। वर्तमान में भी आपके ही आसपास कुछ ऐसे सफल व्यक्ति भी मिलेंगे जिनकी सफलता, सर्वप्रियता का मूल कारण उनकी 'समता' है। वे निन्दा से दुःखी होकर अकर्मण्य नहीं होते और अपनी प्रशंसा से फूलकर भी स्वयं को महान् नहीं मान लेते हैं। निन्दा-स्तुति में भी स्वयं को समतोल बनाए रखते हैं। दूसरों द्वारा खड़ी की गई परिस्थिति अथवा संयोग या भाग्य से प्राप्त सुख-दुःख में वे न तो घबड़ाते हैं, न दीन बनते हैं और न घमंड ही करते हैं।

समता का यही आदर्श हमारे जीवन में उतरे। पूर्ण ममत्व एवं आसक्ति से छूटने का निरन्तर चिंतन तथा प्रयास रहे किन्तु प्रारम्भ तो छोटी-छोटी बातों से ही करके देखें। संकल्प करें कि हम आज दिन भर समता रखने का प्रयास करेंगे और रात्रि सोते समय लेखा-जोखा करें कि कितनी समता रही, क्या लाभ हुआ? आप देखेंगे कि समता से न केवल आपको आत्मिक शान्ति मिलेगी वरन् आपके घर, परिवार एवं परिपार्श्व के लोगों को भी लाभ होगा।

३०
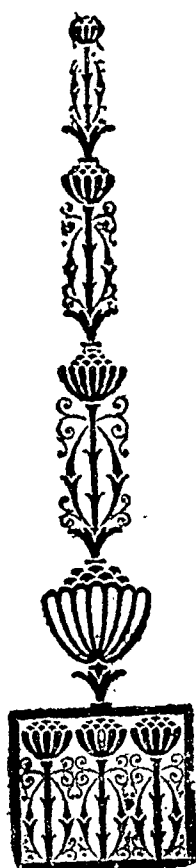
दैनिक जीवन में समता का स्थान

□ श्री केशरीचन्द सेठिया

गागर में सागर :

'समता' का सीधा-साधा शब्द-कोशीय अर्थ देखें तो अर्थ है समानता, बराबरी आदि । इन तीन अक्षरों के शब्द में न जाने जीवन के कितने गूढ़ रहस्य छिपे हुए हैं । 'गागर में सागर' की तरह इसमें विशालता और गहनता है । मनुष्य यदि अपने जीवन में 'समता' का मार्मिक अर्थ समझले, इसे अपने जीवन में ढालले तो मृदुता, सहिष्णुता, विनम्रता, निस्वार्थता, सुख-शांति, संतोष, आत्म-तृप्ति आदि अनेक गुण उसमें आ जाएँ ।

इतिहास-बोध :

इतिहास साक्षी है कि धर्म जैसे पवित्र नाम पर हजारों, लाखों मनुष्यों की निर्मम हत्याएँ हुईं । महाभारत जैसे अनेक भयंकर युद्ध हुए । सम्राट् अशोक जैसे अनेकों सम्राटों ने साम्राज्य के विस्तार के लिए, उस अहम् को सार्थक करने के लिए कि मैं विश्वविजेता बनूं, छह खंड का चक्रवर्ती बनूं, मेरे अधीनस्थ सारी पृथ्वी हो जाय, बड़े-बड़े राजा-महाराजा मेरी दुहाई मानें, संसार का सारा धन-वैभव मेरी मुट्ठी में एकत्रित हो जाय, अनेक युद्ध लड़े । पर रणभूमि के हृदय विदारक दृश्य ने अशोक के जीवन में एक नया परिवर्तन ला दिया । उसने देखा—बड़े-बड़े योद्धा सूरमां जिनकी एक हुँकार से पृथ्वी दहलती थी, निर्जीव भूमि पर अस्त-व्यस्त लुढ़के पड़े थे । उसकी भी यही गति एक दिन होने वाली है । यह सारा वैभव, यहीं रह जाने वाला है । कुछ समय के लिए भले ही वह वैभव की इस चमक-दमक में खो जाय, लेकिन अंत उनका भी यही होने वाला है । छोटा-बड़ा, राजा-रंक कोई भी हो, आत्मा सबकी समान है । एक दिन

सबको इसी तरह लुढ़कना है। अगर जीवन के अंत में समानता है तो फिर जीवन के प्रथम चरण में यदि समता आ जाय तो जीवन सुखी बन जाय, मधुर बन जाय, स्वर्गमय बन जाय।

निजी स्वार्थ और विषमता :

मनुष्य में जब-जब निजी स्वार्थ उभर आता है तो वह अपने को दूसरों से भिन्न और विशिष्ट देखना चाहता है धन से, वैभव से, गरिमा से, पद से। चाहे वह राजा हो, नेता हो, धर्मगुरु हो, उसकी आत्मा में विषमता घर कर लेती है। उसका जीवन कष्टदायक बन जाता है। मृगतृष्णा की तरह वह उसकी ओर भटकता रहता है। नेता चाहता है, वह सबसे निराला बन जाय। उसकी कीर्ति देश-विदेश में फैले। वह हमेशा फूलों के हारों से लदा रहे। वह मंत्री बने, मुख्यमंत्री बने, प्रधानमंत्री बने और न जाने क्या-क्या ?

धर्मगुरु भी इच्छा रखता है—वह उपाध्याय बने, गणी बने, आचार्य बने, बड़े-से-बड़े संघ का नायक बने, अपनी शिष्य मंडली का भगवान् कहलाए, विपक्षियों को तर्क से, कुतर्क से परास्त करके धर्म-विजेता बने। सिद्धि प्राप्त करे, जन्त्र-मन्त्र से योगीराज बन जाय। बड़ी-बड़ी पदवियों से अलंकृत हो, विश्व-कोश का एक भी शब्द न बचे जो उसके नाम के आगे सम्बोधित न हो। लक्ष से भ्रष्ट होकर, समता को तिलांजली देकर वह केवल अपनी आत्मा को ही धोखा देता है। रुग्ण उपायों को वह केवल स्वस्थता की संज्ञा देना चाहता है।

समदृष्टि का विकास आवश्यक :

गृहस्थ जीवन में घर के मुखिया के प्रति, परिवार के सदस्यों का इसलिए रोष, झगड़ा पैदा हो जाता है कि वह सबको समदृष्टि से नहीं देखता। एक के प्रति विशेष प्रेम, अधिक स्नेह दिखाता है, एकांगी पक्ष लेता है। मनुष्य का मन बड़ा भावुक और कच्चे धागे की तरह नाजुक होता है। जहाँ भी जरासी असमानता देखता है, उसका मन दुःखी हो जाता है, टूट जाता है, विद्रोही हो जाता है। सास-बहू के झगड़े जगत् प्रसिद्ध हैं। अगर बारीकी से देखें, परखें तो अक्सर छोटी-छोटी बातें, जिसमें असमानता का पुट होता है, भयंकर विषमता ला देती हैं। सास अपनी पुत्री और बहू को कभी समान दृष्टि से नहीं देखती। यह समझते हुए भी कि जिसे वह अपनी समझ रही है, वह पराया धन है, जिसे वह पराये घर से आई हुई मानती है, वह उसकी अपनी है, सुख में दुःख में वही साथ देने वाली है।

सबकी आत्मा समान :

सब धर्मों में समता को सर्वोपरी एवं विशिष्ट स्थान दिया गया है। क्रांतिकारी महावीर ने समता का एक नूतन संदेश दिया था। नर और नारी

के प्रति असमानता को मिटाने हेतु भरसक प्रयत्न किया। अपने चतुर्विध संघ में नारी को बराबरी का स्थान दिया। उसे संघ का एक सदस्य अंग माना। उसे दीक्षित होने का, शास्त्र-पठन-पाठन का समुचित अधिकार दिया। उनके समवसरण में सबका प्रवेश था। उन्होंने अस्पृश्यता जैसे दुर्गुण को समाज के लिए अनुचित बताया, कलंक बताया। उन्होंने कहा—और की तो बात ही क्या, भगवान् भी जन्मजात नहीं होते। उन्हें भी अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है। सबकी आत्मा समान है। अतः कौन छोटा, कौन बड़ा? छोटा-बड़ा कुल से नहीं, परम्परा से नहीं, धन वैभव से नहीं, समदृष्टि बनने से होता है। इस छूआ-छूत की बीमारी को एक समदृष्टि अपने में कैसे पनपा सकता है? लेकिन यह बीमारी उनके अनुयायी लोगों में ही अधिक है।

मनुष्य के जीवन में समता का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिसने इसके मर्म को समझ लिया, उसने सही अर्थों में जीने की कला सीखली।

समता-व्यवहार के सूत्र :

(१) समता विवेचन की नहीं, आचरण की चीज है।

(२) जिसके जीवन में समता आ गई, उसने जीने का गुर जान लिया।

(३) 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तब ही चरितार्थ हो सकता है, जब जीवन में समता आ जाय।

(४) समता अगर आचरण में नहीं आई तो विचारों में आने से क्या लाभ?

३१
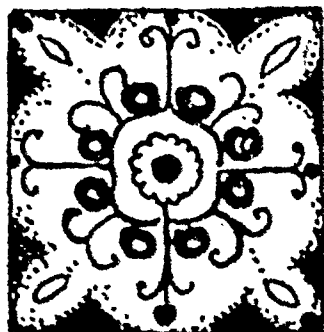
श्रावकाचार और समता

□ श्री प्रतापचन्द भूरा

बाह्य जगत् से प्रभावित नहीं होना और अन्तर्जगत् में शांति और दया के सागर का लहराना समता है। मुनि गजसुकुमार की भांति जहां किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं हो, वह श्रमण का आचार है, साधु की समता है; किन्तु शुद्ध लोक-कल्याण भाव से जहाँ आवश्यक हो वहाँ समताभाव से प्रतिकार करना, यथायोग्य व्यवहार करना, श्रावकाचार है। शुद्ध श्रावकाचार को समझने के लिये धर्म के मर्म को समझना जरूरी है।

यदि एक दुष्ट व्यक्ति आपके घर आकर बलात्कार करना चाहे तो आप क्या करेंगे ? ऐसे अवसर पर धर्म क्या काम करने का आदेश देता है ? नीति क्या कहती है ? क्या आप धर्म का नाम लेकर निष्क्रिय बैठे रहेंगे और इस अत्याचार को चुपचाप देखते रहेंगे ? क्या धर्म के नाम पर निष्क्रिय रहने से धर्म की आराधना हो सकेगी ? क्या श्रावक के लिये ऐसे आचार का और ऐसी समता का किसी धर्म शास्त्र में विधान है ? इन्हीं प्रश्नों के सही समाधान से श्रावकाचार और समता के सिद्धान्त का मर्म समझा जा सकता है।

श्रावक का प्रथम आचार है नीति का पालन। स्वर्गीय श्री जवाहराचार्य कहते हैं—"लोग नीति की नहीं, धर्म की ही बात सुनना चाहते हैं। लाचारी है मित्रो ! नीति की बात तुम्हें सुननी होगी। इसके बिना धर्म की साधना नहीं हो सकती[1]। नीति ही धर्म और समता का प्रथम सोपान है। ऐसे अवसर पर जबकि अधर्म का ताण्डव नृत्य हो रहा हो, श्रावक का चुपचाप निष्क्रिय बैठना

१—जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी की जीवनी, पृष्ठ ३९२

की पुष्टि"[1] कर रहा है। श्रावक के अनेक कार्यों में हिंसक भावना से हिंसा की और अहिंसक भावना से अहिंसा की पुष्टि होती है। प्रमुखता क्रिया की नहीं, किन्तु उसके साथ जुड़ी हुई भावना की है। प्रत्येक नैतिक क्रिया के साथ अहिंसक भावना को जोड़ना श्रावकाचार और समता है।

नीति और अहिंसक भावना के साथ यदि स्वावलंवन और सेवा को नहीं अपनाया जाय तो श्रावक अपने आदर्श से गिर जाता है। महासती चन्दन वाला का जीवन स्वावलंवन और सेवा का जीवन था। वह जहाँ भी रही, वहाँ प्रत्येक छोटा और वड़ा कार्य अपने हाथ से करती थी। वह कभी किसी सेवक को भी किसी कार्य को करने के लिये आदेश नहीं देती थी। उसने अपनी माता से यही शिक्षा पायी थी कि सच्चा श्रावक प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक अपने हाथ से ही किया करता है। अपने ही शुभ पुरुषार्थ से, सम्यक् स्वावलंवन से गुणस्थानों की ऊँची श्रेणियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, आलस्य से नहीं। स्वावलंवन जीवन है, परावलंवन मृत्यु। मानव स्वकृत शुभ व शुद्ध कर्मों से मोक्ष पाता है, दूसरों द्वारा किये गये कर्मों से नहीं। यदि ऐसा होता तो कोई भी राजा-महाराजा या धनाढ्य व्यक्ति नरक नहीं जाता। वह अपना धन दूसरों को देकर उनसे धर्म खरीद कर मोक्ष पहुँच जाता; किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। स्वावलंवी ही सेवा और धर्म का पालन कर सकता है। सेवा स्वयं एक वड़ा भारी आभ्यन्तर तप है। वैयावृत्य करने से, सेवा करने से, तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। "सच्चा जैन वह है जो सेवा करने के लिये आर्त्तों की, दीनदुखियों की, पतितों एवं दलितों की खोज में रहता है,[2] किन्तु आज परिवार में, घर में, कार्यालय में, स्वयं कार्य न करके छोटों से या सेवकों से उनकी शक्ति से अधिक कार्य कराने में ही वड़प्पन या स्वामित्व माना जाने लगा है। जैन सिद्धान्तानुसार अपनी शक्ति रहते दूसरों से अपनी अनावश्यक सेवा कराना हिंसा और पाप माना गया है। "शास्त्र का आदेश है कि मासखमण का पारणा होने पर भी अपने आप गोचरी लानी चाहिये।"[3] स्वावलंवन और सेवा श्रावकाचार और समता है।

वर्तमान काल में कुछ श्रावकों ने धर्म को धर्म स्थानक तक ही सीमित कर दिया है। धर्म स्थानक में जाकर संतदर्शन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि करना तो धर्म है ही, किन्तु धर्म स्थानक के वाहर भी, घर और दूकान में, राजनीति और व्यापार में, जीवन के प्रत्येक व्यवहार में नैतिक धर्म का पालन करना मानव का धर्म है। नीति, धर्म, स्वावलंवन और सेवा जीवनव्यापी तत्त्व हैं। वे सदा सर्वदा आत्मा के साथ रहें, यह श्रावकाचार और समता का पालन है।

१—सम्यक्त्व पराक्रम, भाग तीन, पृष्ठ २०५

२—औपपातिक

३—सुबाहु कुमार, पृष्ठ १६३

में "नीति धर्म की नींव है। नीति विरुद्ध काम करने वाला धर्माचरण नहीं कर सकता।"[१]

श्रावकाचार के समझने में भूल होने का एक कारण यह है कि लोगों ने श्रमणाचार और श्रावकाचार के भेद को भुला दिया है। श्रावक समझ रहा है कि उसके लिये भी श्रमण की सभी क्रियाएँ ठीक हैं। वह प्रत्येक बुद्ध और जिनकल्पी की क्रिया अपनाने में अपना धर्म समझ रहा है। यह एक भयंकर भूल है। जिनकल्पी तो स्वयं की भी रक्षा नहीं करते, किन्तु हम तो एक छोटासा कांटा चुभने पर विचलित हो जाते हैं। साधु के नियम, व्रत, मर्यादाएँ श्रावक की मर्यादाओं से भिन्न हैं। दोनों की नीति और क्रियाएं भी भिन्न-भिन्न हैं।

गृहस्थ को द्रव्य उपार्जन करना पड़ता है। उसे अपने आश्रितों का भरण-पोषण करना पड़ता है, भोजन बनाने का आरंभ-समारंभ भी करना पड़ता है, परिवार की रक्षा और आवश्यकता पड़ने पर शील रक्षणार्थ दुष्टों का सामना भी करना पड़ता है। राजा गर्दभिल्ल द्वारा बलात्कार हेतु साध्वी सरस्वती के अपहरण पर, उस साध्वी के शील की रक्षा हेतु तत्कालीन जैन कालकाचार्य ने संयम छोड़कर उस राजा से लोहा लिया था और शील की रक्षा की थी। नीति और धर्म की रक्षा के लिये श्रावकों द्वारा शस्त्र भी उठाये जाते हैं। जो श्रावक इन बातों में आरंभ-समारंभ समझ कर अपना दायित्व नहीं निभाता, वह धर्म का पालन नहीं कर सकता। सच्चा श्रावक लोक-कल्याण की दृष्टि से निःस्वार्थ और समता भाव से यतनापूर्वक अपने नैतिक धर्म का पालन करता है।

श्रावकाचार के विषय में एक भूल और भी होती है। कुछ व्यक्ति प्रत्येक कार्य में हिंसा ही हिंसा देखते हैं। उन्हें भोजन बनाने में, गो-पालन में, कृषि कार्य में पाप ही पाप दीखता है। यदि भोजन बनाने में, लोगों को सुख-साता पहुँचाने की प्रशस्त भावना हो, गो-पालन में गायों पर अनुकम्पा भाव हो, कृषि कार्य में धन कमाने के स्थान पर जनता के प्राणों की रक्षा की भावना हो तो "प्रशस्त भावना और यतना से पाप प्रकृति में भी पुण्य प्रकृति बंध जाती है।"[२]

एक डॉक्टर बीमारी के कीटाणुओं को मारने की हिंसक भावना से किसी बीमार व्यक्ति के इंजक्शन लगाता है तो वह हिंसा की पुष्टि कर रहा है। किन्तु वही डाक्टर यदि यह कहता है और अपने मन में यही मानता है कि मैं स्वस्थ कीटाणुओं की रक्षा कर रहा हूँ, उन्हें सशक्त बना रहा हूँ, इस बीमार व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ करा रहा हूँ तो वह डॉक्टर श्री जवाहराचार्य के शब्दों में "अहिंसा

१—जवाहर किरणावली ७, पृष्ठ २४६

२—जवाहर किरणावली ५, सुबाहुकुमार, पृष्ठ ६०

की पुष्टि"[1] कर रहा है। श्रावक के अनेक कार्यों में हिंसक भावना से हिंसा की और अहिंसक भावना से अहिंसा की पुष्टि होती है। प्रमुखता क्रिया की नहीं, किन्तु उसके साथ जुड़ी हुई भावना की है। प्रत्येक नैतिक क्रिया के साथ अहिंसक भावना को जोड़ना श्रावकाचार और समता है।

नीति और अहिंसक भावना के साथ यदि स्वावलंबन और सेवा को नहीं अपनाया जाय तो श्रावक अपने आदर्श से गिर जाता है। महासती चन्दन बाला का जीवन स्वावलंबन और सेवा का जीवन था। वह जहाँ भी रही, वहाँ प्रत्येक छोटा और बड़ा कार्य अपने हाथ से करती थी। वह कभी किसी सेवक को भी किसी कार्य को करने के लिये आदेश नहीं देती थी। उसने अपनी माता से यही शिक्षा पायी थी कि सच्चा श्रावक प्रत्येक कार्य यतनापूर्वक अपने हाथ से ही किया करता है। अपने ही शुभ पुरुषार्थ से, सम्यक् स्वावलंबन से गुणस्थानों की ऊँची श्रेणियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, आलस्य से नहीं। स्वावलंबन जीवन है, परावलंबन मृत्यु। मानव स्वकृत शुभ व शुद्ध कर्मों से मोक्ष पाता है, दूसरों द्वारा किये गये कर्मों से नहीं। यदि ऐसा होता तो कोई भी राजा-महाराजा या धनाढ्य व्यक्ति नरक नहीं जाता। वह अपना धन दूसरों को देकर उनसे धर्म खरीद कर मोक्ष पहुँच जाता; किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। स्वावलंबी ही सेवा और धर्म का पालन कर सकता है। सेवा स्वयं एक बड़ा भारी आभ्यन्तर तप है। वैयावृत्य करने से, सेवा करने से, तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। "सच्चा जैन वह है जो सेवा करने के लिये आर्त्तों की, दीनदुखियों की, पतितों एवं दलितों की खोज में रहता है,[2] किन्तु आज परिवार में, घर में, कार्यालय में, स्वयं कार्य न करके छोटों से या सेवकों से उनकी शक्ति से अधिक कार्य कराने में ही बड़प्पन या स्वामित्व माना जाने लगा है। जैन सिद्धान्तानुसार अपनी शक्ति रहते दूसरों से अपनी अनावश्यक सेवा कराना हिंसा और पाप माना गया है। "शास्त्र का आदेश है कि मासखमण का पारणा होने पर भी अपने आप गोचरी लानी चाहिये।"[3] स्वावलंबन और सेवा श्रावकाचार और समता है।

वर्तमान काल में कुछ श्रावकों ने धर्म को धर्म स्थानक तक ही सीमित कर दिया है। धर्म स्थानक में जाकर संतदर्शन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि करना तो धर्म है ही, किन्तु धर्म स्थानक के बाहर भी, घर और दूकान में, राजनीति और व्यापार में, जीवन के प्रत्येक व्यवहार में नैतिक धर्म का पालन करना मानव का धर्म है। नीति, धर्म, स्वावलंबन और सेवा जीवनव्यापी तत्त्व हैं। वे सदा सर्वदा आत्मा के साथ रहें, यह श्रावकाचार और समता का पालन है।

१—सम्यक्त्व पराक्रम, भाग तीन, पृष्ठ २०५

२—औपपातिक

३—सुबाहु कुमार, पृष्ठ १६३

कभी-कभी प्रत्यक्ष में अहिंसक दीखने वाली वस्तुओं और कार्यों में अप्रत्यक्ष रूप में महान् आरंभ और हिंसा छिपी रहती है। सच्चा श्रावक ऐसी वस्तुओं और कार्यों से हमेशा वचता है। हिंसा को प्रेरणा देने वाले वढ़िया सूती व रेशमी वस्त्र, वढ़िया चमड़े के सूटकेस व नरम-नरम वढ़िया चमड़े के जूते जिनके लिये जीवित पशुओं की हत्या की जाती है, मछली आदि के तेल से वनी औषधियाँ और इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ श्रावक के लिये त्याज्य हैं।

सच्चा श्रावक सादे वस्त्र, सादा भोजन, सादा जीवन व उच्च विचारों को अपनाता है। वह आडंवर, दिखावा, हिंसा आदि से वचता है, वह ऐसी वातों के अनुमोदन करने के पाप से भी वचता है। दूसरों के लिये स्वास्थ्य और सुख की कामना करना, उन्हें सुखकारी व हितकारी वचन कहना, उनके हित में सहयोग देना, उनकी सेवा करना, दूसरों के शुभ कार्यों का अनुमोदन करना, अपने मन को शुभ व शुद्ध विचारों से पवित्र वनाना और संसार-सागर को पार करने में नाव की भांति सहायक पुण्य का, दान, शील, तप, भावना द्वारा उपार्जन करके, जीवन-लक्ष्य की ओर अग्रसर होना, शुद्ध श्रावकाचार और समता है।

३२

समत्वयोग बनाम सामायिक

☐ महासती श्री उज्ज्वलकुमारी जी

आत्मा की खुराक :

शरीर के पोषण के लिये जैसे भोजन की आवश्यकता होती है, वैसे ही आत्म-पोषण के लिये भी भाव-भोजन, आध्यात्मिक-साधना की आवश्यकता रहती है। शरीर-रक्षण के लिये योग्य खुराक न मिले तो शरीर दुर्बल और तेजोहीन हो जाता है। ऐसे ही आत्मा भी भाव खुराक के अभाव में तेजोहीन और निर्बल हो जाती है। आज मनुष्यों में जो आत्म-बल का अभाव प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि उसे भाव-पोषण नहीं मिलता है। शरीर की खुराक अन्न है और आत्मा की खुराक आध्यात्मिक-साधना, समत्व योग अथवा समभाव की साधना 'सामायिक' है। इसे ही हम भाव खुराक के नाम से भी कहते हैं। श्रमण भगवान् महावीर ने सामायिक को गृहस्थ-धर्म में नवां स्थान प्रदान किया है।

चित्त की स्थिरता और सामायिक :

सामायिक करो या आत्म-स्वरूप की प्रार्थना, दोनों ही समभाव और सत्य की उपासना हैं। आत्मा को बलवान बनाने के लिये सामायिक की उपासना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे अन्धकारमय जीवन को प्रकाशित करने के लिए और पौद्गलिक पदार्थों के प्रति रहा हुआ ममत्व दूर कर आत्म गुणों में रमण करने के लिये सामायिक की आवश्यकता है।

सामायिक चित्त को स्थिर बनाने के लिए एक विशेष तालीम है। कुछ लोग यह कहते हैं कि हमारा चित्त ही स्थिर नहीं रहता है, तब फिर सामायिक

करके क्या करेंगे ? यह बात सच है कि मनुष्य का चित्त स्थिर नहीं रहता है, परन्तु यह याद रखना चाहिए कि चित्त को स्थिर बनाने के लिए ही सामायिक व्रत का आयोजन किया गया है। प्रतिदिन सामायिक द्वारा चित्त स्थिर करने का अभ्यास किया जाय तो धीरे-धीरे स्थिरता आ जायेगी। चित्त को स्थिर करने की दुनिया में अगर कोई मशीन है, कोई साधन है अथवा कोई उपाय है, तो वह सामायिक ही है।

सामायिक : समता की आय :

सामायिक का अर्थ समभाव होता है। सम अर्थात् समता और आय अर्थात् लाभ, जिससे समता की या समभाव की प्राप्ति हो, समभाव का लाभ मिले, उसे सामायिक कहते हैं। शास्त्रकारों ने कहा है—

लाभालाभे-सुहे दुक्खे, जीविए-मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु, तहा माणावमाणओ।।

अर्थात् लाभ में या हानि में, सुख में, या दुःख में, जीवन में या मरण में, निन्दा में या प्रशंसा में, मानापमान में समभाव रखना ही सामायिक की साधना है। शत्रु और मित्र, सम्पत्ति और विपत्ति, सबको एक ही तरह से देखना सम-भाव है। जब ऐसी दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तब सामायिक की साधना सिद्ध हुई कही जा सकती है।

समभाव का अर्थ सामायिक की क्रिया तक ही सीमित नहीं होना चाहिये बल्कि उसे सभी प्रवृत्तियों में घुलमिल जाना चाहिये। सूर्य में रहा हुआ प्रकाश किसी से छिपा नहीं रह सकता है। फूल में रही हुई सुवास भी तुरन्त प्रकट हो जाती है। चन्द्रमा की शीतलता और अग्नि की उष्णता प्रकट हुए बिना रहती नहीं है, और जैसे हीरे की चमक शीघ्र प्रतीत हो जाती है, वैसे ही सामायिक से साधकों का समभाव उनकी प्रत्येक क्रियाओं में प्रकट हुए बिना रहता नहीं है। सामायिक का साधक घर में हो या दुकान में, जेल में हो या कचेहरी में, श्मशान में हो या आलीशान बंगले में, सब जगह वह समभावमय ही रहता है। समभाव की साधना को जीवन-व्यापी बनाना ही सामायिक का ध्येय है।

व्रतों का आधारभूत व्रत : सामायिक :

सामायिक व्रत अन्य सभी व्रतों का आधारभूत व्रत है। आपने मधु-मक्खियों के छत्ते को देखा होगा। उसमें अनेक मक्खियां काम करती हैं, उन मक्खियों में एक रानी मक्खी होती है, जिसके आश्रित ही अन्य सभी मक्खियां रहती हैं। वह रानी मक्खी जब तक छत्ते में रहती है, तब तक अन्य सभी मक्खियां भी इसमें रहती हैं परन्तु जब वह उड़ जाती है तो अन्य सभी मक्खियां

भी उसके साथ उड़ जाती हैं। यही हाल सामायिक व्रत का है। जहां तक सम-भाव रूप सामायिक का अस्तित्व होता है, वहां तक ही अन्य सभी व्रत वने रहते हैं। इसके अभाव में वे कायम नहीं रह सकते हैं।

सामायिक की साधना में जैन-धर्म का सार आ जाता है। सामायिक यानी समभाव को प्राप्त करने की एक विशिष्ट तालीम। सामायिक यानी समता के सागर में डुबकी लगाने की एक आध्यात्मिक कला। आप सब वम्बई में रहते हैं। अतः यहां के 'स्वीमिंग वाथ' से आप अपरिचित न होंगे। वह समुद्र में लाखों रुपयों के खर्च से वनाया गया है। इसमें किसी को तैरने जाना हो तो १०) रु० प्रवेश फी देनी पड़ती है। प्रविष्ट होने से पहले शरीर की जांच भी की जाती है। प्रविष्ट होने वाले को डॉक्टर का सर्टिफिकेट भी पेश करना पड़ता है कि उसके शरीर में कोई छूत की वीमारी तो नहीं है। इन्सपेक्टर इसकी जांच करता है और फिर उसे प्रवेश मिलता है।

'स्वीमिंग वाथ' में तैरने आने वाला सीधा वहां नहीं जा सकता। पहले उसे शरीर के मैल को दूर करने के लिये दूसरे स्थान पर नहाना पड़ता है। इसके वाद वह स्वीमिंग वाथ में तैरने का अधिकारी वनता है। समुद्र के खारे पानी में नहाने के लिये भी जव इतनी विधि करनी पड़ती है, तव सामायिक रूप समता के शान्त समुद्र में स्नान के लिए इससे भी अधिक विधि करनी पड़े, यह स्वाभाविक ही है। अनर्थ दण्ड के छूत की वीमारी से जो मुक्त होता है, उसे ही समता रस के समुद्र में स्नान करने का शास्त्रकारों ने अधिकार दिया है।

सामायिक की साधना :

कुछ लोग सामायिक का अर्थ निवृत्ति लेना ही करते हैं, जो सामायिक का अधूरा अर्थ है। क्योंकि निवृत्ति भी विना प्रवृत्ति के टिक नहीं सकती है। अतः सामायिक में सावद्य योग का त्याग तो करना पड़ता है परन्तु साथ ही साथ निरवद्य योग में प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। विना शुभ प्रवृत्ति किए अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये सामायिक की व्याख्या करते हुए एक जगह कहा गया है—

"सामाइयं नाम सावज्ज-जोग परिवज्जणं, निरवज्ज-जोग पडिसेवणं च"।

सावद्ययोग का त्याग कर निरवद्ययोग में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। मन, वचन और कर्म में सवद्यता न रहे, यही सामायिक का उद्देश्य है। सामायिक करने वाले मन, वचन और कर्म से क्रमशः निर्विकार और पवित्र होते जाते हैं। 'अनुयोग द्वार' सूत्र में सामायिक की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

जो समो सव्व भूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइकेवलिभासियं॥

जिससे त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभाव रहे उसे सामायिक व्रत कहते हैं। यों तो सामायिक शारीरिक क्रिया है, पर मन पर उसका मुख्य आधार है। क्योंकि शरीर स्थिर हो पर मन अस्थिर हो तो सामायिक की साधना नहीं की जा सकती है। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का शरीर ध्यानस्थ था, पर मन उसका अस्थिर था, शुभ ध्यान से रहित था, तब वे सातवीं नरक का आयुष्य बांध रहे थे। परन्तु दूसरे ही क्षण उन्होंने अपने मन को नियंत्रित कर आत्म भाव में लीन हुए तो कैवल्य की प्राप्ति हो गयी थी। इस प्रकार सामायिक का मुख्य आधार मन की स्थिरता पर रहा हुआ है। यह स्थिरता केवल एक मुहूर्त्त की ही नहीं, पर जीवन-व्यापी बनाने का प्रयत्न होना चाहिये। अपनी दिनचर्या में विषमभाव के बदले समभाव को स्थायी बनाने का प्रयास करना चाहिये।

स्वरक्षण की वृत्ति सर्वरक्षण में बदले :

प्राणी मात्र में स्वसुख और स्व-रक्षण की भावना रही हुई है। लट को अंगुली का स्पर्श होते ही वह सिकुड़ जाती है। स्वरक्षण की वृत्ति से वह अपना शरीर संकुचित कर लेती है, ताकि उसे कोई मारे नहीं। मनुष्य पशु के सामने लकड़ी लेकर खड़ा हो जाय, तो वह इधर-उधर दौड़ने लग जाता है, और मनुष्य भी जब कभी अपने सामने पशुओं को लड़ते देखता है, तो उनसे बचने के लिए वह एक ओर खिसक जाता है। इस प्रकार चींटी से लेकर मनुष्य तक सबमें स्वरक्षण की वृत्ति रही हुई है। इस स्वरक्षण की वृत्ति को सर्वरक्षण की वृत्ति में बदल देना ही सामायिक का ध्येय है। सामान्यतः मानव की दृष्टि अपनी देह, इन्द्रिय और भोगों तक सीमित रहती है। कुछ आगे बढ़ती है तो परिवार तक पहुँच कर स्थिर हो जाती है। इस सीमित दृष्टि को समभावी बनाकर विश्व-व्यापक बनाना ही सामायिक का ध्येय है। जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे दूसरों को भी वह प्रिय है। ऐसा समझकर दूसरों को कष्ट न देना और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना प्रशस्त करना ही सामायिक का ध्येय होना चाहिये। समभाव की प्राप्ति के लिये, राग-द्वेष को जीतने में ही सामायिक की सिद्धि रही हुई है।

जहां सामायिक होती हो, वहां द्वेष, क्लेश, लड़ाई-झगड़े या युद्ध कभी नहीं हो सकते हैं। न ऊंच-नीच के भेद-भाव ही कायम रह सकते हैं। स्पर्शास्पर्श की कृत्रिम दीवालें भी नहीं होती हैं, परन्तु आज तो ऊंच-नीच के भेदभाव बढ़ते जा रहे हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में और कुटुम्ब-कुटुम्ब के बीच में झगड़े चल रहे हैं। एक समाज का दूसरे समाज से विरोध चल रहा है। एक राष्ट्र से दूसरा राष्ट्र युद्ध की बातें कर रहा है। तब इन संघर्षणों को दूर करने की एक मात्र औषधि 'समता भाव' ही है, जो कि सामायिक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक :

सामायिक के दो प्रकार हैं—द्रव्य-सामायिक और भाव-सामायिक। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में समता रखना भाव-सामायिक है। भाव-सामायिक की सिद्धि के लिये साधन रूप जो क्रिया की जाती है, उसे 'द्रव्य-सामायिक' कहते हैं। साधक का ध्येय द्रव्य-सामायिक को भाव-सामायिक बनाने का होना चाहिये और इसके लिए उसे प्रयत्नशील भी रहना चाहिये।

साधारणतया रिस्टवाच (हाथ-घड़ी) में एक बार चावी भर दी जाती है, तो वह चौवीस घण्टे तक बराबर चलती रहती है। दीवाल घड़ी में एक बार चावी दे देने पर आठ रोज तक बराबर चलती रहती है, परन्तु कोई घड़ी ऐसी हो कि जब तक आप उसमें चावी भरते रहें तब ही चलती रहे और चावी भरना बन्द किया कि वह बन्द हो जाय, तो क्या उसे आप घड़ी कहेंगे या खिलौना? वह समय बताने वाली घड़ी नहीं कही जा सकेगी, परन्तु उसकी गणना खिलौने में ही होगी। इसी प्रकार जो मनुष्य सामायिक करे, वहां तक ही उसका समभाव कायम रहे और फिर उसके आचरण में विषमता आ जाए, उसकी प्रवृत्तियों में समता का अंश भी न रहे, समझ लेना चाहिये कि उसकी सामायिक सच्ची सामायिक नहीं है। वह द्रव्य-सामायिक भी आभास मात्र ही है। ऐसी स्थिति में भाव-सामायिक की कल्पना करना, तो आकाश से फूल चुनने जैसा है।

वर्षों तक सामायिक करने पर भी समभाव की सिद्धि न हुई हो, तो शान्त चित्त से आत्म-निरीक्षण करना चाहिये और समभाव के मार्ग में जो-जो बाधक तत्त्व अन्तराय रूप होते हों, उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। बाल-पोथी पढ़ने वाला छोटा बालक एक वर्ष में जिस किताब को पूरी करता है, उसे ही आठवीं कक्षा का विद्यार्थी एक घण्टे में पढ़ डालता है। बालपोथी पढ़ने वाले में और आठवीं कक्षा के लड़के में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर, पवित्रता और समतारस को लेकर सामायिक शुरू करने वाले में और वर्षों से सामायिक करने वाले में होना चाहिये। वर्षों तक अभ्यास करते रहने पर भी जो विद्यार्थी बालपोथी में ही रहे, आगे नहीं बढ़े तो उसके लिए आप क्या विचार करेंगे? इसी तरह वर्षों से सामायिक करने वाले में भी समभाव वृत्ति प्रकट न हुई हो, तो उसके लिए आप किस को निमित्तभूत मानेंगे?

विवेक : सामायिक का पाया :

एक बार हमारे पूज्य गुरुदेव ने फरमाया था कि 'कोई मनुष्य मकान बनाने का विचार कर चुनाई शुरू करा दे, परन्तु दिन में बनी हुई भींत रात में गिर जाती हो तो कहिये उसका मकान कभी पूरा हो सकेगा? वर्षों तक उसका बांध काम क्यों न चलता रहे, पर इस तरह वह कभी पूरा नहीं हो सकेगा।

यही हाल सामायिक का भी है। सामायिक में समभाव की दीवाल खड़ी की जाती है, परन्तु सामायिक पूरी हो, न हो, तब यदि समभाव की दीवाल गिर जाती है तब ऐसी स्थिति में समभाव में कैसे वृद्धि हो सकेगी ? पाया मजबूत न हो तो दीवाल गिर जाती है। इसी तरह सामायिक का पाया भी मजबूत न हो तो समता रूपी मकान ढह जाता है। सामायिक का पाया विवेक है। अतः समभाव रूपी मकान को दृढ़ रखने के लिए विवेक का पाया भी दृढ़ बनाना चाहिये।

अमूल्य सामायिक-रत्न :

पहले के जमाने के श्रावकों में और आज के श्रावकों में जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है। पहले के श्रावकों में सामायिक-प्रतिक्रमण आदि धर्म-क्रियाओं के प्रति पूर्ण श्रद्धा होती थी, परन्तु आज सामायिक के प्रति उस तरह की श्रद्धा-निष्ठा कम दृष्टिगोचर हो रही है। सूरत के एक प्रतिष्ठित जवेरी को झूठा आरोप लगाकर कैद में डाल दिया गया था। सामायिक और प्रतिक्रमण करने का उसका रोज का नियम था। परन्तु जेल में धार्मिक क्रिया करने की सुविधा नहीं थी अतः उसने जेल के व्यवस्थापक से कहा—जैसे आपको नमाज पढ़नी होती है, वैसे हमको भी धार्मिक क्रिया करनी पड़ती है। अतः इसकी सुविधा कर देंगे, तो मैं आपका आभारी होऊंगा। व्यवस्थापक भला आदमी था। अतः उसने सेठ के लिए धार्मिक क्रिया करने की सुविधा करदी। सेठ इससे इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपने पुत्र को प्रतिदिन पांच सौ रुपया व्यवस्थापक को इनाम में देने के लिये कह दिया।

कुछ दिनों बाद ही सेठ पर लगाया गया आरोप झूठा सिद्ध हुआ और उसे निर्दोष छोड़ दिया गया। जेल के व्यवस्थापक ने सोचा—इस इनाम की खबर बादशाह को लग जायेगी, तो वह मुझे दण्ड दिये विना नहीं रहेगा। अतः वह सेठ को सब रुपया वापस देने लगा। सेठ ने कहा—भाई, ये रुपये तो मैंने तुम्हें प्रेम से भेंट किये हैं। इससे तुम्हें घबराने की कोई बात नहीं है। मैंने तो तुम्हें रोज पांच सौ रुपये दिये हैं। परन्तु तुमने तो मुझे अमूल्य सामायिक-रत्न प्रदान किया है। प्रतिदिन सामायिक-रत्न कमाने का मौका प्रदान कर तुमने मेरे पर विशेष उपकार किया है।

कहने का आशय यह है कि सेठ ने जेल में भी अपना सामायिक का नियम नहीं छोड़ा था। ऐसे थे—पहले के श्रावक, परन्तु आज तो शिथिलता नजर आती है। ऐसा दृढ़ नियम-पालन आज बहुत कम देखा जाता है। मुसलमानों को देखिये, वे प्रतिदिन समय पर नमाज पढ़ेंगे ही। वे प्रवास में हों या जंगल में, पर नमाज के समय नमाज पढ़ने लग जायेंगे। किसी भी स्थिति में वे नमाज

पढ़ना भूलेंगे नहीं, परन्तु आपकी क्या स्थिति है ? आपके पास समय हो, पर आप उसे विकथा में गंवा दें, तो यह आपके लिए अनुचित बात ही कही जायेगी। श्रावक को सामायिक-प्रतिक्रमण का प्रतिदिन नियम लेना और उसका पालन करना चाहिये ।

आजीविका की शुद्धता :

कुछ लोग जैसे कि पहले मैंने कहा—यह कहते हैं कि सामायिक तो हम करते हैं, परन्तु हमारा मन स्थिर नहीं रहता है । मन को स्थिर बनाने के कई उपाय हैं, पर इसका मुख्य आधार आजीविका की शुद्धि पर है। सत्य और प्रामाणिकता से जीवन-निर्वाह करने पर चित्त शुद्ध और स्थिर रह सकता है। इसके अभाव में मन की स्थिरता नहीं रह सकती है ।

पूणिया श्रावक की सामायिक हमारे यहां प्रसिद्ध है। उसने अपने पास बारह आना की ही पूंजी रखी थी । इससे वह रूई खरीदकर पूणियां बनाता था और उसी को बेचकर अपनी आजीविका चलाता था। एक बार जब वह सामायिक में बैठा हुआ था, तब रोज की तरह उसका मन स्थिर नहीं था। इससे वह विचार में पड़ गया। उसने सोचा, हो न हो, आज बिना हक की वस्तु का उपयोग हो गया है अन्यथा चित्त की स्थिरता विचलित क्यों होती ? उसने अपनी सारी दिनचर्या पर नजर दौड़ाई पर कहीं भी उसे भूल प्रतीत न हुई और न किसी बिना हक की वस्तु का उपयोग किया ही प्रतीत हुआ। सामायिक पूरी होने पर उसने अपनी धर्मपत्नी से पूछा—आज भोजन में किसी दूसरे घर की वस्तु तो नहीं आई ? उसकी पत्नी ने कहा—'भोजन में तो दूसरे घर की वस्तु नहीं आई, पर चूल्हा जलाने के लिये पड़ोसी के घर का जला हुआ छाणे (कण्डे) का टुकड़ा मैं बिना पूछे जरूर उठा लाई थी।" पत्नी के इस स्पष्टीकरण से पूणिया श्रावक को सामायिक में चित्त स्थिर नहीं रह सकने का कारण समझ में आ गया। उसने अपनी पत्नी को कभी भविष्य में ऐसा न करे, समझा दिया।

केवल मात्र दूसरे के घर की एक तुच्छ-सी वस्तु कण्डे (छाणे) का बिना पूछे उपयोग करने वाले का चित्त भी सामायिक में स्थिर नहीं रह सकता है, तो दूसरों के श्रम से कमाये गये धन पर मजा करने वालों का मन सामायिक में कैसे स्थिर रह सकता है ? अतः सामायिक व्रत की शुद्ध आराधना करने के लिए उसकी प्राथमिक भूमिका रूप आजीविका की शुद्धि करना आवश्यक होता है और उसको फिर खर्चे घटाना आवश्यक होता है ।

सामायिक व्रत के अतिचार :

सामायिक व्रत के पांच अतिचार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

'योग दुष्प्रणिधानाऽनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि'।

१. हाथ, पैर आदि अंगों का अयोग्य संचालन करना अथवा छह काय के जीवों की हिंसा करना या उन्हें दुःख पहुँचे ऐसी प्रवृत्ति करना, काय-दुष्प्रणिधान नामक पहला अतिचार है।

२. संस्कार रहित और अर्थहीन भाषा बोलना, छह काय के जीवों की हिंसा हो या उन्हें दुःख पहुँचे ऐसा वचन बोलना, वचन-दुष्प्रणिधान है।

३. क्रोध, द्रोह आदि के वशीभूत होकर मनोव्यापार करना, मन-दुष्प्रणिधान नामक तीसरा अतिचार कहा गया है।

४. सामायिक में उत्साह न रखना, सामायिक के समय में उसमें प्रवृत्त न होना, जैसे-तैसे अव्यवस्थित रूप से सामायिक करना, अनादर नामक चौथा अतिचार है।

५. एकाग्रता के अभाव से या चित्त की अव्यवस्था से अधूरी सामायिक पार लेना, स्मृति अनुपस्थान नामक पांचवा अतिचार है।

इन पांच अतिचारों से दूर रहकर, शुद्ध सामायिक करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

नियमपूर्वक सामायिक करें :

शास्त्रकारों ने सामायिक को भी षडावश्यकों में स्थान दिया है। अतः यह प्रतिदिन करनी ही चाहिये। आपको अपने अन्य कार्यों के लिए जैसे समय निकालना पड़ता है, वैसे ही सामायिक के लिए भी कम से एक क्लाक (एक घण्टा) का समय आपको अवश्य प्रतिदिन निकाल लेना चाहिये। । यह आत्मा की खुराक है, जो उसे रोज मिलनी ही चाहिये, अन्यथा इसके अभाव में वह पुष्ट नहीं हो सकेगी।

३२

समता और तप

□ श्री अभयकुमार जैन

सम्यक् तप का महत्त्व :

अन्तरङ्ग समता तथा वीतरागता की रक्षा और वृद्धि में तप महान् लाभदायक है। तप से कर्मों की निर्जरा तो होती ही है यह संवर का भी प्रधान कारण है। इससे नवीन कर्मों का आना रुकता है तथा पहले बंधे हुए कर्मों की निर्जरा भी होती है। यद्यपि तप का गौणफल सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति भी है पर इसका प्रधानफल तो आत्मा में समता और वीतरागता की वृद्धि करते हुए कर्मों का क्षय करना ही है। तप के द्वारा अनादि के बंधे कर्म और संस्कार क्षणभर में विनष्ट हो जाते हैं। इसलिए सम्यक् तप का मोक्षमार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रज्वलित अग्नि जैसे तृण को जला देती है वैसे तपरूप अग्नि कर्मरूप तृण को जला डालती है।[1] त्रिगुप्ति से युक्त होकर जो श्रमण अनेक प्रकार के तप करता है वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है तथा अपनी शक्ति के अनुसार आत्मा का ध्यान करते हुये तप करता है तो मोक्ष भी पा लेता है। जैसे अशुद्ध सुवर्ण अग्नि में तपाये जाने और पीटे जाने से शुद्ध हो जाता है वैसे ही यह जीव भी तपों से तपाया जाकर कर्ममल से रहित हो जाता है—शुद्ध हो जाता है।[2] वह क्रोधादि कषायों और पंचेन्द्रियों के विषयों को सहजतया विजित कर

---

१. अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी—भ० आ० मू० १८५२ उत्तरार्द्ध ।

२. जह धाऊ धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहिं कणयं वा ।। मूलाचा० गा० २४३

मोक्ष धाम पहुँच जाता है।[1] निर्दोष तप उभयलोक सुखकारी है। यह इस लोक में क्षमा, शान्ति एवं विशिष्ट ऋद्धि आदि दुर्लभ गुणों को प्राप्त कराता है तथा परलोक में मोक्षपुरुषार्थ की सिद्धि भी कराता है। अतः उभय लोक के सन्ताप को दूर करने के इच्छुक विवेकी जन इस तप में अवश्य प्रवृत्त होते हैं[2]। वस्तुतः निर्दोष तप से जो प्राप्त न हो—ऐसा कोई पदार्थ इस जगत में नहीं है—इससे सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है।

जैसे सूर्य की प्रचण्ड किरणों से संतप्त मनुष्य का शरीर-दाह धारागृह से नष्ट हो जाता है वैसे ही संसार के महादाह से दग्ध होने वाले भव्यों के लिए तप जलगृह के समान शान्ति देने वाला है—तप में सांसारिक दुःखों के निर्मूल करने का अपूर्व गुण है।

समता और तप का पारस्परिक सम्बन्ध :

समता और तप, एक दूसरे की वृद्धि में सहायक हैं। अन्तरङ्ग में राग द्वेष के अभाव (वीतरागता की वृद्धि) से तप में उत्तरोत्तर प्रकर्षता, प्रगाढ़ता एवं निश्चलता बढ़ती है और तप की सुदृढ़ता से आत्मा का शुद्ध चैतन्यरूप उत्तरोत्तर निखरता है, विकारों का शमन होता है और आत्मा में विशुद्धता तथा निर्मलता बढ़ती ही जाती है। अतः आत्मशुद्धि, आत्मपरिष्कार तपोबल से ही होता है। जैसे सुवर्ण की शुद्धि बिना अग्नि के नहीं हो सकती है वैसे ही आत्मा की शुद्धि भी तप के बिना असम्भव है।[3]

तप की प्रखरता से ही अन्तरङ्ग भावों में निर्मलता व विशुद्धता बढ़ती है, विरोधियों में विरोध का अभाव होता है, मन और इन्द्रियां वशंगत होती हैं। अतएव चित्तवृत्ति विषयों की ओर आकृष्ट न होकर आत्मकेन्द्रित होती जाती है जो अन्तरङ्ग में साम्यभाव और वीतरागता की वृद्धि करती है। जैसे सुवर्ण को पिघलाने वाली अग्नि जितनी तेज और प्रखर होती है स्वर्ण का रंग उतना ही उज्ज्वल होता है और उसमें उतनी ही अधिक शुद्धता निखरती है। ठीक वैसे ही तपस्वी जितने ही अधिक और बड़े कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करता है उसके आत्मिक भाव—अन्तरङ्ग परिणाम उतने ही अधिक विशुद्ध व निर्मल होते हैं।[4] अतः तपोबल अन्तस् की साम्यवृद्धि- में सहायक है।

---

१. पद्मनंदि पंचविंशतिका—१।९९
२. आत्मानुशा०—११४
३. आत्मशुद्धिरियं प्रोक्ता तपसैवविचक्षणैः।
किमग्निना विना शुद्धिरस्ति कांचनशोधने ॥—प्रभाचन्द्राचार्य—मो० पा० पृ० ५५४
४. यथा भवति तीक्ष्णाग्निस्तथैवोज्वल काञ्चनम्।
तपस्येवं यथाकष्टं मनःशुद्धिस्तथैव हि ॥—कुरलकाव्य—२७।७

समता तपोवृद्धि में सहायक है। जैसे तप से समता बढ़ती है वैसे ही समता से तपोवृद्धि होती है, तप में स्थैर्य आता है। समता का अर्थ है मोह (राग) और क्षोभ (द्वेष) से रहित आत्मा का अनन्य परिणाम। इसमें दो तथ्य हैं—(१) रागद्वेष का अभाव और (२) आत्मा का अभिन्न परिणाम—एकीभाव का होना। जैसे-जैसे आत्मा में चित्, अचित्, इष्टानिष्ट पदार्थों में रागद्वेष का अभाव होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा की स्व-स्वरूप में स्थिरता बढ़ती जाती है और स्व-स्वरूप-स्थैर्य ही ध्यान तप है [एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्-तत्त्वार्थसू ९।२७]। स्व-स्वरूपस्थैर्य से आत्मिक परिणति निर्मल से निर्मलतर और विशुद्ध से विशुद्धतर होती जाती है। यही कारण है कि समताभावी श्रमण दुःखों के आने पर उद्विग्न नहीं होता, अशुभ से द्वेष नहीं करता और हृदंगत सभी कामनाओं को छोड़ देता है। जैसे कछुआ सभी अङ्गों को पूर्णतया अपने में ही समेट लेता है वैसे ही समताभावी श्रमण इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है। (इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है) तथा मन को आत्म केन्द्रित कर अपने को पर द्रव्यों की पर्यायों तथा द्रव्यों से विलक्षण (भिन्नस्वरूप का) निश्चय करता है। और इच्छा-निरोध को शास्त्रों में तप कहा ही गया है—[इच्छानिरोधस्तपः—मोक्षपंचा०—४८]

ऐसी स्थिति में समताभावी श्रमण ममता और अहंकार से ऊँचा उठ जाता है तथा पूर्णतः निःसङ्ग हो बाह्य अर्थों के प्रति अनासक्त हो जाता है, त्रस और स्थावर सभी प्राणियों के प्रति उसमें समता का उदारभाव परिव्याप्त हो जाता है। वह लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, जीवन और मरण, निंदा और प्रशंसा, मान और अपमान में विकार रहित हो जाता है अर्थात् लाभादि उसे हर्षित नहीं करते और अलाभ आदि उसे शोकान्वित नहीं करते। वह न तो ऐहिक सुखों की कामना करता है और न पारलौकिक सुखों की चाह ही। चाहे उसे वसूले से छीला जाये या चन्दन से लेप किया जाय, चाहे उसे आहार प्राप्त हो चाहे अप्राप्त रहे, वह कभी विचलित नहीं होता। उसके भीतर समता भाव सदैव सुस्थिर रहता है।[1] यही तो समाधि है, यही योग है और यही तप है; क्योंकि जो समताभावी श्रमण इन्द्रियों को और मन को विषयों और कषायों से हटाकर (रोककर) ध्यान की प्राप्ति (समाधि) के लिए अपनी आत्मा का चिन्तवन करता है उसके नियम से तप होता है।[2] गीता में ऐसे साधक को स्थितप्रज्ञ कहा गया है।[3]

---

१. उत्तराध्ययनसू० अध्य० १९ गा० ८९–९२।

२. विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसिज्झीए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥—बारस अणु०—७७

३. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥—गीता २।५५

निष्कर्ष यही है कि अन्तरङ्ग में समता भाव की प्रकर्षता ही तपों की सुदृढ़ता और सुस्थिरता का कारण है और तप की प्रखरता तथा स्थिरता समता भाव की वृद्धि में सहायक है। अतः इन दोनों में परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। जैसे बाह्य तप, आभ्यन्तर तपों की वृद्धि में सहायक हैं वैसे ही अन्तरङ्ग एवं बाह्य तप समता की प्रकर्षता में परम सहायक हैं। अतः तप साधन हैं और समता है साध्य। तपों से समता (वीतरागता) की ही सिद्धि की जाती है जो आत्मा का प्रमुख लक्ष्य है। अतः आत्मा के शुद्ध चैतन्यभाव की प्राप्ति में तप परम सहायक है। हमारा साध्य जो स्व-स्वरूप की आराधना और वीतरागता की सिद्धि है, वह हमें तप द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः समता-वीतरागता ही हमारा ध्येय है। तपस्वी तपों द्वारा इसी की उपलब्धि हेतु सचेष्ट रहते हैं। आध्यातमजगत् में समता और तप का इसीलिए महत्त्वपूर्ण स्थान है।

समता और व्रत–प्रत्याख्यान

☐ श्री जशकरण डागा

समता 'सम' शब्द से बना है जिसके दो अर्थ हैं—'साम्य' एव 'शमन'। साम्य से तात्पर्य आत्मा की सहज तटस्थ निर्विकल्प दशा से है जिसके प्राप्त होने पर आत्मा स्वयं समतारस का अलौकिक आनन्द अनुभव करता हुआ 'सव्वं जग तू समयाणु पेही'[1] के अनुसार सम्पूर्ण विश्व को 'वसुधैव कुटुम्वकम्' वत् देखकर प्राणी मात्र के प्रति सद्व्यवहारी हो जाता है। दूसरा 'शमन' से अर्थ कषायों के उपशमन या क्षय से है। रागद्वेष का उपशमन या क्षय कर जो निर्मल शुद्ध स्वभाव, वीतराग परिणति को प्रकट करे और जो स्व–पर दोनों के लिए—सर्व प्राणियों के लिए आनन्दकर, हितकर एवं कल्याणप्रद हो, ऐसे शमन भाव को समता कहते हैं। 'समयं सयाचरे'[2] के अनुसार साधक को सदा ऐसी समता का आचरण करना चाहिए।

समकित से पूर्व समता आना और समता से पूर्व तृष्णा त्याग आवश्यक है :

समता भाव की प्राप्ति से पूर्व समकित की प्राप्ति नहीं होती है। कारण जब तक कषायों में मन्दता न आवे, सम्यग् ज्ञान प्रकट भी नहीं होता है। कषायों की मन्दता बिना आत्मा निर्भय एवं तृष्णा रहित नहीं होता है। जैसे समकित के लिए 'समता' आवश्यक है वैसे ही समता के लिए निर्भय वृत्ति एवं तृष्णा त्याग आवश्यक है। 'सामाइय मा हुतस्स जं जो अप्पा य भएण दंसए'[3] अर्थात् समभाव वही रख सकता है जो स्वयं को भय से विलग रखता है। निर्भय वृत्ति हेतु तृष्णा-त्याग बताया है। कारण तृष्णा ने जीवन में विषमता बनी रहती

१—सूत्रकृतांग २-३-१३ २—सूत्रकृतांग १-२-२ ३—सूत्र कृ० १-२-२-१७

है। जिसके जीवन में तृष्णा कम व पुण्य अधिक होते हैं, वे अधिक सुखी व सुलभबोधि होते हैं। इसके विपरीत जिनके जीवन में तृष्णा अधिक व पुण्य कम होते हैं, वे अधिक दुःखी एवं दुर्लभबोधि होते हैं। तृष्णा का स्वरूप बताते हुए आध्यात्मयोगी श्री आनन्दघनजी ने कहा है—'तृष्णावान के लिए सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र की चारपाई, आकाश का तकिया व धरती की चादर बना दी जाय, तब भी वह कहेगा कि मेरे पैर तो बाहर (उघाड़े) ही हैं,' जबकि समभावी आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप रूप चार पाए वाली चारपाई का शरण लेकर, सुख-शान्ति से जीवनयापन करता है।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण उल्लेखनीय है। पाइसर का बादशाह जब इटली जीतने को जाने लगा तो एक सीनियास नामक तत्त्ववेत्ता ने पूछा—'आप कहाँ जा रहे हैं?' उत्तर मिला—'इटली जीतने।' उसने फिर पूछा—'इटली जीत कर फिर क्या करेंगे?' उत्तर मिला—'अफ्रीका जीतूंगा।' तत्त्ववेत्ता ने पुनः पूछा—'फिर क्या करेंगे?' उत्तर मिला—'बाद में आराम करूँगा।' इस पर तत्त्ववेत्ता ने कहा—'अच्छा, वह आराम अभी ही क्यों नहीं कर लेते?' बादशाह निरुत्तर हो गया।

इस प्रकार तृष्णावान पुण्य के उदय होते हुए व अनुकूल साधन होते हुए भी कभी आराम से नहीं रह सकता।

समतावान सरल दृष्टि होता है :

समता से आत्मा आर्जव (सरलता) गुण का धारक तथा ग्रंथिरहित होता है। माया, कपट का त्याग कर वह सरल दृष्टि हो जाता है। ऐसी सरल आत्माएँ ही मुक्ति की अधिकारी होती हैं। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

"बाह्य तेम आभ्यान्तरे, ग्रंथ ग्रंथि नहीं होय।
परम पुरुष तेने कहो, सरल दृष्टि थी जोय॥
आत्म ज्ञान समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्व वाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य॥"

उत्कृष्ट समता मुनियों में मिलती है। मुनियों के लिए कहा गया है—

"अणिस्सिओ इह लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासी चंदन कप्पोआ असणे अनसणे तहा।"[१]

मुनि इस लोक व परलोक में अनासक्त भाव से रहे। यदि एक उन्हें

१—उत्तरा १९-९३

चन्दन से पूजे व दूसरा बसोला से शरीर छिलोले करे, तो भी दोनों पर समभाव रखे तथा भोजन मिलने न मिलने पर दोनों दशा में समभावी रहे।

मुनि की वाणी भी 'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ'[1] के अनुसार पुण्यशाली व दरिद्री दोनों के लिए बिना भेद-भाव के समान होती है।

समता की प्राप्ति हेतु व्रत-प्रत्याख्यान आवश्यक है :

'समता सव्वत्थे सुव्वए'[2] के अनुसार समभावी होने के लिए सुव्रती होना भी आवश्यक है। समता और व्रत-प्रत्याख्यान में चोलीदामन सा सम्बन्ध है। साधक के लिए दोनों आवश्यक हैं। जैसे रोगी को आरोग्य लाभ दो प्रकार से होता है—प्रथम तो रोग वृद्धि के कारणों को रोकना व दूसरे रोग को समाप्त करना, वैसे ही आत्म-शुद्धि हेतु भी बढ़ते हुए रोग रूप विषम भावों को समता से रोकना और दूसरे व्रत-प्रत्याख्यान से अशुभ कर्मों को समाप्त करना होता है।

व्रत-प्रत्याख्यान की व्याख्या एवं भेद :

पापजन्य प्रवृत्ति को त्यागकर, आत्मा की अशुभ परिणति रोकने व मन, वचन, काया की असद् प्रवृत्ति पर सम्यक् रूप से अंकुश लगाने के उद्देश्य से व्रत-प्रत्याख्यान ग्रहण किए जाते हैं। व्रत की व्याख्या इस प्रकार है—"हिंसानुतस्तेय अब्रह्म परिग्रहभ्यो विरति व्रतम्" (हिंसा, मृषा, अस्तेय, अब्रह्म व परिग्रह की विरति ही व्रत है)। इस प्रकार व्रत के मुख्य पाँच भेद हैं। श्रावक के व्रतों की अपेक्षा बारह भेद भी होते हैं जिनमें उपर्युक्त पाँच के अतिरिक्त सात इस प्रकार हैं—(१) दिशि, (२) उपभोग-परिभोग, (३) अनर्थ दण्ड, (४) सामायिक, (५) देशावकासिक, (६) पौषध एवं (७) अतिथि संविभाग।

प्रत्याख्यान का अर्थ है—पाप प्रवृत्ति से पीछे हटने की विधि। संयम रूपी वृक्ष का व्रत मूल है तो प्रत्याख्यान उसकी शाखा-उपशाखा है, अथवा संयम रूपी महल का व्रत परकोटा है तो प्रत्याख्यान परकोटे के सुरक्षार्थ खाई रूप है।

प्रत्याख्यान पाँच प्रकार के होते हैं यथा :—(१) श्रद्धान शुद्ध, (२) अनुभाषण शुद्ध, (३) विनय शुद्ध, (४) अनुपालन शुद्ध एवं (५) भाव शुद्ध।[3] प्रत्याख्यान के अन्य प्रकार से दस भेद भी होते हैं—यथा :—(१) अनागत, (२) अतिक्रान्त (कारणवश बाद में करे), (३) कोटि सहित (एक तपस्या के पूर्ण होते ही दूसरी शुरू करदे), (४) नियंत्रित (विघ्न आने पर भी नहीं छोड़े), (५) साकार, (६) अनाकार, (७) परिमाण (जिसमें केवल दत्ति आदि की

१—आचा० १-२-६ २—सूत्रकृतांग २-३-१३ ३—स्थानांग ५-३-२८

मर्यादा हो), (८) निरवशेक (चारों आहार-त्याग), (६) संकेत (गांठ मुट्ठी आदि से) एवं (१०) अद्धा प्रत्याख्यान (पोरसी आदि)।[१]

व्रत-प्रत्याख्यान बंधन नहीं है :

कुछ बंधु कहते हैं, मुक्ति मार्ग में बंधन कैसा? जो मार्ग कर्म-बंधन से मुक्ति करावे, उसमें व्रत-प्रत्याख्यान का बंधन क्यों? इसका समाधान यह है कि जैसे सर्दी में अधिक वस्त्र बंधन हेतु नहीं, शरीर रक्षार्थ होते हैं। चोर-डाकुओं से व धूप-वर्षा से बचने हेतु बंद मकान में निवास भी बंधन रूप नहीं होता और पैर में जूता भी बंधन रूप न होकर कांटे, कोकरे आदि से बचाने वाला होता है, वैसे ही व्रत-प्रत्याख्यान भी आत्मा को मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद व अशुभ योग रूप आस्रव से त्राण करने वाले होते हैं। व्रत-प्रत्याख्यान की महिमा महान् है। ज्ञान की कमी होते हुए भी साधना चल सकती है। 'भगवती सूत्र' में उल्लेख है कि आठ प्रवचन माता का ज्ञान वाला भी व्रत (चारित्र) की आराधना कर कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्रकट कर सकता है। इससे सुस्पष्ट है कि ज्ञान से भी व्रत-प्रत्याख्यान का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। इसी कारण जैन-धर्म में, व्रताराधना पर विशेष जोर दिया गया है। 'औपपातिक सूत्र' में जिन धर्म की साधना को इसी कारण वयप्पहाणा (व्रत प्रधान), गुणप्पहाणा (गुण प्रधान), करणप्पहाणा (करण प्रधान), चरणप्पहाणा (चरण प्रधान), निग्गहप्पहाणा (निग्रह प्रधान) बताया गया है।

बिना विरति के समभाव का भुलावा :

एकान्त निश्चयवादी व्रत-प्रत्याख्यान, त्याग, तप, दया, दान आदि की उपेक्षा कर, मात्र आत्म प्रतीति कर, समभावी होने पर जोर देते हैं, किन्तु उनका यह कथन एकान्त व भ्रामक है। ऐसे व्यक्ति कहते हैं—"खाओ पीओ मौज उड़ाओ, रंगरेलियाँ करो, कोई हर्ज नहीं, बस आत्म प्रतीति कर समभाव बनाए रखो, फिर त्याग तप की भी आवश्यकता नहीं", किन्तु ऐसे कथन के मूल में धर्म के प्रति अरुचि व स्वच्छन्द वृत्ति झलकती है। आत्म प्रतीति पूर्वक समभाव का अभ्यास करे, इसका विरोध नहीं, किन्तु वह संवर-निर्जरा के मुख्य हेतु व्रत-प्रत्याख्यान, त्याग-तप को ग्रहण किए बिना ही मुक्ति प्राप्ति की बात करे तो वह सिद्धान्त-विपरीत है, भ्रामक है।

सुव्रती की समता का उदाहरण :

श्रावक के जीवन में व्रत-नियम एवं समता दोनों का होना परमावश्यक है। व्रतीश्रावक भी कैसे समभावी होते हैं, इस पर एक उदाहरण है। एक

१—स्था० १० सूत्र ५३

महात्मा के व्याख्यान में एक व्रती सेठ नित्य आते। एक दिन जव वे व्याख्यान में सामायिक सहित वैठे थे, उनका सेवक तार लेकर आया। सेठ ने तार पढ़ा व सेवक को चले जाने का संकेत दिया। आधे घंटे वाद पुनः सेवक दूसरा तार लेकर आया। सेठ ने खोलकर पढ़ा व फिर सेवक को चले जाने का संकेत दिया। महात्मा ने प्रवचन के वाद सेठ को पास बुलाकर पूछा—दो तार कैसे आए ? सेठ ने कहा—"महाराज, तार तो आते ही रहते हैं।" महात्मा ने आग्रह कर वताने को कहा। सेठ ने स्पष्ट किया—पहिला तार आया, उसमें लिखा है—"जावा से आपका पुत्र खांड का जहाज भरकर ला रहा था, वह डूव गया जिसमें कोई नहीं वचा।" मैंने विचारा जो होना था सो हो चुका, अव सत्संग क्यों छोड़ा जाय ? सो मैं वैठा रहा। दूसरे तार में लिखा है "डूवने वाला जहाज आपका नहीं, किसी दूसरे का था। आपका पुत्र व जहाज सुरक्षित आ रहे हैं।" इस पर मैंने विचारा कि इसमें क्या हर्ष करना। कौनसी वस्तु साथ लेकर आए थे व आगे ले जावेंगे ? ये सव तो मार्ग में मिले पथिक हैं, और मार्ग में ही छूट जावेंगे। महात्मा सेठ की समता-भावना एवं विचारों से वड़े प्रसन्न हुए।

विना समता-साधना मुक्ति नहीं :

किसी भी मत, सम्प्रदाय, लिंग, भेष या जाति से समता-साधना के अभाव में मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती है। एक जैनाचार्य ने इस सम्वन्ध में वड़ा ही सुन्दर कहा है :—

"सेयंवरो वा आसम्वरो वा, वुद्धो वा तहव अन्नो वा।
समभाव भावि अप्पा, लहई मोक्खं न संदेहो ॥"

अर्थात् चाहे श्वेताम्वर हो या दिगम्वर, वुद्ध हो या अन्य, जो भी समभावी होता है, वह निःसंदेह मोक्ष प्राप्त करता है।

अंत में समता और व्रत-प्रत्याख्यान की उपयोगिता को स्पष्ट करने वाला एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

एक नाविक के दो पुत्र थे—होशीला व जोशीला। नाविक उन दोनों को वाल्यावस्था में ही छोड़ गुजर गया था। वड़े होने पर दोनों ने पिता की सम्पत्ति का वंटवारा किया जिसमें दोनों को एक-एक नाव भी मिली। नावें पुरानी होने से अनेक जगह उनमें छिद्र हो चुके थे। दोनों ने नावों से गांव के चारों ओर वह रही नदी को पारकर आजीविका हेतु विदेश जाने का निश्चय किया। उनके पिता के एक हितैषी मित्र ने जव यह सुना तो उसने उन दोनों को नावों की मरम्मत करा नदी में चलाने को कहा। वड़े पुत्र होशीला ने तो वात मानली और नाव मरम्मत करा, वह नदी से सकुशल पार चला गया, किन्तु छोटे पुत्र

जोशीला ने बात नहीं मानी। उसने विचारा नाव में पानी भरेगा तो उसे हाथों से निकाल देंगे। वह उस नाव से जैसे ही पानी में उतरा, कुछ आगे जाने पर नाव में पानी भरने लगा। पानी निकालने में वह दोनों हाथों से जुट गया किन्तु जितना पानी निकालता उससे ज्यादा पानी नाव में भरता गया। परिणामतः वह बीच नदी के डूब गया।

यह एक दृष्टान्त है। हमारे पास धर्म रूपी पुरानी नाव है जिसमें आस्रव रूपी छिद्र हो रहे हैं, हितैषी मित्र गुरु हैं, जो भी गुरु-आज्ञा मान आस्रव रूप छिद्रों को व्रत-प्रत्याख्यान रूप कीलें-पत्ते से बंदकर देगा, वह तो सानन्द संसार रूप महा नदी को होशीला की तरह पार कर लेगा और जो जोशीला की तरह व्रत-प्रत्याख्यान रूप कीलें-पत्ते से नाव के छिद्र बंद नहीं करेगा, वह संसार समुद्र को बहुत पुरुषार्थ एवं क्रिया करके भी पार नहीं कर सकेगा और विषम भाव एवं असमाधि को प्राप्त होगा।

३५
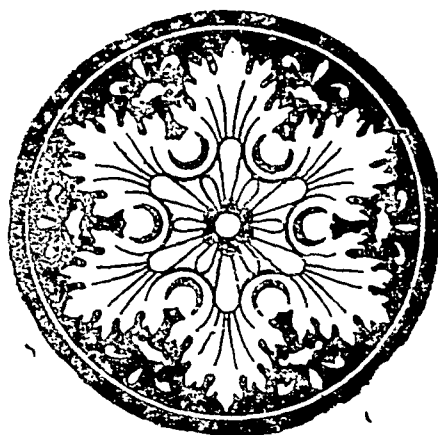
समता-व्यवहार के विकास में स्वाध्याय एवं साधना शिविरों की भूमिका

□ श्री चाँदमल कर्णावट

शिविर : समता सिद्धान्त की प्रयोगशालाएँ :

वस्तुतः स्वाध्याय एवं साधना के शिविर समता सिद्धान्त की प्रयोगशालाएँ हैं। इन शिविरों में जहाँ समता सिद्धान्त की व्याख्या की जाती है, उसके साथ समता-व्यवहार के विकास के सुअवसर भी प्राप्त होते हैं। स्वाध्यायी एवं साधक शिविर-काल में साधना एवं स्वाध्याय के सुखद सरोवर में अवगाहन कर अत्यंत आनन्द की अनुभूति करते हैं। समता-व्यवहार के विकास में इन शिविरों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इसका विवेचन स्वाध्याय एवं साधना-शिविरों के अलग-अलग शीर्षकों में किया जा रहा है।

स्वाध्याय शिविर :

समता-दर्शन जहाँ समता भाव का द्योतक है, वहाँ आत्मस्वरूप में, निज स्वभाव में, रमण करने का भी अर्थ प्रकट करता है। स्वाध्यायी शिविरों में मुख्यतः समता सिद्धान्त के सैद्धान्तिक पक्ष पर ज्ञात या अज्ञात रूप में अधिक बल दिया जाता है। कर्म सिद्धान्त, जीवादि नव तत्त्व और उनके स्वरूप, गुणस्थान, कषाय-विजय आदि की व्याख्या के द्वारा समता-सिद्धान्त को स्पष्ट करने

का प्रयास किया जाता है। इसके अतिरिक्त अध्ययन के साथ सामायिक की साधना करते हुए प्रत्येक स्वाध्यायी विषमता से दूर रहकर समता की साधना करता है। शिविर-काल में कषाय-विजय पर आयोजित व्याख्यानों के द्वारा एवं उनके क्रियात्मक अभ्यास के द्वारा भी समता-व्यवहार के विकास में सतत प्रयास किया जाता है। स्वाध्यायी भाई-बहिन इस सिद्धान्त की अनेक रूपों में प्रकारान्तर से व्याख्या समझते हैं, और अपने जीवन में समता धारण करने का संकल्प करते हैं। इन शिविरों का आध्यात्मिक वातावरण तो कोई प्रत्यक्षदर्शी ही अनुभव कर सकता है। फिर भी जिस प्रकार का शांत एवं समतापूर्ण वातावरण इनमें रहता है, उसमें रहकर समता व्यवहार की छाप गहरी अंकित हो जाती है। शिविरों की समाप्ति पर अनेक स्वाध्यायी कषाय-विजय का संकल्प लेकर प्रस्थान करते हैं और अपने दैनन्दिन जीवन में उनका अभ्यास करते हैं। यद्यपि समता-दर्शन का अध्ययन पृथक् रूप से स्वाध्याय पाठ्यक्रम में निर्धारित नहीं है तथापि सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियों से समता-पूर्ण व्यवहार के विकास में इनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रहती है।

साधना-शिविर :

इन शिविरों के आयोजन का लक्ष्य ही समता-पूर्ण जीवन का विकास करना है। साधना-शिविरों में साधक ध्यान, जप, चिन्तन, मनन आदि से निज स्वरूप में रमण करने का अभ्यास करते हैं, एक नियमित दिनचर्या के द्वारा अधिकाधिक समत्व को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। क्रियात्मक अभ्यास के साथ साधना की विविध भूमिकाओं पर चर्चाएँ होती हैं और समता-साधना का व्यावहारिक प्रयोग भी। यद्यपि इन शिविरों का आरम्भ नया-नया ही है तथापि यह कहा जा सकता है कि साधकों के जीवन में इन शिविरों के फलस्वरूप बहुत परिवर्तन आया है। वे साधना से आराधना की ओर अग्रसर हुए हैं। शिविर समापन के अवसर पर साधक विविध प्रकार की साधना के संकल्प लेते हैं। और समता रस के आनन्द को जीवन में प्राप्त करने का निरन्तर अभ्यास करते रहते हैं। स्वाध्यायी शिविरों की तुलना में साधना-शिविर समता-व्यवहार के विकास में अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

भूमिका निर्माण के भावी चरण :

समता को मुक्ति का पर्याय कहा जा सकता है। जहाँ सामायिक साधना साधन है, वहाँ साध्य भी है। विषमताओं के घने जंगल में जब तक आत्मा भटकता रहता है, उसे चैन कहाँ? शान्ति कहाँ? और निर्भयता कहाँ? अन्ततोगत्वा तो शान्ति सभी विषमताओं से मुक्त होने में ही है। अतः आवश्यक

३६

समभाव के मर्मस्पर्शी प्रेरक प्रसंग

□ श्री मोतीलाल सुराना

[खंदक मुनि की खाल उतारी, गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अंगारे रखे, धर्म-रुचि अरणगार को जहरीले तुंबे का आहार वहराया पर सबने समभाव रखा और प्राणों की वाजी लगाकर चौरासी के चक्कर से छुटकारा पाया। लीजिये, आज के परिप्रेक्ष्य में कुछ प्रेरक प्रसंग—समता समाज की रचना के लिये—सच्ची घटनाओं के आधार पर प्रस्तुत कर रहे हैं श्री मोतीलाल सुराना—सम्पादक]

(१) मर्यादा व्यापार की

महाराष्ट्र का मालेगांव। एक प्रामाणिक व्यापारी की दुकान कपड़े की। प्रामाणिक है तो धार्मिक तो है ही। साल भर में लगभग ७० हजार का कपड़ा बेच लेते थे। सोचा–भाव बढ़ रहे हैं पर एक लाख से तो ज्यादा का कपड़ा न बेच सकूंगा। मर्यादा कर ली तीन लाख की—क्रियापात्र संत से। तीन लाख की जब भी विक्री हो जावेगी, उस साल के लिए उसी दिन से व्यापार बन्द कर दूंगा। त्याग का प्रभाव। समता ने रंग दिखाया। आठ माह में ही ३ लाख की बिक्री हो गई। निकल पड़े घर से निर्ग्रंथों की सेवा में। चातुर्मास में मलमल से निर्मल मन पर रंग चढ़ गया पक्का। बिना किसी आडम्बर तथा निश्चित तिथि के राजस्थान में जाकर सेठ रामचन्द्रजी बन गये हम सब के वंदनीय।

(२) एक दिन और तपस्या बढ़ा ली

आचार्य–महोत्सव के दूसरे साल इन्दौर में चातुर्मास किया पूज्य श्री नानालाल जी महाराज साहब ने। और दीक्षा लेली इन्दौर की सरल स्वभावी

जी से ज्ञानचर्चा कर लाभ लिया जा सके। समता-दर्शन के उपासक का यह आदर्श उदाहरण है।

(६) समता की संजीवनी

समता के धनी राजमलजी कड़ावत ने हिंसा-प्रेमी वालकों से एक सांप को छुड़ाया। सांप ने उन्हें डस लिया तो भी उसे छोड़ आये तथा सामायिक लेकर बैठ गये। समता की संजीवनी ने श्री कड़ावतजी के पास जहर को फटकने ही नहीं दिया। स्वर्गीय कड़ावतजी ने पचास वर्ष पूर्व पचास हजार रुपए एक मुश्त दान में निकाले थे। उस समय के पचास हजार रुपये आज के तो पांच लाख रुपयों के बरावर हैं।

(७) समभाव की शक्ति

भूतपूर्व होलकर रियासत के निसरपुर के एक जैनेतर भाई को सरकारी नौकरी में केवल २२) मासिक मिलता था पर जब भी रियासत की राजमाता निसरपुर आती थीं तो उनके पैर पड़ती थीं। लोगों को वड़ा आश्चर्य होता था। जब उनसे कोई जिद्द कर पूछता तो वे इस रहस्य को इस प्रकार उजागर करते—

"मैं मर्यादा पूर्वक रहता हूं। कम खाना और गम खाना मेरा नियम है। धन, मकान की भी मैंने मर्यादा की हुई है। 'ना काहू से दोस्ती, ना काहू से वैर' वाले सिद्धान्त का ध्यान रखता हूं। सम-भाव में यदि कोई शक्ति है तो उसका यह कारण हो सकता है।"

(८) पगड़ी से क्या दोस्ती

घोड़े पर सवार दूल्हा और पीछे बरातियों का प्रोसेशन। बात नेमजी की नहीं। तोरण के वहाँ महिलाएं आरती लिए खड़ी हैं। दूल्हे का घोड़ा आगे बढ़ा, और यह क्या, दूल्हे की पगड़ी सिर से नीचे जमीन पर जा गिरी—घोड़ा जो बिचक गया था। लोगों ने पगड़ी उठाकर सिर पर रखनी चाही पर दूल्हा 'नहीं', 'नहीं' कहकर घोड़े से नीचे उतर गया। अब तो जिन्दगी भर खुले सिर ही रहूंगा—दूल्हे ने कहा। अब पगड़ी से क्या दोस्ती? अब तो शादी दीक्षा कुमारी से करूंगा। और दूल्हे ने दीक्षा ग्रहण की। ये थे पूज्य उदयसागरजी म० जिन्होंने संयम लेकर भगवान महावीर की समता को अपने जीवन में आत्मसात किया।

(९) केशरिया भात है यह तो

पीरदानजी की पत्नी ने बाजरे का खीचड़ा बनाया तथा पानी भरने कुए पर चली गई। पीरदानजी को थाली परोसी उनकी माताजी ने—भोजन के लिये। माताजी को आंख से कम दिखाई देता था। भैंस के लिए जो बांटा

पानी में भिगोकर भगोने में तैयार पड़ा था, वही चम्मच से परोस दिया—थाली में ।

पीरदानजी ने सामने आई हुई थाली में वांटा देखा । खाना शुरू किया समता के साथ और स्वाद लेने वाली जवान को समझाया—केशरिया भात है यह तो, माताजी के द्वारा दिया हुआ प्रसाद । माताजी की ज्योति मंद है । आज भैंस को वाजरे का खीचड़ा खाने को मिलेगा तो वह वहुत खुश होगी । दूसरों की खुशी के लिए अपनी खुशी कुरवान करने वाले पीरदानजी जैसे समभावी सचमुच प्रशंसा के पात्र हैं ।

(१०) मौत को न्यौता

पहले ही दिन २४० प्रहर का उपवास पचखने वाले (मास-खमण) तपस्वी रखवचदजी सिसोदिया ने जव एक पठान के पास ईद के एक दिन पहले एक हट्टाकट्टा वकरा देखा तो वे उस पठान के भावी इरादे को समझ गए । वकरे को छीन कर भाग गये वहां से तथा वकरा व वे, दोनों दो दिन और दो रात तक मोतझड़ नामक पहाड़ी स्थान पर, जहां पहुँचना मानों मौत को न्यौता देना है, जाकर वैठ गये । हिंसक पशुओं का क्या डर ? 'आत्मवत सर्व भूतेपु' मानने वाले तपस्वी रखवचंदजी ने कई मासखमण किये थे ।

(११) समता का प्रभाव

कुष्ठरोगी पति के गुजर जाने के वाद शव को जलाने समाज के लोग तथा रिश्तेदार नहीं आये । चिता के धुएं से हम सवको भी कुष्ठरोग हो जायगा—यह जो अंधविश्वास वैठा हुआ था सवके मन में । पति के शव को चादर में गांठ वांधकर पीठ पर लाद लिया, विधवा नानूकुंवरजी ने और जला आई श्मशान जाकर । वारह दिन तक भगवान का स्मरण करती रही और वाद में जैन दीक्षा अंगीकार कर भगवान महावीर की समता का संदेश नगर-नगर और डगर-डगर पहुँचाया वर्षों तक ।

एक वार गोचरी के समय महासती नानूकुंवरजी के साथ एक पच्चीस वर्षीय साध्वी को देखकर एक मुसलमान जानबूझ कर लघुशंका करने वैठ गया । दोनों साध्वीजी रुक गईं कुछ देर । पर वह तो उठा नहीं । जानबूझ कर जो वैठा था—बुरी नियत से । महासती नानूकुंवरजी ने कहा—चलो यह तो ऐसा ही करता रहेगा । वाधा सिद्धि हो समझो । साध्वीजी के चले जाने के वाद भी उस व्यक्ति का पेशाव वन्द नहीं हुआ । घर वाले सव परेशान । तव उसने मन की सव वात तोबा-तोबा कर कही तो उसे साध्वीजी के यहां क्षमा मांगने स्थानक पर लाये । साध्वीजी ने आगे ऐसी हरकत न करने की सलाह दी, मांस-मदिरा

के त्याग करवाये तथा मंगलिक सुनाकर विदा किया, उसकी बीमारी दर्शन करते ही अच्छी जो हो गई थी।

(१२) सामायिक में हूँ

श्रावकजी सामायिक लेकर बैठे थे। एक छोटी लड़की ने आकर कहा—"दा साहब, घर में आग लग गई है। बहुत सारे लोग इकट्ठे हो गये हैं।" श्रावकजी मौन। कुछ न बोले। मन को समझाया—सामायिक में हूं। सभी जीवों पर समभाव रखना मेरा कर्तव्य है। किसका घर ? मैं क्या करूँ ? और एक सामायिक और बढ़ाली—करेमिभंते की पाटी बोल कर। थोड़ी देर बाद घर से खबर आई स्थानक में कि आग बुझ गई है। घटना धार की है तथा श्रावकजी का नाम मोतीलालजी था। गांव तथा श्रावकजी के नाम में फर्क हो सकता है पर घटना सच्ची है—मालवे की।

तृतीय खण्ड

समता-समाज

२७
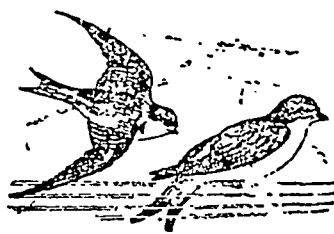
समता-समाज

□ डॉ० महावीर सरन जैन

समाज का सुदृढ़ निर्माण तभी सम्भव है जब सामाजिक-संरचना, राजनैतिक व्यवस्था एवं दार्शनिक चिन्तन में मूलभूत एकता हो। इसके लिए सामाजिक धरातल पर हमें समस्त व्यक्तियों के लिए बिना किसी भेदभाव के योग्यता अनुसार जीवनयापन करने की स्वतन्त्रता की उद्घोषणा करनी होगी तथा सामाजिक स्थिति की दृष्टि से समता की स्थापना करनी होगी। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति को समाज में समान महत्त्व प्राप्त होना चाहिए। जन्म के बाद प्रत्येक व्यक्ति को विकास के अवसर समान रूप में प्राप्त होने चाहिये। समान अवसर मिलने पर भी एक व्यक्ति दूसरे से कितना अधिक गुणात्मक विकास कर पाता है, उस दृष्टि से उसका सामाजिक मूल्यांकन होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज में इस बात को महत्त्व नहीं मिलना चाहिए कि किसका जन्म किस परिवार, वंश, जाति, वर्ण, अथवा प्रान्त में हुआ है। इस दृष्टि से हमें समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए विकास के समान अवसर एवं अधिकार जुटाने होंगे।

राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से हमें प्रजातंत्रात्मक शासन-व्यवस्था के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को मौलिक अधिकार प्रदान करने होंगे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को मत देने का समान अधिकार भी समाहित होगा। मौलिक अधिकारों में सम्पत्ति के अधिकार की सीमा होगी। सम्पत्ति का अधिकार वहीं तक होगा जिससे आर्थिक विषमतायें उत्पन्न न हों। प्रत्येक व्यक्ति को एक ओर नौकरी पाने का अधिकार होगा अथवा अपनी प्रतिभा के अनुसार जीवनयापन करने का अधिकार होगा तथा दूसरी ओर उसे विधिसम्मत तरीके से कार्य करना होगा। घर बैठ कर बिना कार्य किये खाने-पीने का अधिकार न होगा अपितु शक्तिअनुसार अपने कार्यक्षेत्र में समुचित श्रम करते हुए, जीवनयापन करने का दायित्व पालन करना होगा।

दार्शनिक धरातल पर समस्त व्यक्तियों के अस्तित्व की दृष्टि से स्वतन्त्रता तथा स्वरूप की दृष्टि से समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना होगा। 'प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। उसके गुण एवं पर्याय भी स्वतन्त्र हैं। विवक्षित किसी एक द्रव्य तथा उसके गुण एवं पर्यायों का अन्य द्रव्य या उसके गुणों और पर्यायों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।' इस दृष्टि से व्यक्ति मात्र अपने पुरुषार्थ से उच्चतम विकास कर सकता है। दूसरी ओर स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्मायें समान हैं। प्राणी मात्र आत्मतुल्य है।

समता-समाज-रचना में प्रमुख बाधाएँ :

इन आधारों पर समता-समाज का निर्माण किया जा सकता है। आधुनिक युग में समता-समाज के निर्माण एवं विकास में निम्नलिखित प्रमुख बाधायें दृष्टिगत होती हैं :—

(१) लिंग के आधार पर पुरुष एवं स्त्री में भेदभाव
(२) जातिगत आधार पर भेदभाव एवं आभिजात्य-अधिकारवाद
(३) समाज में परम्परागत उपेक्षित वर्गों की स्थिति
(४) आर्थिक विषमता

समता-समाज के निर्माण हेतु हमें इन बाधाओं को दूर करना आवश्यक है।

(१) पुरुष एवं स्त्री में भेदभाव :

पुरुष एवं स्त्री दोनों समाज के समान प्रकार से घटक हैं। इतना होने पर भी सामाजिक व्यवस्था पर पुरुष वर्ग का आधिपत्य रहा है। इस कारण पुरुष वर्ग में श्रेष्ठता की भावना का प्रादुर्भाव हुआ और उसने स्त्री वर्ग को अपने से हीन मान लिया। मध्ययुग में धार्मिक संतों तक ने स्त्री जाति को नीचा दर्जा दिया।

समता समाज में पुरुष एवं स्त्री दोनों वर्गों को समान अधिकार एवं महत्त्व प्रदान करना होगा।

आज के युग में स्त्री जाति में जो चेतना आयी है उसके कारण वह 'स्त्री मुक्ति आन्दोलन' चला रही है। इस आन्दोलन में समता की भावना कम है, पुरुष के अहंकार एवं उसकी दमन प्रवृत्ति के प्रति 'आक्रोश' अधिक है।

दोनों को एक दूसरे का पूरक बनकर जीवन के संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने होंगे। स्त्री वर्ग ही नमन करे—यह पुरुष का 'अहंकार' है। पुरुष वर्ग के प्रति स्त्री युद्ध की स्थिति पैदा करे—यह स्त्री का 'आक्रोश' है। जीवन के चलाने

में दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इस दृष्टि से जब तक सामाजिक चेतना का निर्माण नहीं होगा तब तक समता-समाज की कल्पना अधूरी ही रहेगी।

(२) जातिगत आधार पर भेदभाव एवं आभिजात्य-अधिकारवाद :

यह मनुष्य के चिन्तन की सबसे बड़ी विडम्बना है कि एक ओर दार्शनिकों ने यह कहा कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक ही परम सत्ता की चेतना से अनुस्यूत है अथवा एक ही ईश्वर की सब सन्तानें हैं किन्तु दूसरी ओर समाज में व्यक्तियों को ऊंची-नीची इकाइयों में बांट दिया गया। समाज को जाति, उपजाति, वर्ण आदि में बांटकर समाज में मनुष्य-मनुष्य के बीच में भेदक दीवारें खड़ी करने वाली व्यवस्था के आधार पर समता-समाज की रचना सम्भव नहीं है। इस प्रकार के समाज के निर्माण के लिये आभिजात्यवर्गवाद की दुष्प्रवृत्तियों को समाप्त करना होगा। समाज के समस्त संघटकों के बीच समानता की चेतना का विकास करना होगा। व्यक्ति की योग्यता के मापदण्ड उसके गुण, प्रतिभा, ज्ञान एवं श्रम आदि होंगे; जाति, कुल, गोत्र, वर्ण, प्रान्त आदि नहीं।

(३) परम्परागत उपेक्षित वर्गों की स्थिति :

समाज के कुछ वर्गों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। ऊंच एवं नीच की भावना के कारण समाज के तथाकथित उच्च कुलीन वर्गों ने इन वर्गों को सम्पूर्ण मानवीय अधिकारों से वंचित कर दासवत जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर दिया था तथा आज भी इन वर्गों की स्थिति पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं है।

विकास के समान अवसर प्राप्त होने पर भी इन उपेक्षित वर्गों के व्यक्ति अपनी आर्थिक एवं सामाजिक स्थितियों के कारण समाज के दूसरे वर्गों के व्यक्तियों की तुलना में आगे नहीं बढ़ पावेंगे। इसलिये इनके उद्धार एवं विकास के हेतु विशेष रचनात्मक कार्यक्रम बनाने होंगे एवं इनके लिए विशेष सुविधायें जुटानी होंगी।

इस सम्बन्ध में एक बात यह महत्त्वपूर्ण है कि इस प्रकार के कार्यक्रम मानवीय करुणा एवं अन्याय-प्रतिकार की भावना पर आधारित होने चाहिये, इनके प्रति उच्च वर्गों की तथाकथित दया भाव के दम्भ पर आधारित नहीं।

(४) आर्थिक विषमता :

आर्थिक विषमता को समाप्त किये बिना समता-समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि आर्थिक दृष्टि से एक व्यक्ति बहुत अधिक सम्पन्न होगा तथा दूसरा उसकी तुलना में बहुत विपन्न होगा तो ऐसे दो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का

विकास समान स्थितियों में किस प्रकार कर सकते हैं ? सम्पन्न व्यक्ति अर्थ-वल के कारण आगे वढ़ता जावेगा तथा विपन्न पिछड़ता जावेगा ।

प्रश्न यह है कि आर्थिक विषमता का अन्त किस प्रकार सम्भव है ?

कार्ल मार्क्स ने इस सम्वन्ध में जिस मार्ग का प्रवर्तन किया है वह साधन सम्पन्न एवं साधनहीन व्यक्तियों के "शाश्वत द्वन्द्व" भाव पर आधारित है। वे साधनहीन व्यक्तियों को संघर्ष करने का आह्वान करते हैं । रक्तिम क्रान्ति द्वारा अन्याय का प्रतिकार कराना चाहते हैं । मार्क्स का रास्ता हिंसा का है। किन्तु जिन देशों में रक्तिम क्रान्तियां हुई हैं वहां साधनहीन व्यक्तियों के माध्यम से समाज का एक वर्ग नेतृत्व सम्भालता है तथा पूंजीपति वर्ग को समाप्त करने का दावा कर स्वयं सत्ता पर अधिकार कर लेता है अथवा साधन सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति हिंसात्मक प्रतिकार जातिगत संघर्ष में परिणत हो जाता है । कार्ल मार्क्स की वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज की स्थापना सम्भव नहीं हो पाती । सत्ता पर अधिकार करने के पश्चात् राजनैतिक प्रभुसत्ता वनाये रखने के लिए दमन चक्र चलता है । आर्थिक विषमतायें तो कम हो जाती हैं किन्तु सत्ता, समता तथा व्यक्तियों को स्वतन्त्रता नहीं मिल पाती ।

विना रक्त क्रान्ति के आर्थिक विषमतायें किस प्रकार समाप्त हो सकती हैं ?

इस दृष्टि से समाज में आर्थिक विषमतायें तीन धरातलों पर दूर हो सकती हैं :—

१. सम्पन्न व्यक्तियों की 'स्व प्रेरणा'
२. पूंजी पर एकाधिकार कर गलत साधनों का उपयोग करने वाले पूंजीपतियों के प्रति समाज के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा सामाजिक चेतना का निर्माण एवं शेष समाज का असहयोग आन्दोलन ।
३. शासन द्वारा व्यवस्था-निर्माण ।

वस्तु के प्रति ममत्व भाव अत्यन्त प्राकृतिक है । इस भाव के कारण व्यक्ति में संग्रह वृत्ति पनपती है । इस कारण वह पूंजी का संग्रह करना आरम्भ करता है । वह भोग की सामग्रियों का संग्रह करना आरम्भ करता है । वह भोग की सामग्रियों का संग्रह ही करके संतुष्ट नहीं हो जाता, पूंजी के साधनों पर अपना एकाधिकार करना चाहता है ।

इच्छायें आकाश के समान अनन्त हैं । उनका कोई अन्त नहीं है । मोह एवं लोभ ये दो ऐसी वृत्तियां हैं जिनके कारण व्यक्ति संग्रह एवं परिग्रह का

अधिकाधिक विस्तार करता जाता है। एकाधिकार की भावना तीव्रतर होती जाती है। उसके प्रयास अधिकाधिक आक्रामक एवं साधन अधिकाधिक अमानवीय होते जाते हैं।

इस दृष्टि से धर्म एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति की असीम कामनाओं को संयमित करने की प्रेरणा देता है। धर्म व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक बनाता है तथा उसमें करुणा, अपनत्व एवं संयम की भावना का विकास करता है। आत्म-तुल्यता की चेतना का विकास होने पर व्यक्ति सही मायने में धार्मिक एवं सामाजिक बन जाता है। सभी में अपनी चेतना है। सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है। अतः किसी को दुःख न पहुँचाने की भावना का विकास ही व्यक्ति को समता-समाज का सदस्य बनने की प्रेरणा देता है। यह अहिंसक दृष्टि है।

हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एवं सामाजिकता का। दूसरों का अनिष्ट करने की नहीं, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करने की भावना ने व्यक्ति को सामाजिक एवं मानवीय बनाया है। 'पर कल्याण' की चेतना व्यक्ति की इच्छाओं को लगाम लगाती है तथा उसमें त्याग करने की प्रवृत्ति एवं अपरिग्रही भावना का विकास करती है।

समाज में इच्छाओं को संयमित करने की भावना का विकास आवश्यक है। बिना इसके मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। संयम पारलौकिक आनन्द के ही लिये नहीं, इस लोक के जीवन को सुखी बनाने के लिए भी आवश्यक है। आधुनिक युग में पाश्चात्य जगत् में इस प्रकार की विचारधारा का विकास हुआ है कि स्वच्छंद यौनाचार एवं निर्बाध इच्छा तृप्ति का जीवन व्यतीत करना चाहिए। इससे व्यक्ति अधिक सुखी एवं तृप्ति का अनुभव करेगा। इस विचारधारा के कारण व्यक्ति की परम स्वतन्त्रता के नाम पर संयमहीन आचरण करने का परिणाम क्या हुआ? जीवन की लक्ष्यहीन समाप्ति से ग्रसित समाज की स्थिति क्या है? जीवन में संत्रास, अविश्वास, अतृप्ति, वितृष्णा एवं कुंठाओं के अलावा क्या मिला? हिप्पी सम्प्रदाय क्या इसी प्रकार की सामाजिक स्थितियों का परिणाम नहीं है? इन्द्रिय भोगों की तृप्ति असंख्य भोग सामग्रियों के निर्बाध सेवन एवं संयमहीन कामाचार से सम्भव नहीं है—यदि यह तथ्य व्यक्ति समझ सके, अनुभूत कर सके तो व्यक्ति निश्चित रूप से उदार एवं संयमी बन सकेगा।

इसके लिए महात्मा गांधी की ट्रस्टीशिप की भावना के अनुरूप आचरण में समाज की आर्थिक विषमताओं के समाधान के बीज निहित हैं।

यदि सारी धार्मिक चेतना के प्रचार-प्रसार के बावजूद पूंजीपति वर्ग लोभ एवं मोह आदि [illegible] प्रवृत्तियों से ग्रसित होने के कारण पूंजीविहीन वर्ग के

प्रति उदार नहीं बनता तो क्या किया जावे ? जीवन की आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके वह समाज में कालाबाजारी को प्रोत्साहन दे तो क्या किया जावे ?

इसके लिए नैतिक चेतना से सम्पन्न व्यक्तियों को आगे आना चाहिए। आगे आने पर उन्हें समाज के बहुत बड़े वर्ग का सहयोग एवं समर्थन प्राप्त होगा। इस वर्ग को साथ लेने के लिए प्रबुद्ध व्यक्ति को नेतृत्व करना होगा। पूंजीपतियों के विरुद्ध सामाजिक चेतना का निर्माण कर उनका सामाजिक बहिष्कार एवं असहयोग कराना चाहिये। इस असहयोग आन्दोलन में आरम्भ में बहुत कष्ट उठाने पड़ सकते हैं। इसके लिए प्रबुद्ध वर्ग को अपने को तैयार करना बहुत जरूरी होगा। इस तैयारी के साथ यदि समाज का एक छोटा-सा प्रबुद्ध वर्ग भी कर्म क्षेत्र में कूद पड़ेगा तो उसको समाज के धरातल पर शोषित वर्ग का समर्थन प्राप्त होगा। गांधीजी के स्वदेशी आन्दोलन जैसी प्रक्रियाओं के द्वारा उस स्थिति में सीमित साधनों के द्वारा अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है तथा पूंजीपति व्यक्ति के प्रति असहयोग करके उसे झुकने के लिए विवश किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त शासन के धरातल पर समाज में निम्नलिखित व्यवस्थायें बिना किसी भेदभाव के स्थापित की जानी चाहिए :

(१) समाज में सभी सदस्यों को बिना किसी भेदभाव के जीवनयापन करने के अधिकार हों।

(२) विकास के अवसरों में समानता हो। इस दृष्टि से समाज के उपेक्षित एवं साधनहीन वर्गों के लिए विशेष सुविधायें हों।

(३) समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार श्रम-कार्य करना अनिवार्य हो जिससे वह सामाजिक विकास में भागीदार बन सके।

(४) जीवन के लिए मूलभूत आवश्यक वस्तुओं का समाज के सभी सदस्यों को न्यूनतम मात्रा में वितरण हो अथवा प्रत्येक व्यक्ति के पास आय के उतने साधन हों जिससे वह जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

(५) आय के प्रतिशत में अधिक विषमतायें न हों।

शासन के द्वारा व्यवस्था एवं उनका क्रियान्वयन, प्रबुद्ध वर्ग द्वारा नैतिक चेतना का निर्माण तथा असामाजिक एवं अनैतिक पूंजीपतियों के प्रति सामाजिक असहयोग तथा पूंजीपति वर्ग की लोक कल्याण भावना के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में भी समता-समाज के निर्माण की परिकल्पना सम्भव है।

इस प्रकार आधुनिक समाज से पुरुष एवं स्त्री वर्ग की समता, आभिजात्य अधिकारावाद की समाप्ति, समाज के उपेक्षित एवं विपन्न वर्गों के लिए विशेष रचनात्मक उद्धारपरक कार्यक्रम एवं आर्थिक क्षेत्र में पूंजी के साधनों का विकेन्द्रीकरण, श्रम की प्रतिष्ठा एवं आर्थिक विषमता के अन्त द्वारा समता-समाज का निर्माण किया जा सकता है।

इस निर्माण का आधार क्या हो ? इसका मूल आधार लोकधर्म ही हो सकता है और लोक धर्म की चेतना से ही व्यक्ति, समूह एवं शासन के धरातलों पर परिवर्तन एवं कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जा सकता है। जीवन के लिए धार्य-तत्त्व ही धर्म है। हिंसा, क्रूरता, कठोरता, अपवित्रता, असत्य, असंयम, व्यभिचार, एवं परिग्रह से समाज रचना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से धर्म 'आत्म दर्शन' एवं 'आत्म शुद्धिकरण' के साथ-साथ 'समाज निर्माण' एवं सामाजिक विकास का भी मार्ग है। 'धर्म' अध्यात्म पथ का पाथेय, अन्तर्यात्रा की दिशा, आत्ममार्ग की ज्योति, आत्मविशुद्धि का साधन, आत्मलोक की महायात्रा का महायान तो है ही; शान्ति, सद्भाव, विश्वास, प्रेम के आधार पर विकसित सामाजिक जीवन के निर्माण का मूल मन्त्र भी है।

यूरोप की महायुद्धों से संत्रस्त भूमि पर पाश्चात्य दार्शनिकों ने जीवन के उद्वेग, अव्यवस्था एवं संघर्ष को मिटाने के स्थान पर "संघर्ष" को ही जीवन का मूल्य मान लिया है। साम्यवादी विचारधारा समाज पर इतना बल दे देती है कि मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता के बारे में अत्यन्त कठोर हो जाती है। इसके अतिरिक्त वर्ग-संघर्ष एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के कारण भौतिकवादी व्यवस्था के मूल में 'गतिशील पदार्थों' में विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व मानने के कारण सतत संघर्षत्व की भूमिका प्रदान करती है। इसके विपरीत व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य पर बल देने वाली विचारधारायें समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र मानती हैं तथा व्यक्तित्व विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता के नाम पर व्यक्ति को समाज से जोड़ती नहीं अपितु समाज में वैषम्य की स्थितियों को जन्म देकर संघर्ष के बीजों का वपन करती हैं जिससे सामाजिक विघटन आरम्भ हो जाता है।

'धर्म' व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक बनाता है। आत्म-तुल्यता एवं समता की भावना से व्यक्ति के राग द्वेष की सीमायें टूटनी आरम्भ होती हैं। सब कुछ अपने ही पास रखने की नहीं अपितु अपने पास से दूसरों को देने की; दूसरों का दुःख अपना दुःख मानने की भावना का विकास होता है। 'धर्म' द्वारा अहिंसा, संयम, त्याग, अपरिग्रह आदि वृत्तियों के विकास के द्वारा समाज के सभी सदस्यों में परस्पर सद्भाव एवं प्रेम उत्पन्न हो सकता है। शासन भी लोक-कल्याण

प्रति उदार नहीं बनता तो क्या किया जावे ? जीवन की आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके वह समाज में कालाबाजारी को प्रोत्साहन दे तो क्या किया जावे ?

इसके लिए नैतिक चेतना से सम्पन्न व्यक्तियों को आगे आना चाहिए। आगे आने पर उन्हें समाज के बहुत बड़े वर्ग का सहयोग एवं समर्थन प्राप्त होगा। इस वर्ग को साथ लेने के लिए प्रबुद्ध व्यक्ति को नेतृत्व करना होगा। पूंजीपतियों के विरुद्ध सामाजिक चेतना का निर्माण कर उनका सामाजिक बहिष्कार एवं असहयोग कराना चाहिये। इस असहयोग आन्दोलन में आरम्भ में बहुत कष्ट उठाने पड़ सकते हैं। इसके लिए प्रबुद्ध वर्ग को अपने को तैयार करना बहुत जरूरी होगा। इस तैयारी के साथ यदि समाज का एक छोटा-सा प्रबुद्ध वर्ग भी कर्म क्षेत्र में कूद पड़ेगा तो उसको समाज के धरातल पर शोषित वर्ग का समर्थन प्राप्त होगा। गांधीजी के स्वदेशी आन्दोलन जैसी प्रक्रियाओं के द्वारा उस स्थिति में सीमित साधनों के द्वारा अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है तथा पूंजीपति व्यक्ति के प्रति असहयोग करके उसे झुकने के लिए विवश किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त शासन के धरातल पर समाज में निम्नलिखित व्यवस्थायें बिना किसी भेदभाव के स्थापित की जानी चाहिए :

(१) समाज में सभी सदस्यों को बिना किसी भेदभाव के जीवनयापन करने के अधिकार हों।

(२) विकास के अवसरों में समानता हो। इस दृष्टि से समाज के उपेक्षित एवं साधनहीन वर्गों के लिए विशेष सुविधायें हों।

(३) समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार श्रम-कार्य करना अनिवार्य हो जिससे वह सामाजिक विकास में भागीदार बन सके।

(४) जीवन के लिए मूलभूत आवश्यक वस्तुओं का समाज के सभी सदस्यों को न्यूनतम मात्रा में वितरण हो अथवा प्रत्येक व्यक्ति के पास आय के उतने साधन हों जिससे वह जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

(५) आय के प्रतिशत में अधिक विषमतायें न हों।

शासन के द्वारा व्यवस्था एवं उनका क्रियान्वयन, प्रबुद्ध वर्ग द्वारा नैतिक चेतना का निर्माण तथा असामाजिक एवं अनैतिक पूंजीपतियों के प्रति सामाजिक असहयोग तथा पूंजीपति वर्ग की लोक कल्याण भावना के द्वारा आर्थिक क्षेत्र में भी समता-समाज के निर्माण की परिकल्पना सम्भव है।

इस प्रकार आधुनिक समाज से पुरुष एवं स्त्री वर्ग की समता, आभिजात्य अधिकारावाद की समाप्ति, समाज के उपेक्षित एवं विपन्न वर्गों के लिए विशेष रचनात्मक उद्धारपरक कार्यक्रम एवं आर्थिक क्षेत्र में पूंजी के साधनों का विकेन्द्रीकरण, श्रम की प्रतिष्ठा एवं आर्थिक विषमता के अन्त द्वारा समता-समाज का निर्माण किया जा सकता है।

इस निर्माण का आधार क्या हो? इसका मूल आधार लोकधर्म ही हो सकता है और लोक धर्म की चेतना से ही व्यक्ति, समूह एवं शासन के धरातलों पर परिवर्तन एवं कार्यक्रमों का क्रियान्वयन किया जा सकता है। जीवन के लिए धार्य-तत्त्व ही धर्म है। हिंसा, क्रूरता, कठोरता, अपवित्रता, असत्य, असंयम, व्यभिचार, एवं परिग्रह से समाज रचना सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से धर्म 'आत्म दर्शन' एवं 'आत्म शुद्धिकरण' के साथ-साथ 'समाज निर्माण' एवं सामाजिक विकास का भी मार्ग है। 'धर्म' अध्यात्म पथ का पाथेय, अन्तर्यात्रा की दिशा, आत्ममार्ग की ज्योति, आत्मविशुद्धि का साधन, आत्मलोक की महायात्रा का महायान तो है ही; शान्ति, सद्भाव, विश्वास, प्रेम के आधार पर विकसित सामाजिक जीवन के निर्माण का मूल मन्त्र भी है।

यूरोप की महायुद्धों से संत्रस्त भूमि पर पाश्चात्य दार्शनिकों ने जीवन के उद्वेग, अव्यवस्था एवं संघर्ष को मिटाने के स्थान पर "संघर्ष" को ही जीवन का मूल्य मान लिया है। साम्यवादी विचारधारा समाज पर इतना बल दे देती है कि मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता के बारे में अत्यन्त कठोर हो जाती है। इसके अतिरिक्त वर्ग-संघर्ष एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन के कारण भौतिकवादी व्यवस्था के मूल में 'गतिशील पदार्थों' में विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व मानने के कारण सतत संघर्षत्व की भूमिका प्रदान करती है। इसके विपरीत व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य पर बल देने वाली विचारधारायें समाज को व्यक्तियों का समूह मात्र मानती हैं तथा व्यक्तित्व विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता के नाम पर व्यक्ति को समाज से जोड़ती नहीं अपितु समाज में वैषम्य की स्थितियों को जन्म देकर संघर्ष के बीजों का वपन करती हैं जिससे सामाजिक विघटन आरम्भ हो जाता है।

'धर्म' व्यक्ति की दृष्टि को व्यापक बनाता है। आत्म-तुल्यता एवं समता की भावना से व्यक्ति के राग द्वेष की सीमायें टूटनी आरम्भ होती हैं। सब कुछ अपने ही पास रखने की नहीं अपितु अपने पास से दूसरों को देने की; दूसरों का दुःख अपना दुःख मानने की भावना का विकास होता है। 'धर्म' द्वारा अहिंसा, संयम, त्याग, अपरिग्रह आदि वृत्तियों के विकास के द्वारा समाज के सभी सदस्यों के मध्य परस्पर सद्भाव एवं प्रेम उत्पन्न हो सकता है। शासन भी लोक-कल्याण

की भावना से प्रेरित होकर व्यवस्था का क्रियान्वयन करेगा। जो व्यक्ति नियमों का पालन नहीं करेंगे उनको नियमों के हिसाब से दण्ड दिया जावेगा, राज्याधिकारी के रागद्वेष से प्रेरित कोई व्यक्ति दंडित नहीं होगा। दण्ड देने के मूल में व्यक्ति के सुधार की भावना होगी, उसको नष्ट कर देने की वृत्ति नहीं होगी। दमनचक्र पर आधारित समाज में स्थायी शान्ति सम्भव नहीं है; सह अस्तित्व एवं आत्मतुल्यता की भावना पर आधारित 'सर्वोदय' के द्वारा सारा समाज सुखी एवं परस्पर सद्भाव के साथ समतामय वन सकता है—'सव्वे जीवा-मित्ती में भूएसू'।

२८

समता-समाज का स्वरूप

□ श्री ओंकार पारीक

युग-पूज्य आचार्यश्री जवाहरलालजी महाराज स्वप्नजीवी महात्मा नहीं थे। उन्होंने जीवन और जगत् में समतावादी समाज की स्थापना हेतु आज से शताब्दि-पूर्व भारतीय जनता के सम्मुख अंतःकरण की समूची आस्था और निष्ठा से, आपसी भेदभावों में बंटे हुए त्रस्त प्राणियों के उद्धार हेतु मानवीय एकता और बन्धुता पर आधारित समत्व योग का क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया था।

आज का समाज उद्विग्न है। साम्यवाद की चर्चा राज और समाज में है। भारत में अभी-अभी जो लोकसत्तायी परिवर्तन आया है, उस जनताराज का मूल दर्शन और ध्येय एक समतावादी समाज की स्थापना का है। यह बात साफ है कि समाज में अमीर और गरीब के बीच की खाई बेहद चौड़ी हो गई है। इस खाई को पाटना बहुत जरूरी है।

युग-प्रधान आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज के विचार, भारत की जनता को समताधारित समाज-संरचना हेतु प्रेरित करने के लिए बहुत कारगर सिद्ध होंगे। आचार्य श्री ने महावीर भवन, देहली में दि० २-१०-३१ के एक प्रवचन में कहा है—

"जगत् में शांति स्थापित करने के लिए साम्य की आवश्यकता तो है, मगर बन्धुता के बिना शांति स्थापना का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। साम्य की स्थापना करते समय यदि बन्धुता की प्रतिष्ठा नहीं की गई तो मार... और अशांति हुए बिना नहीं रहेगी।"

समाज में समता जरूरी है :

समता को भी पूरी तरह समझ लेना जरूरी है। हमारे देश में समता की स्थापना शांति-पूर्ण, अहिंसक और सत्याधारित होगी। असहमतियों का भी स्थान है। शक्ति अज्ञान की, नकारणीय नहीं है। अस्तित्व अंधेरे का भी है। हिंसा भी है और एक प्रबल विध्वंसक शक्ति के साथ विश्व में सदा उपस्थित रही है और रहेगी। विपर्यय जीवन से कटेगा नहीं। रास्ता इन विरोधों, विपर्ययों और विमतियों के बीच हमें बनाना है। सत्य निर्विवाद है। श्रद्धा निर्विवाद है। अहिंसा निर्विवाद है। सच्चा श्रावक श्रद्धावान होगा। श्रद्धान ही मनुष्य है। भाषा समिति मुनियों के लिए ही नहीं, हमारे लिए भी जरूरी है—साधारण जीवों के लिए। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र हमारे लिए मुक्ति-त्रिवेणीवत् हैं। यदि संत हम नहीं हो सकते। तो गृहस्थ में रहकर हम सदासद् का अन्तर सामने रखते हुए चलें, यह क्या कम है ?

समता-समाज के स्वरूप का विकास संघर्ष में नहीं समन्वय में है, उद्विग्नता में नहीं सहिष्णुता में है, दम्भ में नहीं दया में है; क्षमा में है, क्षोभ में नहीं; करुणा में है, क्रोध में नहीं। हम दृष्टा हैं, सृष्टा हैं, दाता हैं, ग्रहीता हैं, पाठक हैं, वक्ता हैं और अंततः श्रावक ! श्रावक का 'श्रा' श्रद्धाभिनिवेशी है। जिनों याने विजेताओं (आत्मजयी) का धर्म है जैन-धर्म ! जैन-धर्म की विश्व को यदि कोई महान् देन है तो श्रावक व्यक्तित्व के सकार की। "श्रावक वह है जो ध्यान की स्थिति में बैठकर सुन सके। उस स्थिति में जहाँ उसके मन में कोई विचार नहीं है, शब्द नहीं है, कुछ भी नहीं है, मौन में बैठकर जो सुन सके वह श्रावक है !" श्री रजनीश की यह व्याख्या मुझे क्रान्तधर्मी लगती है। निरन्तर प्रायश्चित, निरन्तर तप, निरन्तर स्वाध्याय और अध्यवसाय—जैन-धर्मावलम्बियों का यही लोक तप है। यही लोक तप समाज को संतुलित, समन्वित और समुचित स्वरूप प्रदान करेगा।

समता-समाज: समग्र क्रान्ति का मूलाधार !

विस्तृत अर्थ में, हम समाज और राष्ट्र को एकाकार अंगीकृत कर उसके समताविधायी स्वरूप पर चर्चा कर रहे हैं। समता का सिद्धान्त हमारे संविधान ने स्वीकारा है, हमारी विदेश नीति में हमने पंचशील और सह अस्तित्व की बात विश्व भर में प्रतिष्ठित की है। हम गुट निरपेक्ष हैं, हम धर्म निरपेक्ष हैं, नास्तिक नहीं। समतावादी नागरिक धर्म को जीवनाचरण की शुद्धता के लिए अपरिहार्य मानेगा, कोई शक्ति उसे अधर्मी नहीं बना सकती। सर्वधर्म समन्वय, सभी समाज बन्धुओं का सत्कार, सभी प्रकार के वर्ग, वर्ण, भाषा, भूषा और आचारगत वैयक्तिक स्वतंत्रताओं के प्रति अघृणा भाव—एक विवेकी नागरिक के लिए जरूरी कर्त्तव्य है। समता-समाज के इसी पहलू पर हमें ईमानदार सिद्ध

होना है। विरोध को विद्रोह न समझें हम कभी। समाज को सुखी रहना है तो वह इस बात का आदर करेगा। आपका अनुरोध प्रबल और निश्चल रहेगा तो आपमें से बुद्ध, महावीर, गाँधी की शक्ति का चमत्कार प्रकट होकर रहेगा। समता का व्यवहार व्यक्ति-से-व्यक्ति तक का होकर समग्र-क्रान्ति का मूलाधार बनेगा। विषमता पर इतना अधिक मार्क्स ने लिखा है और हमारे राजनेतागणों ने गत ३० वर्षों में भाषणाचार किया है कि विषमता के अर्थ ही धुंधला गये हैं। रूस की विषमता और भारत की वि-समता में मूल अंतर है। अंतर कि जितना सत्याग्रह और हत्याग्रह में है। हम सदियों प्रतीक्षा करते रहे हैं और करेंगे पर हमला करके समता कायम नहीं करेंगे समाज में। समाज में आज वैदेशिक प्रचार तंत्र का हमला जहाँ जारी है, वहाँ यह क्या कम महत्त्व की बात है कि इस देश के कलाकार और कलमकार समता-समाज के स्वरूप की ओर अपने पूर्वज आचार्यों की ज्ञानगंगा के अवतरण हेतु भगीरथ चिन्तन-मनन में लगे हैं।

समता नहीं हारेगी :

'राम का नाम चोर भी जपता है और राजा भी। राजा चोर पकड़ने के लिए और चोर बचने के लिए' पूज्य जवाहराचार्यजी महाराज की इस वाणी को समझें। भाषा समिति इसे कहते हैं। 'राम' सबका है। राम-सत्य है। राम पाप-पुण्य से परे है। राम निर्विकार है। वह राज का है—समाज का है। राज में राम रहे तो गाँधी राम राज्य की बात करता है। समाज में राम रहे तो—विनोबा उसे 'समाज नारायण' कहकर पुकारता है। यह सारा खेल क्या है? राम न कोई रावणहंता पुरुष है न कोई देवता। आज राम का अर्थ है सापेक्ष सत्य का समत्व-योग। आइंस्टीन महोदय ने इलेक्ट्रोन में कण और तरंग दोनों को गतिशील माना पर 'क्वांट्म थ्योरी' की गहराई में जाने से पूर्व नेति-नेति पुकार उठा। सत्य जो था प्रयोग पर आया कि घोषित हुआ। प्रयोगच्युत सत्य फिर कभी सापेक्ष मान्यता का प्रत्यान्तर वरेगा। यह चलता आया है। यह समाज सापेक्षतावादी है।

विश्वास रखिए....!

समता रहेगी क्योंकि आदमी जिन्दा रहना चाहता है। समता-समाज का स्वरूप सीधा-सीधा यह है कि पारस्परिक विश्वास की बेल सूखने न पाए। मालिक-मजदूर, शासक-शासित, गुरु-शिष्य, विद्वान्-मूर्ख, धनी-निर्धन सबके बीच का विश्वास संरक्षणीय है। फोड़े पर नश्तर जरूरी है। आततायी का सामना वीरत्व करेगा। मालिक, मजदूर, शासक, शासित, सबके बीच 'ट्रस्टीशिप' कायम हो। गाँधी की बात में सार है। जे० पी० और आचार्य जवाहराचार्य यही चाहते हैं। क्या, आप नहीं चाहते? विश्वास रखिए, विश्वास के साथ समता कायम होगी, नहीं तो पतन........। ◆ ◆ ◆

३९

समता बिना कैसा समाज ?

☐ डॉ० के० एल० कमल

[१]

समता बिना सभ्य समाज की कल्पना भी दूभर है। सुप्रसिद्ध विचारक जीन जेम्वस रूसो कहता है कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है लेकिन तत्पश्चात् जंजीरों में आबद्ध हो जाता है। कहा जाता है कि जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है। प्रकृति ने सबको समान बनाया है, लेकिन आज मनुष्य की क्या स्थिति हो गई है। समाज में कितनी विषमता, कितना शोषण, उत्पीड़न, भेदभाव व्याप्त है। एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच में कितनी दूरी आ गई है, मनुष्य का स्वरूप कितना विकृत हो गया है। आज अमीर–गरीब, अधिकारी–नौकर, शासक–शासित, देशी–परदेशी, काले–गोरे, शिक्षित–अशिक्षित, शोषक–शोषित के रूप में सम्बन्ध बन गये हैं और इसी रूप में इनकी बात होती है और समस्यायें खड़ी की जाती हैं तथा उनका समाधान ढूँढने का प्रयास किया जाता है। आज का सबसे बड़ा संकट यह है कि आज एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से बात नहीं करता, अपना दुःख–दर्द एक दूसरे को नहीं सुनाता। आज एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य से जोड़ने वाली कोई कड़ी नहीं है। मानव समाज की संरचना का कोई मानवीय आधार नहीं है। फिर ऐसे समाज में कैसा न्याय हो सकता है ? समता बिना कैसा समाज ? बिना समता कैसा न्याय और न्याय बिना कैसा समाज ? इन्हीं कतिपय मूल प्रश्नों पर विश्व के चार महान् विचारक प्लेटो, अरस्तू, कार्ल मार्क्स एवं महात्मा गांधी का संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत करने का एक प्रयास है।

[२]

यूनान के प्रथम राजनीतिक दार्शनिक प्लेटो को इस बात से बड़ी वेदना हुई कि उसके गुरु सुकरात को जहर का प्याला पीकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करनी पड़ी। क्या दोष था सुकरात का? उसका यही दोष था कि वह सच बोलता था और शरीर को जीवित रखने के लिए आत्मा की आवाज दबाता नहीं था। प्लेटो को पता लगा कि समकालीन राज में न्याय नहीं है और इसीलिए विश्व के सबसे बुद्धिमान व्यक्ति सुकरात को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। उसने एक ऐसे आदर्श राज्य की स्थापना का संकल्प लिया जिसमें न्याय हो सके। उसने पत्नियों और सम्पत्ति के साम्यवाद की जो बात कही उसका आधार ही समता है। कंचन और कामिनी के मोह से मुक्त कर, प्लेटो, दार्शनिक शासक को समाज के कल्याण में प्रवृत्त होने को कहता है। उसका कहना है कि शासकों को सोने, चाँदी के बर्तनों में भोजन नहीं करना चाहिये क्योंकि दिव्य प्रकार का स्वर्ण और रजत तो उनको ईश्वर से नित्य ही अपनी आत्मा के भीतर प्राप्त है, अतः उनको मर्त्यलोक की निम्न कोटि की धातु की कोई आवश्यकता नहीं है तथा उनको पवित्रता की अपनी दैवी सम्पदा के साथ मर्त्यलोक की धातु का मिश्रण कर उसको अवैध बनाना सहन नहीं होना चाहिये। प्लेटो ने शासकों के लिए सोने-चाँदी को हाथ में लेना अथवा स्पर्श करना या उनके साथ एकत्र एक छत के नीचे रहना या आभूषणों के रूप में उनको अपने अंगों में धारण करना अथवा सोने-चाँदी के पात्रों का पीने के लिए उपयोग करना अवैध होगा।

प्रथम राजनीतिशास्त्री अरस्तू ने राज्यों में होने वाली क्रांतियों का मूल कारण विषमता बताया। क्रांति का मूल उद्देश्य समानता स्थापित करना होता है। अरस्तू क्रांति का कारण उस मनोदशा को मानता है जो कि असमानता से उत्पन्न होती है। वह कहता है कि कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जिनके हृदय समानता की भावना से ओतप्रोत होते हैं। वे यह मानते हुए विद्रोह खड़ा किया करते हैं कि यद्यपि वे उन लोगों के समान हैं जो उनसे कहीं अधिक धन सम्पत्ति पाये हुए हैं तथापि उनको स्वयं अन्य लोगों से कम सुविधायें प्राप्त हैं। दूसरे कुछ विद्रोह करने वाले वे लोग होते हैं जिनका हृदय असमानता (अर्थात् अपनी उन्नता) की भावना से भरा होता है। क्योंकि वे यह समझते हैं कि यद्यपि वे अन्य मनुष्यों से बढ़कर हैं तथापि उनको अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं मिलता प्रत्युत् या तो दूसरों के बराबर या उससे भी कम मिलता है।....इस प्रकार छोटे व्यक्ति बराबर होने के लिये विद्रोही बना करते हैं और बराबर स्थिति वाले बड़े बनने के लिए। यही वह मनोदशा है जिसमें क्रांतियों की उत्पत्ति होती है।

सुप्रसिद्ध भौतिकवादी विचारक कार्लमार्क्स के समूचे चिन्तन का आधार ही विषमता के स्थान पर समानता की स्थापना करना है। मार्क्स अपने अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विषमता और शोषण पूँजीवादी व्यवस्था की देन हैं, जिसके रहते हुए श्रमिक को कभी न्याय नहीं मिल सकता। उसने पूँजीवाद को एक संस्था के रूप में प्रस्तुत किया, एक ऐसी संस्था के रूप में जो मजदूरी के आधार पर जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों की संख्या में निरंतर वृद्धि करती जाती है और इन व्यक्तियों का अपने सेवानियोजकों से केवल मजदूरी पाने का सम्बन्ध होता है। उनके पास केवल एक ही सामग्री है जिसे वे प्रतियोगिता पूर्ण बाजार में बेच सकते हैं और वह सामग्री है काम करने की शक्ति। इस सामग्री को खरीदने वालों का एक मात्र दायित्व यह है कि वह चालू कीमत अदा करे। इस प्रकार उद्योग-धंधों में मालिक और मजदूर के बीच जो सम्बन्ध होता है उसमें न तो कोई मानवी अंश रहता है और न नैतिक दायित्व। यह सम्बन्ध विशुद्ध रूप से शक्ति का सम्बन्ध बन जाता है। मार्क्स को यह स्थिति आधुनिक इतिहास का सबसे क्रांतिकारी तत्त्व प्रतीत हुई। इसमें एक ओर तो ऐसा वर्ग है जिसका उत्पादन के साधनों पर पूरा स्वामित्व है और जो मुनाफा कमाने में जुटा हुआ है तथा दूसरी ओर एक शोषित वर्ग है जिसकी क्षमता निरन्तर घटती जाती है और वह काल-चक्र में पिसता जाता है। मार्क्स के चिन्तन का मूलाधार यही वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। उसने उदयोन्मुख सर्वहारा वर्ग के लिए एक ऐसे सामाजिक दर्शन की व्यवस्था की जो एक शोषण-विहीन समाज की स्थापना की अगुवाई करे। मार्क्स समता का इतना प्रबल पक्षपाती है कि उसने शोषण के औजार राज्य को ही समूल नष्ट करने की बात कही।

व्यावहारिक आदर्शवादी महात्मा गाँधी का सारा चिन्तन समता पर ही आधारित है। आज के इस आर्थिक विषमता के युग में गाँधीजी का अपरिग्रह का सिद्धान्त बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। संक्षेप में, साधारण दैनिक आवश्यकताओं से अधिक भौतिक पदार्थों का संग्रह न करना ही अपरिग्रह अथवा असंग्रह है। फिर उस साधारण संग्रह पर भी अपना स्वामित्व न मानकर समाज अथवा ईश्वर का स्वामित्व मानना भी इसके अन्तर्गत शामिल है। गाँधी सभी प्रकार के संग्रह के विरुद्ध हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति में उनकी कोई आस्था नहीं है। जल, वायु, अग्नि की भाँति सम्पत्ति भी किसी की नहीं अथवा समान रूप से सबकी है। द्रव्य संचय एक आसुरी विचार है एवं इसके संग्रह में हिंसा का निवास है। उनके अनुसार किसी व्यक्ति की आर्थिक सम्पन्नता उसके आध्यात्मिक दिवालियापन की द्योतक है। आध्यात्मिकता के क्षेत्र में धन का न्यूनतम महत्त्व है। शैतान (धन) और देवता दोनों की एक साथ पूजा नहीं की जा सकती। गाँधीजी समान-वितरण में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार भंगियों, डॉक्टरों,

४०

समता के सामाजिक आयाम

☐ मुनि श्री रूपचन्द्र

'पूनिया श्रावक की एक क्षण की सामायिक तुम्हें प्राप्त हो जाय तो नरक के कर्मबंध शिथिल कर उनके दारुण भोग से बच सकते हो।'

यह अंतिम उपाय था। प्रथम दो उपाय थे रानी चेलना की दासी के हाथों दान दिलवाना, कालशूकरिक कसाई को पांच सौ भैंसों की प्रतिदिन हिंसा के नियत क्रम से एक दिन के लिए विरत करना। दोनों ही नहीं हो पाये। दान किसी वस्तु के देने में नहीं, देने के पीछे खड़ी करुणा और उदारता की भावना में है जो रानी चेलना की दासी में नहीं थी, अतः उससे कराया गया बलात् दान फलप्रद नहीं था। हिंसा मारने की भावना में है और वह भावना, अंधकूप में उसे बंद करके भी, श्रेणिक उससे छुटा नहीं सका। संकल्प के स्तर पर पांच सौ भैंसों की हिंसा उसने पूरी करली। हर बार गौरवान्वित होकर सम्राट विम्बिसार भगवान महावीर के समवसरण में आया. लेकिन प्रच्छन्न सत्य को जान कर निरुपाय हो गया।

भगवान के शब्द उसके कानों तक पहुँच कर कुछ और ही अर्थवत्ता से भर गये जो उसके अपने अर्थसत्ता और राजसत्ता से संरचित मानस की उपज थी। वह राजसत्ता के प्रयोग से पूनिया की सामायिक ले सकता था। वह धन देकर उसे खरीद सकता था। पूनिया श्रावक तो सामायिक को जीता था। उसके लिए कहीं भय और प्रलोभन की सत्ता ही नहीं थी। न अपनेपन की संकीर्ण अहंता ही। वह सरल था। स्पष्ट था। कोई बलात् ले तो लेने वाला जाने। ले सकता हो तो लेले। धन देना चाहे, कीमत ही चुकाना चाहे तो जो

हो, दे दे। चुका दे। कितनी कीमत हो सकती है, उसे क्या पता ? अर्थ व सत्ता के साथ सामायिक का विनिमय कैसे हो सकता है, उसे कुछ मालूम नहीं। बात तो अंततः महावीर के पास जानी थी और वहां जाने पर श्रेणिक के लिए अंतिम रास्ता भी बंद हो गया। उस सामायिक के एक क्षण की कीमत श्रेणिक का अपना राज्य तो क्या, संसार का सारा राज्य तथा धन-वैभव भी नहीं था। सामायिक तो अमूल्य है। उसका मूल्य क्या हो सकता है ? किसी भी प्रकार नहीं। महावीर तो अंतःक्रांति की बात कह रहे थे। अगर वह सामायिक श्रेणिक के चित्त में क्षण भर के लिए भी उतर जाती तो नारकीय कर्मों का जाल तत्क्षण जल कर भस्म हो जाता। लेकिन वह उसके लिए न समझना संभव था, न हो पाना ही।

आज हजारों वर्ष बीत जाने के बाद भी यह बात ज्यों की त्यों खड़ी है। पूर्ण समता का एक क्षण युगों की विषमता के अम्बार को दग्ध कर सकता है। परमाणु शक्ति से भी अनंत गुणा तीव्र चेतना की शक्ति का स्फोट है। समाज और जीवन की सारी बुराइयों, बंधनों, व्यथाओं और नारकीय वेदनाओं का मूल विषमता ही है और उनसे मुक्ति का स्रोत समता है। भगवान महावीर इस युगान्तरकारी सत्य के महानतम प्रचेता थे। भगवान ने समता को धर्म का पर्याय माना। उनका समता का सिद्धान्त जीवन के सारे क्षेत्रों में व्यापक है। व्यक्तिगत जीवन में जहां उन्होंने हीनता और उच्चता की ग्रंथियों के विमोचन पर बल दिया वहां सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी उन्होंने विषमता को स्पष्टतः अस्वीकार किया। उसके विकल्प में समता की जीवन-व्यवस्था के रूप में प्ररूपणा की। उसके व्यावहारिक सूत्र दिये जो आज भी उतने ही जीवन्त हैं जितने महावीर के युग में थे।

जाति :

सामाजिक विषमता का एक बड़ा कारण जातिवाद है। हजारों वर्षों से इसने लोकजीवन को शोषित और पीड़ित किया है। आज भी इसके अवशेष कायम हैं। कभी-कभी अखबारों में हरिजनों पर अत्याचारों की घटनाएं पढ़ने को मिल ही जाती हैं जो यह सूचित करती हैं कि संविधान के धरातल पर समता का अधिकार उन्हें मिलने पर भी सामाजिक जीवन में वे अभी तक उसी प्रकार विषमता, शोषण एवं अन्याय से पीड़ित रहे हैं। उच्चवर्गीय समाज धनसत्ता और राजसत्ता का दुरुपयोग कर उनके विद्रोह को सर्वत्र कुचल देता है तथा उन्हें मानवीय अधिकारों से बलात् वंचित रखे हुए है।

महावीर ने तो मानव जाति को एक ही माना है। उनका स्पष्ट मंतव्य है—'एक्का मणुस्स जाई'—सारी मानव जाति एक है। समाज के शेष सारे

विभाजन कर्मों के अनुसार हैं। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब कुछ होता है। यह जीव अनंत काल से कभी उच्च और कभी निम्न कुलों में जन्मता रहा है लेकिन उससे यह न हीन है, न उच्च है। यह तो अपनी सहज स्थिति में रहता है। यह बात महावीर ने मात्र दार्शनिक स्तर पर नहीं कही है। उनके जीवन काल में अनेक तथाकथित अकुलीन जनों ने साधना का पथ अंगीकार कर श्रेष्ठतम ऋद्धियों को उपलब्ध किया जिनकी भगवान ने स्वयं प्रशंसा की जैसे श्वपाक कुल ,में उत्पन्न मुनि हरिकेशबल, मेतार्य, चित्त-संभूति आदि। उच्चवर्ग को उन्होंने श्रेष्ठता ग्रंथि से तथा निम्न वर्ग को हीनता ग्रंथि से मुक्त होने की प्रेरणा दी जो उनके जीवन-वृत्तांतों तथा वचनों में सर्वत्र परिलक्षित है।

धन :

विषमता का दूसरा स्रोत धन है। महावीर ने धर्म के क्षेत्र में धन की अग्रणी सत्ता स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा—'धणेण किं धम्म धुराहिगारे'–धन को धर्म का धुराधिकार कैसे ? प्रमत्त व्यक्ति के लिए धन कभी त्राण नहीं बन सकता, न इस लोक में, न परलोक में—'वित्तेण ताणे न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था'। महावीर के एक गणधर सुधर्मा के जीवन काल में उस लकड़हारे का प्रसंग आता है जिसके दीक्षित होने का अवसर आने पर सम्पन्न वर्ग के लोगों ने उसकी निर्धनता का उपहास करते हुए कहा था—वह तो पहले से ही कंगाल है, उसने त्याग क्या किया है ? उसके पास त्याग करने को है ही क्या ? उसके उत्तर में अभयकुमार ने विपुल धनराशि का अम्बार लगा कर कहा—इसे वही ले सकता है जो मुनिचर्या का पालन करने को तैयार हो। कोई तैयार नहीं हुआ। त्याग की महिमा प्रतिष्ठित करते हुए इस घटना ने धन को धर्म एवं समाज के क्षेत्र में अतिरिक्त महत्ता देने वालों की आंखें खोलने का काम किया।

आज भी समाज में धन प्रतिष्ठा का आधार बना हुआ है। इसी कारण आर्थिक क्षेत्र में अनैतिकताएं बढ़ती जा रही हैं। इनका उपचार यही है कि हम धन को नहीं, चरित्र को सामाजिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा का आधार-विन्दु मानें।

शोषण :

धन को सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार मानने के कारण ही येनकेन-प्रकारेण उसके उपार्जन का प्रयास किया जाता है जो आर्थिक क्षेत्र में सम्पन्न वर्ग द्वारा विपन्नों के शोषण का कारण बनता है। महावीर ने इसीलिए सन्निधि-धन या जीवन-साधनों के आवश्यकता से अधिक संचयन को शस्त्र-हिंसा माना है। गृहस्थ के लिए उपभोग-परिमाण व्रत तथा इच्छा-परिमाण-व्रत का विधान किया

है ताकि जीवन में वैभव-विलास तथा आडम्बर के स्थान पर सादगी और मितव्ययता आए। इसी प्रकार अनेक प्रकार के ऐसे व्यवसायों का वर्जन किया है जिनमें मानव तो क्या, पशु-पक्षियों तक का शोषण होता हो। उदाहरणार्थ अतिभारवाहन, भक्त-पान-विच्छेद, वृत्तिच्छेद आदि अतिचार। देश-परिमाण व्रत तथा दिशा-परिमाण व्रत द्वारा दूरस्थ प्रदेशों में जाकर वहां की अर्थ व्यवस्था को अपने हित के लिए विच्छिन्न करने का वर्जन किया है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह बात गांधीजी के आर्थिक चिंतन के साथ मिला कर देखने पर बहुत महत्त्व-पूर्ण लगती है। इसी प्रकार महान् आरम्भ-समारम्भ का वर्जन कर उन्होंने जीवन की नींव शोषणरहित, सादगीपूर्ण एवं सर्वहितकारी समाज-व्यवस्था पर रखी है। सर्वोदय शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्र ने किया है। उन्होंने महावीर के तीर्थ को सर्वोदय की अभिधा दी है।

राज्य :

राज्य के स्तर पर वही व्यवस्था समतापरक हो सकती है जो सबकी अनुमति तथा इच्छा पर आधारित हो। तानाशाही या कुलीनशाही वह तन्त्र नहीं बन सकती। उसमें राजसत्ता एक या कुछ लोगों के हाथों में रहती है। उसे जनसमुदाय अपनी इच्छा से बदल नहीं सकता। प्रजातंत्र ही वह राज्य-व्यवस्था है जिसमें राजनीतिक स्तर पर समता को सर्वाधिक अवकाश है। महावीर स्वयं गणराज्य व्यवस्था में जन्मे थे तथा उसके अन्तर्बाह्य से अवगत थे। अतः उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में अहमेन्द्र स्वर्ग के परिवेश में प्रजातंत्र की रूपरेखा समताप्रधान राजनीतिक व्यवस्था के लिए प्रस्तुत की।

नारी :

नारी-जीवन हजारों वर्षों से बंधन और विषमता की क्रूरता का शिकार रहा है। भारत में ही नहीं पाश्चात्य देशों में भी हजारों वर्षों से यही स्थिति चली आ रही है। वैदिक धर्मशास्त्रों ने तो नारी के लिए संन्यास के द्वार बंद कर दिये थे। लेकिन महावीर ने नारी को 'सहधम्मचारिणी' का स्थान दिया तथा स्वतंत्र रूप से संन्यास तथा साधना का द्वार भी उसके लिए खोला। बुद्ध ने भी संन्यास के लिए नारी वर्ग को अनुमति दी, लेकिन भय और हिचकिचाहट के साथ और वह भय पांच सौ वर्षों के बाद उनकी भविष्यवाणी को साकार करता हुआ-सा, सत्य भी प्रमाणित हुआ। लेकिन महावीर ने चार तीर्थों की स्थापना प्रारम्भ से ही की और उन्हें समान महत्त्व दिया तथा हर महत्त्वपूर्ण कार्य चारों तीर्थों की उपस्थिति तथा साक्षी में करने की परम्परा डाली जो आज तक कायम है। तथा महावीर की परम्परा में नारी वर्ग ने साधना के श्रेष्ठतम आदर्श प्रस्तुत किये हैं। विनोबा ने इस बात के लिए महावीर की अनेक बार भावभीने शब्दों में अभ्यर्थना की है।

धर्म :

धर्म के क्षेत्र में भी महावीर ने समता का आदर्श केन्द्र रूप में रखा। 'समयाधम्म मुदाहरे मुणी'—मुनियों ने समता को ही धर्म कहा है। साधना को महाव्रतों तथा अणुव्रतों के स्तर पर वर्गीकृत करने के बाद भी उन्होंने यही कहा कि धर्म न गांव (गार्हस्थ्य) में है, न वन (संन्यास) में, वह तो आत्मा में है, उसके साक्षात्कार में है, उसकी साधना में है, साधना के प्रति अनन्य समर्पण में है। यह मंतव्य उन्होंने बार-बार व्यक्त किया। वेष को उन्होंने कभी प्रतिष्ठा नहीं दी, चारित्र को ही दी। श्रमणों के संदर्भ में चर्चा करते हुए उन्होंने पाप-श्रमण के लक्षण बताए तथा उसे धर्म के क्षेत्र से एकदम बाहर माना। महावीर ने मुक्ति का द्वार अपने आम्नाय तक सीमित नहीं रखा। दूसरे आम्नाय के व्यक्तियों तथा आम्नायरहित व्यक्तियों के लिए भी उसे खुला रखा। मुक्ति की संभावना उन्होंने पुरुषों तक ही सीमित नहीं रखी, स्त्रियों, यहां तक कि नपुंसकों को भी मुक्ति का अधिकार दिया। उन्होंने यहां तक कहा कि साधु ही नहीं, अपितु गृहस्थ भी कैवल्य तथा मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। कोई-कोई गृहस्थ किसी साधु से भी संयम में श्रेष्ठ हो सकते हैं, होते रहे हैं और हैं भी। जैन परम्परा में भरत राजर्षि, माता मरुदेवी इस सत्य के साक्षी रहे हैं।

अपने युग की प्रचलित सामाजिक बुराइयों पर महावीर ने जो प्रहार किया, उसके मूल में भी समता की ही भावना थी। आज हिंसा, विषमता और प्रतिस्पर्धा से आक्रांत विश्व के लिए महावीर का समता-संदेश लोकजीवन का आधार तत्त्व है। वह मानव धर्म की स्पष्ट एवं व्यावहारिक रूपरेखा को साकार करता है।

४१
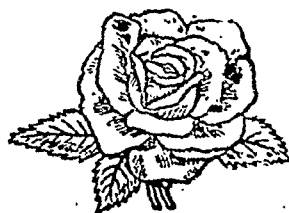
समता एवं सामाजिक सम्बन्ध

□ डॉ० मदनगोपाल शर्मा

'समता' शब्द अपने आप में अतीव आकर्षक है। एक ओर हम कहते हैं कि आज का युग अर्थ, विज्ञान एवं राजनीति के विविध क्षेत्रों में प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, पर आधृत है, स्पर्द्धा अथवा होड़ा-होड़ी ही प्रगति का मूल मंत्र है, तो दूसरी ओर समता अथवा साम्य की अवधारणा को भी अपना प्रेरक मंत्र मानते हैं और राजनीतिक मतवाद भी साम्य के वाद अर्थात् सिद्धान्त पर स्थापित करते हैं। समता और स्पर्द्धा की परस्पर विषम एवं विसंगतिपूर्ण विचारणों का एकत्र साहचर्य स्वयं में कम विषम और असंगत नहीं है। शोषित एवं प्रवंचित के लिए समता काम्य है, इष्ट है, मधुर स्वप्न है, तो शोषक एवं प्रवंचक के लिए वह सुरक्षात्मक कवच है, सदाशयता का विज्ञापन पट्ट है, रूठे हुए को रिझाने की बीन है। बहरहाल, उद्देश्य, उपयोग, परिकल्पनाएँ और परिभाषाएँ अपनी अलग-अलग हैं, किन्तु 'समता' शब्द के आकर्षण मात्र में समता अर्थात् एकरूपता असंदिग्ध है।

तो आइए, समता के इस सम्मोहन को भेद कर इसकी तात्त्विक संरचना और इसके स्वरूप के यत्किंचित निस्पृह विश्लेषण का प्रयास करें। समता, अर्थात् समानता, अर्थात् एक-स्तरता, एक-रूपता, एक-रसता, एक-प्रतिमानता। इसे ही बदलकर समस्तरता, समरूपता आदि सम-उपसर्गपूर्वक निर्मित शब्दों से अभिहित कर सकते हैं। किन्तु प्रश्न तो वस्तुतः यह है कि समस्तरता अथवा समस्थिति किसकी? दृष्य की अथवा दृष्टि की? बाह्य रूप की अथवा आन्तरिक सौन्दर्य की? व्यवहार की अथवा वृत्ति की? परिस्थिति की अथवा मनःस्थिति की? व्यवस्था की अथवा अवस्था की? स्थूल की अथवा सूक्ष्म की? यह सही है कि इन उभय शब्दों में निहित सम्बन्ध निरे द्वन्द्वात्मक नहीं

हैं, उनमें सहचारिता और परिपूरकता की प्रवृत्ति भी विद्यमान है, अन्योन्याश्रित तो वे हैं ही। फिर भी, व्यवहार में तो द्वन्द्वात्मकता भी है ही और बनी ही रहेगी।

परिस्थिति और मनःस्थिति, अन्तस् और बाह्य, जड़ और चेतन, एक दूसरे के साधक और पूरक हैं तथापि, व्यवहार में प्रमुखता की दृष्टि से इनमें द्वन्द्व भी सनातन है। हम अपनी भेद-दृष्टि से, आग्रह-बुद्धि से, इनमें से किसी एक को प्रमुख और दूसरे को गौण अथवा किसी एक को साधन और दूसरे को साध्य मान लेते हैं। इससे भी आगे बढ़कर, अपनी अत्याग्रही बुद्धि से, इनमें से किसी एक को साधन एवं साध्य दोनों ही के रूप में स्थापित कर दूसरे की अवमानना कर, उसे सर्वथा निष्कासित ही कर देते हैं। इसी अत्याग्रही दृष्टि का एक अतिवादी परिणाम था कि प्राच्य जीवन-साधना में चेतन अर्थात् सूक्ष्म को सर्वस्व मानकर स्थूल अर्थात् जड़ की पूर्णतः उपेक्षा की गयी तो आधुनिक औद्योगिक सभ्यता में, चाहे वह पूँजीवादी प्रणाली पर स्थापित हो, चाहे साम्य-वादी प्रणाली पर, स्थूल अर्थात् जड़ का ही जयनाद हुआ और सूक्ष्म अर्थात् चेतन अवमानित हुआ। इस दृष्टि से इन दोनों ही व्यवस्थाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

पूँजीवादी प्रक्रिया में चेतन क्रीत हुआ, विकृत हुआ, दूषित हुआ, तो साम्यवादी व्यवस्था में वह दमित हुआ, कुंठित हुआ, दासता को बाध्य हुआ। यह सब इसीलिए हुआ कि स्थूल-सूक्ष्म एवं जड़-चेतन के इस द्वन्द्व को, जितना वह है, उससे भी अधिक, उभारा गया। जड़-चेतन का यह द्वन्द्व चिरन्तन है, नैसर्गिक है। इसी प्रकार विविधता, विषमता, अनेकरूपता भी सहज और सनातन है। कठिनाई तब होती है, जब इनमें समन्वय और सामरस्य स्थापित करने के स्थान पर हम इन्हें शिविर बद्ध कर इनके मल्लयुद्ध को उकसाते हैं। मानव की भेद-बुद्धि के लिए द्वन्द्व में उत्तेजन है, आकर्षण है। जो समरसता इतनी काम्य है, वही सचमुच सिद्ध होते ही नीरसता में परिणत हो जाती है; एकरूपता, अतिशीघ्र ही अरूपता अर्थात् रूपहीनता बनकर रह जाती है। जीवन में द्वन्द्वात्मक समाहार अथवा समाहारात्मक द्वन्द्व ही वह सूत्र है, जिस पर चलकर अतिवादिताओं और जड़ताओं से बचा जा सकता है।

यही वह कुंजी है, जो हमारे समस्त सामाजिक सम्बन्धों में वास्तविक समता का संचार कर सकती है। सामाजिक-सम्बन्धों में विविधता और अनेक-रूपता बनी ही रहेगी। कैसी भी आदर्श समाज-रचना हो, सख्य, स्नेह-वात्सल्य और समादर की त्रिस्तरीयता हमारे सामाजिक सम्बन्धों में अनिवार्य है। घर में, भाई-बहिन, भाई-भाई, पति-पत्नी, समधी-समधिन आदि सम्बन्धों में सख्य की प्रमुखता है तो माता-पिता का सन्तानों के प्रति सम्बन्ध वात्सल्य प्रधान सम्बन्ध

है। सन्तानों के अपने–माता-पिता के प्रति सम्बन्ध में प्रमुख वृत्ति समादर भाव की ही रहेगी। इसी प्रकार राजनीति, सेना, उद्योग-व्यवसाय दफ्तर–कार्यालय इत्यादि कार्य क्षेत्रों में उगते-फूलते सम्बन्धों में भी इसी त्रिस्तरीयता को, मात्रा और गुणात्मक अन्तर सहित, परिलक्षित किया जा सकता है। यह त्रिस्तरीयता बाधक नहीं, साधक है। आयु, अनुभव, सामर्थ्य की दृष्टि से कुछ व्यक्ति मुख्यत: प्रदाता की स्थिति में, कुछ मुख्यत: आदाता की स्थिति में और शेष मुख्यत: दाता-आदाता की न्यूनाधिक अद्वय अथवा समस्थिति में रहेंगे। ये स्थितियाँ अटल और जड़ नहीं हैं, संक्रमणशील और सापेक्ष हैं। आज का आदरकर्त्ता ही कल का आदरास्पद बनता है। आज जो स्नेह का भागी है, कल उसी को स्नेह लुटाना भी होता है। अत: सभी को मात्रा और रूप-भेद से इस त्रिस्तरीयता के विविध आयामों में से संक्रमित होना पड़ता है। यही जीवन की परिपूर्णता है।

अत: आवश्यक यह है हम इस नानास्तरीयता और अनेकरूपता को तोड़ने और मिटाने के प्रलोभन के चक्कर में कहीं भीतर की एकात्मता को नष्ट न कर दें। नानास्तरीयता और अनेकरूपता एक ओर से ज्यों ही नष्ट होती है, त्यों ही दूसरी ओर से दूसरा चेहरा ओढ़कर फिर प्रकट हो जाती है। यह अनेकरूपता और बहुस्तरीयता रक्त बीज की तरह मिट-मिट कर फिर जीवित हो जाती है और समता इसके लिए लड़-मर-कट कर भीतर से और अधिक प्रवंचित, हतकाम और हतप्रभ हो जाती है। अत: श्रेयस्कर यही है कि हम स्थूल और सूक्ष्म के द्वन्द्व को तूल न दें। इनमें से किसी को भी [illegible] अधिक न लादे फिरें कि कंधे ही टूट जाएँ। हम अपनी [illegible] अद्वय बुद्धि से इन द्वन्द्वात्मक शक्तियों को पालतू बनाये रखें और [illegible] ताल-मेल बनाये रखें। वही नीति सच्ची पुरुषार्थ नीति है [illegible] अध्यापक–अध्येता, नेता–कार्यकर्त्ता, अधिकारी–कर्मचारी के सम्बन्धों में [illegible] वैषम्य को तोड़ने में भी नहीं झिझके और साथ ही [illegible] की स्थापना की चुनौती को भी स्वीकार करे। मनुष्य के [illegible] सम्बन्धों में बाहर और भीतर, व्यवस्था और अवस्था (या वृत्ति) [illegible] समता की स्थापना की चुनौतियाँ झेलनी ही होंगी। [illegible] नहीं है, वह स्नेह की प्यास है। वह अधिकारों के लिए [illegible] के लिए आन्तरिक उत्प्रेरणा भी है, वह द्वन्द्वात्मकता [illegible] और [illegible] भी है। वह उत्तेजना नहीं, अंतत: [illegible] उद्यान की भाँति है, जिसमें नाना [illegible] हैं। समता का अर्थ इन सबको [illegible] समान कर देना नहीं है। वह [illegible] भस्म ही हाथ आएगी। [illegible] पोषण देकर उन्हें विकसित [illegible]

निराकरण कर सुरक्षा प्रदान करना ही वास्तविक समता है, जिससे उपवन को अपने फल-फूलों की रस-गंध से गुंजित कर सकें। इसी दृष्टि के विकसित और चरितार्थ होने पर वस्तुतः चिर-काम्य समता की सुखद सिद्धि हो सकेगी। इस अद्वय, अविचल बुद्धि से ही हम मंत्र द्रष्टा वैदिक ऋषि के स्तर पर समता की भावना से अनुप्राणित हो, उसके स्वरों में मानव मात्र के लिए यह मंगल-कामना कर सकेंगे—

> "अज्येष्ठा सो अकनिष्ठा स एते संभ्रान्तरो वा वृधुः सोभगाय।"
> अर्थात् न कोई बड़ा है, न छोटा हैं, सभी भाई-भाई हैं। शुभ भविष्य के लिए सब मिलकर आगे बढ़ें।
> "समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
> समानस्तु को मनो यथा वः सुसहासति।"
> अर्थात् तुम्हारे लक्ष्य तथा तुम्हारी भावनाएँ समान हों। तुम्हारे मन समान हों, ताकि तुम्हारी संगठन-शक्ति विकसित हो।

तथा—

> "समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।"
> अर्थात् तुम्हारी मंत्रणा में, तुम्हारी सभा-समितियों में तथा तुम्हारे चिंतन-मनन में समता और साहचर्य हो।

४२
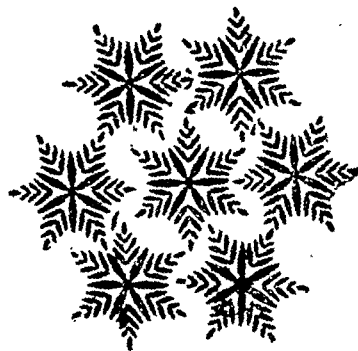
समता के आर्थिक आयाम

□ डॉ० सी० एस० बरला

प्रकृति ने मानव मात्र की शरीर-रचना में समभाव का परिचय दिया है। इसके उपरान्त भी विश्व की दो तिहाई जनता ग़रीबी, अभाव एवं बेरोज़गारी से त्रस्त है। भारत में साठ करोड़ लोगों में से चालीस प्रतिशत ऐसे हैं जिन्हें पर्याप्त भोजन, वस्त्र एवं आवास की उपलब्धि नहीं हो पाती। कुल मिलाकर देश में दस करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त ही शोचनीय है।

यही स्थिति विश्व के अनेक देशों में विद्यमान है। यहाँ तक कि विश्व के सर्वाधिक समृद्ध कहे जाने वाले देश अमरीका में भी लगभग डेढ़ करोड़ व्यक्ति (जो जन-संख्या का सात प्रतिशत हैं) निर्धनता, बेरोज़गारी एवं व्याधियों के शिकार हैं। इनमें से अधिकांश व्यक्ति अश्वेत (काले, रैड इन्डियन, मेक्सिकन अमेरिकन) हैं तथा कुछ लोग श्वेत होने पर भी निर्धन हैं क्योंकि वे समय के साथ-साथ अपनी विचारधारा में कोई परिवर्तन नहीं लाना चाहते। अपलाशिया की घाटी में आज भी ऐसे हज़ारों श्वेत अमरीकी रहते हैं जो काफी निर्धन हैं तथा आधुनिक संस्कृति एवं सभ्य समाज से काफी दूर हैं।

यदि निर्धनता का स्वरूप एवं सीमा स्थैतिक हो तो भी संभवतः उससे सम्बद्ध समस्याओं का निदान कठिन नहीं होगा। वस्तु स्थिति तो यह है कि उत्पत्ति के साधनों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों एवं आय-प्राप्ति के अवसरों का

वितरण इतना विषम है कि समय की गति के साथ-साथ सामान्य तौर पर निर्धन व्यक्ति निर्धन होते जाते हैं तथा आय एवं सम्पत्ति का केन्द्रीकरण धनी व्यक्तियों के पास होता जाता है। अन्य शब्दों में, सम्पत्ति का स्वामित्व एवं आय-प्राप्ति के अवसरों में इतना गहरा सम्बन्ध है कि एक मेधावी परन्तु निर्धन युवक जीवन पर्यन्त सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने की कल्पना भी नहीं कर सकता। यह कैसी विडम्बना है कि धन व सम्पत्ति को विश्व के सभी धर्मों में जड़ माना गया है, तथापि आवश्यकता, बुद्धि की प्रखरता एवं पारस्परिक सौहार्द का हमारे व्यवहार में कोई महत्त्व नहीं है।

आय व सम्पत्ति की विषमता क्यों ?

अर्थशास्त्री आय व सम्पत्ति की विषमता के अनेक कारणों का उल्लेख करते हैं। यहाँ हम अत्यंत संक्षेप में इनकी व्याख्या करेंगे।

(१) सम्पत्ति के स्वामित्व में विषमता :

विश्व में साम्यवादी देशों को छोड़कर सर्वत्र सम्पत्ति के स्वामित्व को वैध माना गया है। सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदंड सम्पत्ति को ही माना जाता है। फलतः प्रत्येक व्यक्ति यथासंभव सम्पत्ति का संग्रह व संचय करने का यत्न करता है। यह परिग्रह धनी व्यक्ति में अधिक होने पर वह स्वाभाविक रूप में और अधिक सम्पत्ति का संचय करने में सफल हो जाता है जबकि निर्धन व्यक्ति को इसका अवसर नहीं मिल पाता।

(२) उत्तराधिकार नियम :

सम्पत्ति के संचय की प्रबल आकांक्षा से अभिभूत व्यक्ति येनकेन प्रकारेण अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहेगा। इसमें हमारे उत्तराधिकार के कानून भी पूर्ण सहायता प्रदान करते हैं। अमरीका में रॉकफेलर, फोर्ड, मैलन व भारत में टाटा, बिड़ला आदि परिवार आज इसलिए धनी नहीं हैं कि इन्होंने स्वयं श्रम करके धनोपार्जन किया है। विश्व में हजारों ऐसे परिवार विद्यमान हैं जहाँ व्यक्ति को सम्पत्ति व धन विरासत में मिलता है। वैयक्तिक योग्यताओं एवं मेधा-शक्ति का अभाव होने पर भी धनी व्यक्ति की सन्तान धनी ही बनी रहती है।

(३) शिक्षा, प्रशिक्षण एवं अवसरों की असमानता :

उत्तराधिकार तो आर्थिक विषमता का प्रमुख कारण है ही, शिक्षा, प्रशिक्षण एवं अवसरों की असमानताएँ इसे और भी अधिक गहरा बना देती

हैं। विश्व भर में अच्छे व महंगे विद्यालयों में प्रशिक्षण एवं शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ एवं अधिकार, केवल धनी माता-पिता की सन्तानों को ही प्राप्त हो पाते हैं। भारत में उच्च प्रशासन हेतु आयोजित परीक्षाओं (आई० ए० एस०, आई० एफ० एस०, पी० सी० एस०, आर० ए० एस०) में अधिकांशतः पब्लिक स्कूलों व अच्छी शिक्षण संस्थाओं के स्नातक ही उत्तीर्ण हो पाते हैं। डॉक्टरी व इन्जीनियरिंग की शिक्षा भी इतनी महंगी है कि एक गरीब मां-बाप की सन्तान के लिए साधारणतया ये अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते। व्यावसायिक जीवन में भी अवसरों की सुलभता केवल धनी व्यक्तियों व उनकी सन्तानों के लिए ही है।

(४) जातिगत विषमता :

यहूदी, मारवाड़ी वैश्य एवं अन्य कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो स्वभावतः व्यवसायी वृत्ति अपनाते हैं। परन्तु आज भी विश्व के अनेक देशों में कुछ जातियाँ आम-तौर पर निर्धन एवं तिरस्कृत रही हैं। कुछ देशों में रंग के आधार पर भेदभाव बरता जाता है, जबकि अन्य समाजों में धर्म के आधार पर समाज के एक वर्ग की उपेक्षा की जाती है।

लेकिन इन सभी कारणों में वंशानुगत आर्थिक विषमता सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है। एक बात और भी है। सामान्य काल में आर्थिक विषमता में अधिक वृद्धि नहीं होती तथा वंशानुगत कारणों से ग़रीब व अमीर का अन्तर बने रहने की प्रवृत्ति होती है, परन्तु जब जन-संख्या की वृद्धि की तुलना में राष्ट्रीय उत्पादन नहीं बढ़ पाता तथा वस्तुओं के अभाव के कारण मूल्य-स्फीति प्रारम्भ हो जाती है तो कुछ और भी कारण ऐसे बन जाते हैं जिनसे आर्थिक विषमता त्वरित गति से बढ़ती है तथा ग़रीब जितनी तेजी से ग़रीब होते हैं उतनी ही तेजी से धन-सम्पत्ति व आय का केन्द्रीकरण धनी लोगों के पास होता जाता है। ये कारण इस प्रकार हो सकते हैं :—

(१) जमाखोरी तथा कालाबाज़ारी।

(२) करवंचना।

(३) जरूरतमंद व्यक्तियों से अधिक ब्याज व किराये की वसूली।

(४) मिलावट एवं भ्रष्टाचार आदि।

स्पष्ट है कि अभाव अथवा मुद्रा-स्फीति के समय आर्थिक विषमता में होने वाली वृद्धि की पृष्ठभूमि में साधारणतया अवैधानिक तथा अमानवीय कारण निहित होते हैं। दुर्भाग्य से पिछले दो दशकों में भारत इसी दौर से

गुजरा है। देश की जन-संख्या १९५१ व १९७५ के बीच लगभग सत्तर प्रतिशत बढ़ी है जबकि अनिवार्य वस्तुओं का उत्पादन इतना नहीं बढ़ पाया। इसके साथ ही सरकार की घाटे की वित्त-व्यवस्था एवं भारी सार्वजनिक व्यय के कारण जन-साधारण के पास मुद्रा की मात्रा बढ़ी। फलतः एक ओर तो वस्तुओं का अभाव बना रहा, दूसरी ओर इनकी मांग में वृद्धि होती चली गई।

यदि ऐसी परिस्थिति में व्यवसायी वर्ग में स्वार्थपूर्ति की भावना न रहकर अपरिग्रह एवं जन-साधारण के प्रति सौहार्द का दृष्टिकोण रहता तो संभवतः आर्थिक विषमता में वृद्धि नहीं हुई होती; परन्तु जमाखोरी, कालाबाजारी, मिलावट, करों की चोरी, सूदखोरी आदि सभी प्रकार के अनुचित तरीकों का प्रयोग करके उन्होंने अपनी सम्पत्ति में वृद्धि करने का यत्न किया।

मोटे अनुमानों के अनुसार १९६५ व १९७५ के बीच बिड़ला व टाटा की आर्थिक सत्ता में क्रमशः तीन गुनी व दो गुनी वृद्धि हुई। अनेक दूसरे व्यावसायिक परिवारों के धन-सम्पत्ति में इतनी ही या इससे अधिक वृद्धि हुई है, परन्तु ऐसे हजारों अन्य परिवार हैं जिन पर अभी तक अर्थशास्त्रियों अथवा सरकार का शायद ध्यान नहीं जा पाया है, परन्तु जिन्होंने अन्यायपूर्ण एवं अनैतिक तरीकों से पिछले दो दशकों में धन बटोरा है तथा आगे भी जिनके व्यवसाय करने के तरीकों में सुधार आने की संभावना कम ही दिखाई देती है।

यह भी एक विडम्बना ही है कि जन-संख्या की वृद्धि निर्धन परिवारों में धनी परिवारों की अपेक्षा अधिक होती रही है। अज्ञान, अशिक्षा या और कोई भी कारण इसके लिए उत्तरदायी रहा हो, इसके परिणाम तो स्पष्ट ही हैं, गरीब इसके कारण और अधिक गरीब होता गया है।

सरकारी नीति एवं आर्थिक व्यवहार में समताभाव की आवश्यकता :

यह ठीक है कि पिछले दो अढ़ाई दशकों में भारत में ही नहीं अपितु समूचे विश्व में सरकार ने ऐसे कार्यक्रमों एवं नीतियों को क्रियान्वित किया है, जिनका उद्देश्य जहाँ एक ओर गरीब वर्ग को बेहतर अवसर, शिक्षा एवं सुविधाएँ देना था, जबकि दूसरी ओर अमीर वर्ग पर प्रगतिशील रूप से कर लगाकर उनकी धन-संग्रह की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना था। परन्तु वास्तव में क्या ये नीतियाँ सफल हो सकीं ? क्या सरकार गरीब व अमीर के अन्तर को

बढ़ने से रोक पाई ? क्या सरकारी कार्यक्रमों का लाभ वस्तुतः गरीब को मिल सका ? इन सभी का उत्तर है, 'नहीं'।

सरकारी नीतियों व कार्यक्रमों की क्रियान्विति का दायित्व प्रशासनिक अधिकारियों पर होता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अधिकांश प्रशासनिक अधिकारी समाज के सम्पन्न व उच्च वर्ग से आते हैं तथा इनकी वास्तव में गरीब लोगों को लाभ पहुँचाने में कोई आस्था नहीं होती। बहुधा जो राशि निर्धन लोगों के कल्याण हेतु व्यय की जाती है, वह उसी परिमाण में उन तक पहुँच नहीं पाती। गरीब लोगों के साथ प्रशासनिक अधिकारियों का व्यवहार सौहार्दपूर्ण न होकर आदेशात्मक होता है। पक्षपात व अन्याय के शिकार होने पर भी निर्धन व्यक्ति इतना साहस नहीं जुटा पाते कि अधिकारी-गणों तक अपनी बात पहुँचा सकें। इन्हीं कारणों से निर्धन व्यक्तियों के लिए अपनाई गई नीतियाँ एक मखौल बनकर रह जाती हैं। दुःख की बात तो यह है कि निर्धन परिवारों से चुनकर जाने वाले प्रशासनिक अधिकारी भी गरीबों के प्रति सहानुभूति नहीं बरत पाते। यह स्वाभविक है कि जब उच्च अधिकारी एवं मन्त्रीगण सच्चे अर्थों में निर्धन व्यक्ति की सहायता नहीं करते (यद्यपि गोष्ठियों, प्रतिवेदनों, विधान सभाओं व संसद् में इसकी चर्चा काफी करते हैं) तो फिर नीचे के स्तर पर बैठे कर्मचारियों से गरीब के प्रति सहानुभूति की अपेक्षा करना व्यर्थ होगा।

इसके विपरीत धनी व्यक्तियों को लाइसेंस प्राप्त करने या अपना 'काम निकालने' में कोई असुविधा नहीं होती। लाभप्रद व्यवसाय के लिए धनी व्यक्ति को जहाँ पूँजी की सुलभता का लाभ प्राप्त है, वहीं उसे प्रशासनिक अधिकारियों व कर्मचारियों की सहानुभूति भी मिली हुई है। परिणाम यह होता है कि सरकार आर्थिक विषमता को कम करने हेतु नीतियों की घोषणा करती है, परन्तु वास्तव में इन नीतियों की जिस रूप में क्रियान्विति होती है, उससे इस उद्देश्य की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती।

फिर प्रश्न है, आर्थिक विषमता को कम किस प्रकार किया जाए ? यहाँ हमें जैन दर्शन को आत्मसात् करते हुए व्यावसायिक जीवन में इसे उतारने की अपरिहार्यता, ज्ञात होती है। वंशानुगत विषमता को हम भले ही कम न कर पाएं, प्रकृत्ति प्रदत्त बुद्धि के अन्तर को पाटना हमारे लिए भले ही संभव न हो सके, तथापि अपने व्यावसायिक क्षेत्र में 'स्व' को छोड़कर समाज के सभी लोगों के लिए समभाव एवं सौहार्द को अंगीकार करना जरूरी होगा। संग्रह व संचय की प्रवृत्ति का परित्याग, शोषण से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। जमाखोरी, भ्रष्ट विधियों द्वारा

व्यापार संचालन एवम् कर-वंचना जहाँ अल्पकाल में निर्धन व्यक्तियों के अधिकारों के हनन एवम् हमारे लिए धनोपार्जन को सुलभ बनाते हैं, वहीं समाज में ऐसी विकृतियाँ उत्पन्न कर देते हैं जो हमारे लिए भी दीर्घकाल में आत्म घाती हो सकती हैं ।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि निर्धन लोगों की संख्या धनी व्यक्तियों की तुलना में कई गुनी है । वे अकिंचन एवम् अभावग्रस्त हैं और शायद इसलिए धनिक वर्ग के प्रति उनका विद्रोह आज दबा हुआ है । परन्तु रूस व चीन की क्रांतियाँ हमारे लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करती हैं । इसके पहले कि निर्धन व्यक्तियों का आक्रोश ज्वालामुखी बनकर विस्फोट करे, यह हम सभी के हित में है कि व्यावसायिक एवम् प्रशासनिक क्षेत्रों में संलग्न सभी लोग उनके प्रति समभाव जागृत करें तथा उनके प्रति न्यायपूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ करें ।

४३
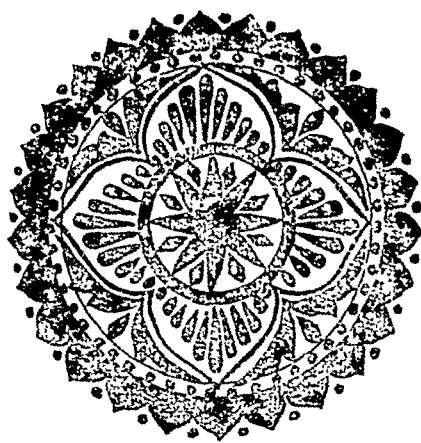
समता-समाज रचना में शिक्षा की भूमिका

☐ श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल

शिक्षा : विकास की प्रक्रिया :

जीवन पर्यन्त चलने वाली विकास की प्रक्रिया का दूसरा नाम शिक्षा है। यह क्रियाशीलता जीवन में निरन्तर परिवर्तन लाती रहती है और उसे उचित दिशा भी देती है। व्यक्ति अपनी धारणाओं के अनुसार जीवनयापन करता है एवं अपनी मान्यताओं के अनुसार अपने आपको अभिव्यक्त करता रहता है। वह चाहता है दूसरा भी उसकी मान्यताओं को स्वीकार करे और उसकी धारणाओं के अनुसार चले। इस प्रकार वह व्यक्ति को प्रेरित करता है और एक का प्रभाव दूसरे पर किसी न किसी रूप में पड़ता रहता है। इनमें से जिन धारणाओं को समाज का अनुमोदन मिल जाता है, वे सर्वमान्य हो जाती हैं। ये धारणाएँ व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कल्याणकारी होती हैं। समाज का यही स्वाभाविक विकास शिक्षा कहलाता है।

शिक्षा की व्यापकता :

निरन्तरता की इस कड़ी में प्रौढ़ पीढ़ी नवागत को प्रभावित करती है। एक पीढ़ी अपनी संचित उपलब्धियों, परम्पराओं, मान्यताओं तथा धारणाओं द्वारा दूसरी पीढ़ी को अपने समकक्ष बनाये रखती है, किन्तु समाज में निरन्तरता बनाये रखना ही शिक्षा की सीमा नहीं है। शिक्षा इस निरन्तरता में विकास के नये मार्ग खोजती रहती है। केवल सामाजिक निरन्तरता जंगली जातियों में भी

बनी रहती है जिससे उनके जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं आता। जैसी वे जातियां सैकड़ों वर्षों पूर्व थीं, आज भी वहीं हैं। वास्तव में सामाजिक जीवन की निरन्तरता में वांछित परिवर्तन लाकर उसे प्रगतिशील बनाये रखना शिक्षा की व्यापकता है।

शिक्षा : नैतिक चेतना की वाहक :

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री ब्राउन के मतानुसार 'शिक्षा एक जागरूक नियंत्रित प्रक्रिया है जो व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाती है और फिर व्यक्ति के द्वारा समाज में परिवर्तन आता है।' शिक्षा का सम्बन्ध मात्र ज्ञान से नहीं है, उसका सही प्रतिफल तो समाजोपयोगी शिष्टाचरण है। इस प्रकार शिक्षा बुद्धि-पक्ष के साथ-साथ भाव पक्ष पर भी बल देती है। शिक्षा मानव में मानवीय संवेदनाओं को सचेत कर नैतिक चेतना लाती है। यदि शिक्षा व्यक्ति में ज्ञान, रुचि, आदर्श, आदत तथा उसकी प्रतिभा को विकसित करने में असमर्थ है तो वह सच्चे अर्थ में शिक्षा नहीं कहला सकती।

शिक्षा : व्यक्ति, वातावरण और समाज का विकासशील सामंजस्य :

शाब्दिक अर्थ में शिक्षा एक द्विमुखी क्रिया है जिसमें, सीखना, सिखाना व शिष्य-गुरु की परम्परा सन्निहित है। दोनों का सक्रिय होना, अनिवार्य आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति के जीवन में सम्पर्क, अनुभव और वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। अनुकरण और अभ्यास से भी अनेक बातें सीखी जाती हैं। भावात्मक, एकता सहानुभूति, सहयोग और करुणा जैसे सद्गुण पारिवारिक या सामाजिक जीवन में ही विकसित हो सकते हैं। जन सम्पर्क से व्यक्ति में सामाजिकता आती है। व्यक्ति अपने तथा दूसरों के अनुभवों से अनेक बातें सीखता है। वातावरण और परम्परायें भी व्यक्ति को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार जीवन में आने वाले समस्त परिवर्तन अपने व्यापक अर्थ में शिक्षा की देन हैं। इस अर्थ में जीवन ही शिक्षा है और मानव का सम्पूर्ण जीवन शिक्षा का काल है। शिक्षा वास्तव में एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य में नैतिक चरित्र और मुक्त विचार उत्पन्न कर उसकी रुचि और प्रतिभा के अनुसार उसके समाजोपयोगी चरम विकास में सहायक होती है। मानव स्वयं विकासशील है। वह स्वचालित है। प्रारम्भ में वह अपूर्ण है। वह पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। उसमें अनेक रुचियां, प्रतिभाएँ, क्षमताएं और शक्तियां छिपी हुई हैं। उन क्षमताओं और शक्तियों को जागृत करना शिक्षा है। मानव में वातावरण और बाह्य परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने की अद्भुत क्षमताएं हैं। इस प्रकार कहना होगा कि शिक्षा व्यक्ति, वातावरण और समाज का विकासशील सामंजस्य है।

शिक्षा की प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप :

शिक्षा की प्रक्रिया के अनेक स्वरूप हो सकते हैं। एक सभ्य और उन्नत

समाज अपने नवीन सदस्यों को समाज का उपयोगी अंग बनाने के लिए उनकी रुचियों और प्रतिभाओं के अनुकूल उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास कर उन्हें एक सुशिक्षित सदस्य के रूप में अंगीकृत करने के लिए ज्ञात और अज्ञात में अनेक उपाय अपनाता है। ये सब उपाय शिक्षा के विभिन्न स्वरूप कहलाते हैं ' ये चार प्रकार के हो सकते हैं :—

१. नियमित और अनियमित शिक्षा
२. प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष शिक्षा
३. वैयक्तिक और सामूहिक शिक्षा
४. सामान्य और विशिष्ट शिक्षा

शिक्षा : सभ्य समाज की अनिवार्य आवश्यकता :

इनके प्रभाव से नयी पीढ़ी अनुभवी वयस्कों से प्राप्त ज्ञान, विज्ञान और कला के भंडार को एक ओर सुरक्षित रखती है तो दूसरी ओर अपनी प्रतिभा अनुसार उसे निरंतर विकासशील बनाये रखती है। मानव समाज का यह विकास-चक्र शिक्षा की धुरी पर घूमता है। यह बन्द हो जाय तो समझ लीजिए उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा, संचित ज्ञान क्षीण होता चला जायेगा, नव संतति पुरातन से पिछड़ जावेगी और अन्त में मानव को साधन विहीन असभ्य जीवन बिताने को विवश होना पड़ेगा। समाज को इस पराभव से बचाने और उसे निरंतर अग्रगामी बनाने के लिए शिक्षा सबसे बड़ा साधन है। शिक्षा सभ्य समाज की अनिवार्य आवश्यकता बन गई है। यह आवश्यकता व्यक्तिगत विकास, जीवनोपयोगी ज्ञानार्जन, संतुलित व्यक्तित्व के विकास के लिए होती है।

आज के समाज में एक बड़ा दोष यह आ रहा है कि मनुष्य अधिकाधिक व्यक्तिवादी होता चला जा रहा है। व्यक्ति और समाज के मध्य शिक्षा द्वारा सामंजस्य लाया जा सकता है। व्यक्तित्व का विकास हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती पर वह विकास समाजोपयोगी होना चाहिए। ऐसा तभी संभव है जब व्यक्ति जीवन के सामाजिक मूल्यों को पहचान जाय। व्यक्ति को समाज-हितैषी और समाजसेवी बनाया जाय। समाज के समान विकास के लिए सर्व प्रथम व्यक्ति में परिवर्तन लाना होगा। उसके चिन्तन को एक नई दिशा देनी होगी। यह परिवर्तन शिक्षा द्वारा ही लाया जाना सम्भव होगा। स्पष्ट है कि व्यक्ति को समाजोपयोगी बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। उदार सामाजिक दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए भी शिक्षा की आवश्यकता होती है। जाति, धर्म और वर्ग भेद के कारण एक ही समाज में अनेक समूह बन जाते हैं। इन्हीं असमानताओं के कारण समाज में संकीर्णता, कट्टरता, रूढ़िवादिता और स्वार्थपरता अपनी जड़ें जमा लेती हैं। समाज के विघटनकारी तत्त्व उसे विनाश की ओर ढकेल देते हैं। समाज को इस विनाश से बचाने का एक मात्र उपाय शिक्षा है। शिक्षा द्वारा समाज में भावात्मक एकता लाकर उदार सामाजिक दृष्टिकोण विकसित कि

जा सकता है।

शिक्षा विभिन्न विश्वासों, मतवादों तथा विचारों के बीच एक समन्वयात्मक परिस्थिति उत्पन्न करती है। सामाजिक हित को व्यक्तिगत हित से बढ़कर समझना, प्रत्येक मत व विचार को धैर्यपूर्वक सुनना, विरोधी विचारों और मतवादों का सम्मान करना, दूसरे की भावनाओं को ठेस न पहुँचाना तथा अपना मत निर्भीक होकर प्रस्तुत करना ऐसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुण हैं जो शिक्षा द्वारा लाये जा सकते हैं। विभिन्न परिवारों और परम्पराओं में पले व्यक्तियों को अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से ऊपर उठाकर समाज के प्रति चिन्तनशील बनाना और उनमें सद्भाव उत्पन्न करना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

समता-समाज की रचना :

इस प्रकार से परिमार्जित व्यक्ति ही समता-समाज का रचयिता बन सकेगा। वह 'स्व' को प्रकाशित करेगा, स्वयं ऊंचा उठेगा और समाज को ऊंचा उठावेगा। यह सच है कि आसक्ति से राग और द्वेष का जन्म होता है। राग आकर्षण और द्वेष विकर्षण पैदा करता है। स्व-पर, अपना-पराया, राग-द्वेष, आकर्षण-विकर्षण के कारण ही जीवन में सदा संघर्ष अथवा द्वन्द्व की स्थिति बनती है और उससे क्षोभ, प्रतिकार करने को मानव उतारू हो जाता है। संतुलन खो देना ही विषमता को आमंत्रित करना है। उत्तेजना अथवा संवेगों से प्रभावित होकर मानव स्वाभाविक समता से कोसों दूर हो जाता है और विषमता के कीचड़ में अवगाहन करने लगता है जिससे स्वयं गंदा बनता है और आस-पास को भी गन्दा बना देता है।

अतः वास्तविक शिक्षा इस सबके परिष्कार के लिए एक बहुत बड़ी भूमिका का कार्य सम्पन्न कर सकती है। समता-समाज की रचना में शिक्षा की भूमिका का महत्त्व यही है।

४४

समता-समाज-रचना में साहित्य की भूमिका

☐ डॉ० नरेन्द्र भानावत

व्यक्तियों के समूह से समाज बनता है। समाज की अच्छाई या बुराई व्यक्तियों पर ही निर्भर है। व्यक्ति का आचार-विचार, उसका रहन-सहन और जीवन-दर्शन समाज-संगठन को प्रभावित करता है। अतः समाज-रचना में व्यक्ति की धार्मिक, आर्थिक, नैतिक और कलात्मक प्रवृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। यहां समाज-रचना में साहित्य की भूमिका पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

साहित्य शब्द से उसके दो मुख्य कार्य ध्वनित होते हैं—सबके प्रति हित की भावना और सबको साथ लेकर तथा सब में ऐक्य भाव स्थापित करते हुए चलने की भावना। इन दोनों क्रियाओं से समाज के जिस स्वरूप का निर्धारण होता है वह समता समाज के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

साहित्य के निर्माण में भाव ही मुख्य होते हैं जो शब्द और अर्थ के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया उत्तेजना, उथल-पुथल और आंदोलन की प्रक्रिया न होकर संवेदना, समरसता और सर्जन की प्रक्रिया है। साहित्यकार मानव-मन की गहराई में पैठकर जो भाव-सम्पदा अर्जित करता है, वह मात्र अपने लिये न होकर सबके लिये होती है। उसकी स्वानुभूति सर्वानुभूति बन जाती है। इस प्रकार 'स्व' का 'सर्व' में विलय होने पर जो स्थिति बनती है, उसे समरसता या समता की स्थिति कह सकते हैं। काव्य शास्त्र के आचार्यों ने इसे रसदशा कहा है, और इसके आस्वाद को ब्रह्मानन्द सहोदर के तुल्य माना है।

साहित्य की रचना-प्रक्रिया में साहित्यकार योगी अथवा साधक की भांति ही तटस्थ, निरपेक्ष और सांसारिक वासनाओं से उपरत हो जाता है। इस मनः-स्थिति में जो साहित्य रचा जाता है, उसका आस्वाद न सुखात्मक होता है न दुखात्मक। आचार्यों ने इसे आनन्द की संज्ञा दी है। इस दशा में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले भाव तिरोहित हो जाते हैं। भय, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या जैसे दुखात्मक और लोभ, प्रेम, उत्साह, जैसे सुखात्मक भाव अपने उत्तेजक रूप को छोड़कर समरसता में परिणत हो जाते हैं। विज्ञान की शब्दावली में यदि कहें तो यह वह स्थिति है जिसमें ताप (Heat) प्रकाश (Light) में रूपान्तरित होता है। इस मनोदशा में शत्रु, शत्रु नहीं रहता। सारे द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं, और मनकी वृत्तियां भीतर के तारों से इस प्रकार जुड़ जाती हैं, कि सारे विभाव और विकार शान्त हो जाते हैं। इस मानसिक एकाग्रता और वृत्ति-संयमन में सार्वजनीन भाव का ऐसा विकास होता है जिसमें विशेषीकृत व्यक्तित्व साधारण बन जाता है। साधारणीकरण की यह प्रक्रिया समत्व दर्शन की निकटवर्ती प्रक्रिया है।

पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों की दृष्टि भावों के उदात्तीकरण की इस रस-दशा तक नहीं पहुँची है। यही कारण है कि वहां साहित्य में शान्ति की अपेक्षा संघर्ष को, सुखांत भाव की अपेक्षा दुखान्त भाव को और नायक के मंगल की अपेक्षा उसके संत्रास और मरण को मुख्यता दी गई है। पर भारतीय दृष्टि इससे भिन्न रही है। यहां नायक के जीवन में संघर्ष आता है, कठिनाइयां आती हैं, पर वह अपने पुरुषार्थ के बलपर धैर्य पूर्वक उन पर विजय प्राप्त करता हुआ अन्त में मंगल को प्राप्त करता है। वह मरता नहीं वरन् मृतकों को भी जीवन प्रदान करता है। उसकी आस्था, युद्ध, हिंसा और रक्तपात में न होकर, आत्म-संयम, अहिंसा और करुणा में है। वह केवल युद्धवीर नहीं है, वह धर्मवीर, कर्मवीर और दानवीर भी है। धैर्य और साहस का धनी होने के कारण उसे धीरोदात्त कहा गया है।

साहित्य में संवेदना के स्तर पर समता का जो स्वर उभरता है वह केवल मनुष्य समुदाय तक सीमित नहीं रहता। उसकी परिधि में मनुष्येतर जीवधारी सभी प्राणी और प्रकृति के नाना तत्त्व भी समाहित होते हैं। समष्टि रूप में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का ऐक्य साहित्य में अनुभूत होता है। साहित्य में लिंग, जाति, वर्ण, धर्म, मत, सम्प्रदाय आदि के भेद समाप्त हो जाते हैं। वहां मर्द केवल मर्द नहीं रहता और स्त्री केवल स्त्री नहीं रहती। आत्मीयता का इतना विस्तार हो जाता है और सम्बन्धपरकता की भाव-भूमि इतनी व्यापक हो जाती है कि उसमें समस्त ब्रह्माण्ड समा जाता है। यहां नारी वासना की नहीं साधना की, भोग की नहीं त्याग की और दुर्बलता की नहीं शक्ति की प्रतीक बनकर आती है। पत्नीत्व के रूप में वह पश्चिमी साहित्य की भांति केवल वाइफ

(Wife) के दायरे में सीमित नहीं है। रमणी, दारा, भार्या, देवी और प्रियतमा के रूप में उसे नानाविध सामाजिक और पारिवारिक रिश्ते भी निभाने होते हैं। मां के रूप में उसकी वत्सलता, समाज को स्नेह-सूत्र में बांधती है।

साहित्य में पशु-पक्षियों का चरित्र और व्यवहार इस प्रकार चित्रित होता है कि उनसे उन गुणों को विकसित करने की प्रेरणा मिलती है जिनका होना समता-समाज के लिये आवश्यक होता है। ये गुण हैं—सहकार, सहयोग, प्रेम, मैत्री, कर्त्तव्यपरायणता, प्रामाणिकता, परिश्रम, आत्मनिर्भरता, स्वतन्त्रता, अपरिग्रहवृत्ति, आत्म-संयम आदि। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के दो प्रसंग हमारे इस कथन के प्रमाण हैं। एक प्रसंग उस समय का है जब शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम से बिदा लेती है तो मृगशावक उसका वस्त्र पीछे से अपने मुंह में पकड़ लेता है। मानव और पशु के परस्पर प्रेम का यह कितना आत्मीयतापूर्ण सात्विक और निश्छल-निःस्वार्थ अनुभव है।

दूसरा प्रसंग मृग के सींग पर मृगी की वांई आंख के खुजलाने का है। इस प्रसंग के माध्यम से कालिदास ने मृग के संयम और मृगी के निर्भीक प्रेम भाव को अभिव्यक्त किया है। मृगी का हृदय आश्वस्त है कि उसके प्रिय के सींग से उसकी आंख को किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। इस प्रकार के अनेकानेक प्रसंग और मार्मिक छवियां साहित्य के विशाल फलक पर चित्रित हैं। समता-समाज-रचना में इन प्रसंगों से उद्‌वोधन और प्रेरणा मिल सकती है।

आत्मीय भाव का यह विस्तार पशु-पक्षियों तक ही सीमित नहीं है। लता, तृण, पेड़-पौधों तक इसकी व्याप्ति हुई है। धरती को माता और अपने को पुत्र मानकर कवियों ने इस विराट प्रकृति की वंदना की है। इसी भाव विन्दु से देश प्रेम और विश्व प्रेम की भावना जुड़ी हुई है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य मानव-मानव को नहीं जोड़ता, वरन् प्रकृति के कण-कण को भी परस्पर जोड़ता है।

समता-समाज-रचता में सवसे वड़ी वाधा है—सामाजिक और आर्थिक वैषम्य की भावना। सामाजिक विषमता का मुख्य कारण है—अज्ञान और अंध-विश्वास और आर्थिक विषमता का कारण है—उत्पादन के साधनों का असमान वितरण और संग्रह वृत्ति। भारतीय संत-साहित्य में और आधुनिक युग के प्रगतिवादी-प्रगतिशील साहित्य में इन विषमताओं पर गहरी चोट की गई है। ऐसे पात्र खड़े किये गये हैं जो समता-समाज के निर्माण के लिये सतत संघर्षरत हैं। भारतीय स्वाधीनता संग्राम और धार्मिक-सामाजिक सुधार आंदोलन इसकी पीठिका वने हैं।

हमारे जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ, और काम—इन पुरुषार्थों की साधना करते हुए अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करना रहा है। समाज-निर्माण का

भी शायद यही लक्ष्य है। इस विन्दु पर आकर समाज और साहित्य दोनों का लक्ष्य एक हो जाता है और दोनों एक दूसरे के सम्पूरक वन जाते हैं। इस संदर्भ में साहित्य एक ओर समाज का दर्पण वनकर उसकी सवलताओं और दुर्वलताओं का यथार्थ चित्रण करता है, वुराइयों के प्रति वितृष्णा पैदा करता है और अच्छाइयों के प्रति रुचि जागृत करता है। दूसरी ओर साहित्य समाज के लिये दीपक के रूप में मार्गदर्शक वनता है। इस रूप में साहित्यकार केवल इस वात से सन्तुष्ट नहीं रहता कि 'हम कैसे हैं'—इसका चित्रण भर कर दिया जाय, वल्कि 'हमें कैसे होना चाहिए' इस आदर्श को भी वह रूपायित करना चाहता है। इन दोनों के युगपत चित्रण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी गई है। समता-समाज-रचना में साहित्यकार की यही दृष्टि उपादेय है।

पर दुःख इस वात का है कि आज का साहित्य पश्चिमी प्रभाव के कारण जीवन को पुरुषार्थ साधन के रूप में न देख कर समस्याओं के रूप में देखने लगा है। फलस्वरूप सृजना के स्थान पर अनुकरण और संस्कारशीलता के स्थान पर वृत्तियों को उभारने की व्यावसायिकता पनप रही है। भीतर की शक्तियों को संगठित करने के वजाय आज का तथाकथित सस्ता मनोरंजनात्मक साहित्य उन्हें बिखेरने में लगा है। फलतः भराव के स्थान पर विखराव, आस्था के स्थान पर निराशा, समता के स्थान पर विषमता और शान्ति के स्थान पर संघर्ष घर कर रहा है। साहित्य की इस प्रवृत्ति को रोकना होगा और इसके स्थान पर लोकहितवाही, संस्कारशील, जीवनोत्कर्षकारी साहित्यनिर्माण को बढ़ावा देना होगा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि ऐसे सत्साहित्य के निर्माण की गति रुक गई है पर यह अवश्य है कि ऐसा साहित्य आम आदमी तक पहुँच नहीं पा रहा है। ऐसे साहित्य को बोधगम्य और लोक सुलभ वनाने के हमारे प्रयत्नों में ही समता-समाज-रचना में साहित्य की भूमिका की सफलता-असफलता निर्भर है।

को तोड़कर प्राकृत साहित्य ने पूर्व से मागधी, उत्तर से शौरसेनी, पश्चिम से पैचाशी, दक्षिण से महाराष्ट्री आदि प्राकृतों को सहर्ष स्वीकार किया है। किसी भी साहित्य में भाषा की यह विविधता उसके समत्वबोध की ही द्योतक कही जायेगी।

शब्दगत-समता :

भाषागत ही नहीं, अपितु शब्दगत समानता को भी प्राकृत साहित्य में पर्याप्त स्थान मिला है। केवल विभिन्न प्राकृतों के शब्द ही प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, अपितु लोक में प्रचलित उन देशज शब्दों की भी प्राकृत साहित्य में भरमार है, जो आज एक शब्द–सम्पदा के रूप में विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं में कन्नड़, तमिल आदि के अनेक शब्द प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत के कई शब्दों का प्राकृतीकरण कर उन्हें अपनाया गया है। अतः प्राकृत साहित्य में शब्दों में यह विषमता स्वीकार नहीं की गयी है कि कुछ विशिष्ट शब्द उच्च श्रेणी के हैं, कुछ निम्न श्रेणी के, कुछ ही शब्द परमार्थ का ज्ञान करा सकते हैं कुछ नहीं। इत्यादि।

शिष्ट और लोक का समन्वय :

प्राकृत साहित्य कथावस्तु और पात्र-चित्रण की दृष्टि से भी समता का पोषक है। इस साहित्य की विषय वस्तु में जितनी विविधता है, उतनी और कहीं उपलब्ध नहीं है। संस्कृत में वैदिक साहित्य की विषय वस्तु का एक निश्चित स्वरूप है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में आभिजात्य वर्ग के प्रतिनिधित्व का ही प्राधान्य है। महाभारत इसका अपवाद है, जिसमें लोक और शिष्ट दोनों वर्गों के जीवन की झांकियाँ हैं। किन्तु आगे चलकर संस्कृत में ऐसी रचनाएँ नहीं लिखी गयीं। राजकीय जीवन और सुख-समृद्धि के वर्णक ही इस साहित्य को भरते रहे, कुछ अपवादों को छोड़कर।

प्राकृत साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास विषमता से समता की ओर प्रवाहित हुआ है। उसमें राजाओं की कथाएँ हैं तो लकड़हारों और छोटे-छोटे कर्म शिल्पियों की भी। बुद्धिमानों के ज्ञान की महिमा का प्रदर्शन है, तो भोले अज्ञानी पात्रों की सरल भंगिमाएँ भी हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय जाति के पात्र कथाओं के नायक हैं तो शूद्र और वैश्य जाति के साहसी युवकों की गौरवगाथा भी इस साहित्य में वर्णित है। ऐसा समन्वय प्राकृत के किसी भी ग्रन्थ में देखा जा सकता है। 'कुवलयमालाकहा' और 'समराइच्चकहा' इस प्रकार की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। नारी और पुरुष पात्रों का विकास भी किसी विषमता से आक्रान्त नहीं है। इस साहित्य में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जिनमें पुत्र और पुत्रियों

के बीच कोई दीवार नहीं खड़ी की गयी है। बेटी और बहू को समानता का दर्जा प्राप्त रहा है। अतः सामाजिक पक्ष के जितने भी दृश्य प्राकृत साहित्य में उपस्थित किये हैं, उनमें निरन्तर यह आदर्श सामने रखा गया है कि समाज में समता का उत्कर्ष हो एवं विषमता की दीवारें तिरोहित हों।

प्राणीमात्र की समता :

आध्यात्मिक क्षेत्र में समता के विकास के लिए प्राकृत साहित्य का अपूर्व योगदान है। प्राणीमात्र को समता की दृष्टि से देखने के लिए समस्त आत्माओं के स्वरूप को एक माना गया है। देहगत विषमता कोई अर्थ नहीं रखती है यदि जीवगत समानता की दिशा में चिन्तन करने लग जाएँ। सब जीव समान हैं, इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करने के लिए प्राकृत साहित्य में अनेक उदाहरण दिये गये हैं। परिमाण की दृष्टि से सब जीव समान हैं। ज्ञान की शक्ति सब जीवों में समान है, जिसे जीव अपने प्रयत्नों से विकसित करता है। शारीरिक विषमता पुद्गलों की बनावट के कारण है। जीव अपौद्गलिक है, अतः सब जीव समान हैं। देह और जीव में भेद-दर्शन की दृष्टि को विकसित कर इस साहित्य ने वैषम्य की समस्या को गहरायी से समाधित किया है। 'परमात्म-प्रकाश' में कहा गया है कि जो व्यक्ति देह-भेद के आधार पर जीवों में भेद करता है, वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जीव का लक्षण नहीं मानता। यथा—

देहविभेइयं जो कुणइ जीवहं भेउ विचित्तु।
सोण विलक्खणु मुणइ तहं दंसणु-णाणु-चरित्तु ।।१०२।।

अभय से समत्व :

विषमता की जननी मूल रूप से भय है। अपने शरीर, परिवार, धन आदि सबकी रक्षा के लिए ही व्यक्ति औरों की अपेक्षा अपनी अधिक सुरक्षा का प्रबन्ध करता है और धीरे-धीरे विषमता की खाई बढ़ती जाती है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही 'सूत्रकृतांग' में कहा गया है कि समता उसी के होती है जो अपने को प्रत्येक भय से अलग रखता है—

सामाइयमाहु तस्सजं जो अप्पाण भएण दंसए।
१-२-२-१७

अतः अभय से समता का सूत्र प्राकृत ग्रन्थों ने हमें दिया है। वस्तुतः जब तक हम अपने को भयमुक्त नहीं करेंगे तब तक दूसरों को समानता का दर्जा नहीं दे सकते। अतः आत्मा के स्वरूप को समझकर राग-द्वेष से ऊपर उठना ही अभय में जीना है, समता की स्वीकृति है।

विषमता की जननी व्यक्ति का अहंकार भी है। पदार्थों की अज्ञानता से अहंकार का जन्म होता है। हम मान में प्रसन्न और अपमान में क्रोधित होने लगते हैं और हमारा संसार दो खेमों में बंट जाता है। प्रिय और अप्रिय की टोलियाँ बन जाती हैं। प्राकृत के ग्रन्थ यहीं हमें सावधान करते हैं। 'दशवैकालिक' का सूत्र है कि जो वन्दना न करे, उस पर कोप मत करो और वन्दना करने पर उत्कर्ष (घमंड) में मत आओ—

जे न वन्दे न से कुप्पे वन्दिओ न समुक्क से।
५-२-३०

तो तुम समता धारण कर सकते हो।

अप्रतिबद्धता : समता

समता के विकास में एक बाधा यह बहुत आती है कि व्यक्ति स्वयं को दूसरों का प्रिय अथवा अप्रिय करने वाला समझने लगता है। जिसे वह ममत्व की दृष्टि से देखता है उसे सुरक्षा प्रदान करने का प्रयत्न करता है और जिसके प्रति उसे द्वेष पैदा हो गया है, उसका वह अनिष्ट करना चाहता है। प्राकृत साहित्य में इस स्थिति से बहुत सतर्क रहने को कहा गया है। किसी भी स्थिति या व्यक्ति के प्रति प्रतिबद्धता समता का हनन करती है अतः 'भगवती आराधना' में कहा गया है कि सब वस्तुओं से जो अप्रतिबद्ध है (ममत्वहीन) वही सब जगह समता को प्राप्त करता है—

सव्वत्थ अपडिबद्धो उवेदिं सव्वत्थ समभावं।
(भ० आ० १६८३)

समता सर्वोपरि :

समता की साधना को प्राकृत भाषा के मनीषियों ने ऊँचा स्थान प्रदान किया है। अभय की बात कहकर उन्होंने परिग्रह-संग्रह से मुक्ति का संकेत दिया है। भयातुर व्यक्ति ही अधिक परिग्रह करता है। अतः वस्तुओं के प्रति ममत्व के त्याग पर उन्होंने बल दिया है, किन्तु समता के लिए सरलता का जीवन जीना बहुत आवश्यक बतलाया गया है। बनावटीपन से समता नहीं आयेगी, चाहे वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में हो। यदि समता नहीं है, तो तपस्या करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, मौन रखना आदि सब व्यर्थ है—

किं काहदि वणवासो कामक्लेसो विचित्त उववासो।
अज्झय मोणयहुदी समदारहियस्स समणस्स ।।
(नियमसार० १२४)

प्राकृत साहित्य में सामायिक की वहुत प्रतिष्ठा है। सामायिक का मुख्य लक्षण ही समता है। मन की स्थिरता की साधना समभाव से ही होती है। तृण-कंचन, शत्रु-मित्र, आदि विषमताओं में आसक्ति रहित होकर उचित प्रवृत्ति करना ही सामायिक है। यही समभाव-सामायिक का तात्पर्य है। यथा—

समभावो सामाइयं तण-कंचण सत्तु-मित्त विसउत्ति।
णिरभिसंगंचित्तं उचिय पवित्तिप्पहाणं च॥

इस तरह प्राकृत साहित्य में समता का स्वर कई क्षेत्रों में गुंजित हुआ है। आवश्यकता इस वात की है कि उसका वर्तमान जीवन में व्यवहार हो। आज की विकट समस्याओं से जूझने के लिए समता-दर्शन का व्यापक उपयोग किया जाना अनिवार्य हो गया है।

४६
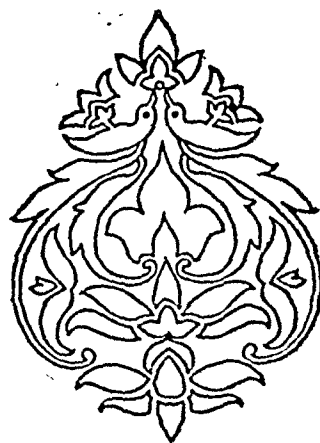
लोक-साहित्य में समता-समाज की गूंज

□ डॉ० महेन्द्र भानावत

मन में समता धारना और समता रखना वड़ा मुश्किल है । यही मुश्किल विषमता का कारण है । अनपढ़ों की वात छोड़ दें, मैंने तो कई पढ़े-लिखे, सभ्य-सुसंस्कृत कहे जाने वाले परिवारों में भी रात-दिन की होनेवाली चिक्-चिक् सुनी है, और कई वार जव उसकी तह में जाने का प्रयत्न किया तो हाथ कुछ नहीं आया । कोई खमस खाने को तैयार नहीं तो समता कहाँ से आयेगी ? यदि समता नहीं है तो शांति भी नहीं है, और जहाँ ये नहीं हैं वहाँ अच्छा कुछ नहीं है । समता को मैं सुख, समृद्धि और शांति का 'पाया' समझता हूँ । आप जितने समतावान हैं उतने ही सुखी हैं । आपका जीवन शांतिमय है और आप समृद्ध हैं । जो केवल पैसे से अपनी समृद्धि आंकता है वह तन से तरा-तृप्त है पर मन से उतना ही रिक्त है । इसलिये यदि मन हमारा भरेगा नहीं तो भरा हुआ तन भी बोझिल लगेगा ।

यदि हमें समता चाहिये तो अपने आपको मन से जोड़ना होगा । तन से जुड़ा व्यक्ति तिनका हो सकता है जो किसी को जन्म नहीं दे सकता अपितु जो स्वयं ही अर्थहीन मरण होता है पर मन से जुड़ा व्यक्ति उस 'कलम' की तरह है जिसे लगाने पर पौधा तैयार होता है । सुख-दुःख तो मन का है । मन को मनाइये । मन यदि मान गया तो फिर रगड़ा कुछ नहीं रहा । वच्चा वारवास जाता है तो माँ भलावण देती है—तेरा मन माने सो करना, क्योंकि वह जानती है कि मन हमेशा सही होता है । उसे जो सही सुन-समझ लेता है, वह कहीं भी

भटकता नहीं है। इसलिये वह बच्चे का ध्यान मन पर केन्द्रित करती है। मन चंगा है तो हमारे आंगन में गंगा है। मन चंगा नहीं है तो गंगा भी गोते जैसी लगती है।

सुखी परिवार और सुखी समाज का समता एक बीज-मंत्र है। सबके साथ समभाव और सम दृष्टि हो, बराबरी की भावना हो; यही सफल जीवन का मूल मंत्र है पर ऐसा होता नहीं है। जहाँ नहीं होता है वहाँ विसंगति और विच्छृंखलता है, वहाँ परिवार टूटा हुआ है। यह टूटन एक प्रकार की मारक घुटन पैदा करती है। कई आत्महत्याएँ इसी कारण होती हैं। अधिकतर लड़ाई-झगड़ों का मूल भी यही मिलेगा।

लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति और लोक-कलाओं से जुड़ी जितनी भी विधाएँ हैं उन सब में समता भाव ही प्रमुख रूप से उभरा हुआ मिलता है। वहाँ कोई भेदभाव नहीं है। ऊँच-नीच की वहाँ ऊँचाई-नीचाई नहीं है। वहाँ ऊँचे कहे जानेवाले को ऊँचा फल नहीं मिलता। उसके लिये भी प्रतिष्ठा-पूजा-अर्चना का वही विधान है जो दूसरों के लिये है। यह लोक-भूमि ऊँच-नीच और समृद्धि-ऐश्वर्य के भेदभावों से सदैव ऊपर रही है। यहाँ सब समान हैं। जितने भी वार-त्यौहार-व्रत कथाएँ और अनुष्ठान हैं उन्हें मनाने-पूरने के सभी बराबर हक रखते हैं और फल तथा कामना के भी सब समान भागी हैं। मैंने भील, भंगी, धोबी, राजपूत, गोंछा, बलाई, तंबोली, ब्राह्मण, बनिया सभी जाति की लड़कियों में सांझी के अंकन मंडते देखे हैं। एक से गीत, एक से अनुष्ठान। कितनी समता-समानता है इनमें! इस भाव का जितना विस्तारा होगा, उतना ही सुख बढ़ेगा और दुःख बंटेगा।

पहले जैसा भरापूरा परिवार अब कहाँ रहा? मेरी दृष्टि में अब कोई विरला ही हो जो वैसे परिवार में सुख शांतिपूर्वक रह सके। यदि उसी तरह का परिवार हो तो प्रतिदिन ही भारत–महाभारत स्मरण हो आये। परन्तु पहले कितनी विशाल भावनायें थीं। सबके सब साथ रहते थे पर कहीं तीसरा कान नहीं सुन पाता था कि कोई अठीक घटना घटी हो। आज छोटे-छोटे परिवारों में भी मुश्किल से ठीक घटनायें घट पाती हैं। लोक-साहित्य में बारह परिवारों का उल्लेख आता है। व्यक्ति स्वयं अपना, अपने परिवार का ही तालाकुंची सनद नहीं रखना चाहता था वह अपने बारहों परिवार की कुशलक्षेम और कल्याण मंगल चाहता था। यह बारह परिवार मिलकर एक अच्छा-खासा परिवार कहलाता था। यह परिवार था—भाई, भतीजा, बेटा, पोता, बहिन, भाणेज, बेटी, दोहता, सास, ससुर, साला और साली का। समता का इनसे बढ़कर अच्छा पारिवारिक उदाहरण और क्या मिल सकेगा?

लोक-गीतों में वर्णन आता है कि ऐसा भरापूरा परिवार बड़ा आनंददायी है। इसमें रहने वाले बड़े मौजी हैं। बहू इस परिवार की धुरी होती है। यह सही भी है। बहू यदि उस परिवार में सुखी है तब ही तो वह परिवार अच्छा कहलायेगा। पराई जाई जिसे पराया न समझे, जिसे वहाँ परायापन महसूस न हो, सब अपना ही अपना लगे, उसी परिवार का समभाव सराहनीय है। गीत में बहू कहती है—हमारे घर में मौज लगी हुई है। देवर भेड़ों को चराता है, जेठजी ऊँटों को चराते हैं, ननद बछड़ों को चराती है, पति गायों-भैंसों की रखवाली में लगे हैं। ससुरजी घर के राजा हैं, जो मुख्य द्वार पर बैठे हैं, सास घर की मालकिन है, बहुएँ जिनकी आज्ञा में रहकर काम करती हैं। आंगन में बेटी खेलती है, बेटा दूध चूंखता है, देवरानी पीसती है, जेठानी भोजन बनाती है और फिर सब आंगन में जीमने बैठते हैं। कितना बड़ा कुटुम्ब है ! कितनी समता है इस कुटुम्ब में ! कितनी रसता उमड़ पड़ती है हमारे मन में !!

यह तो कुटुम्ब-परिवार की बात हुई पर समाज में सब एक जैसे तो होते नहीं। छोटे अधिक और बड़े कम होते हैं, परन्तु फिर भी छोटों में किसी प्रकार की हीनता नहीं रहती है। ईर्ष्या भाव भी उनमें जागृत नहीं होता है। वे उनकी महल मालिया, श्री-संपन्नता को अपनी कुटिया-झोंपड़ियों से तोलकर दुःखी नहीं होते अपितु अपने राम का संतोष पा लेते हैं। बनवारीलाल नामक एक लोक-गीत में संपन्नता में जीनेवाले कृष्ण से किसान परिवार अपने जीवन की तुलना कर मन-ही-मन मुदित हो रहा है और अपने को उससे किसी कदर कमजोर नहीं मानकर बराबरी का भाव लिये है।

किसान कहता है—बनवारीलाल ! हम तुम्हारे सहारे-भरोसे नहीं हैं। तुम्हारे ये महल मालिये हैं तो हमारे भी टूटी टपरी है। हम तुम्हारी बराबरी में पीछे नहीं हैं। तुम्हारे कामधेनुएँ हैं तो हमारे भी भैंसे-पाड़ियाँ हैं जो किसी कदर कम नहीं हैं। तुम्हारे यदि हाथी-घोड़े हैं तो हमारे भी ऊँट-सांडनी हैं। हम तुम्हारी बराबरी में हैं। तुम्हारे तोकस तकिये हैं तो हमारी भी अपनी फटी गुदड़ी है। हे बनवारी ! हम तुम्हारे भरोसे नहीं हैं। कितना उजला स्वाभिमान और दर्पण सा भोला मन है ! कितना सहकार, सौहार्द और समता का स्वर्ण-भाव है !! ऐसा मन-जीवन कितना उन्नत, विराट और मुक्त मस्त होता होगा !! कितने ऊँचे भाव ! कितनी सच्ची आशाएँ ! और कितनी अमोल अभिलाषाएँ !!

बहू तो बाहर से आती है। पराये घर से लाई जाती है पर सुलक्षणे परिवार को पाकर वह सुलक्षणा कैसे नहीं होगी ? लोक-गीतों में सास परीक्षा लेती है बड़ी चालाकी से पर बहू समतावान जो ठहरी। वह कितने सहज सुन्दर ढंग से सास की चाह को चार चाँद लगा देती है। बसंत में सास कहती है बहू

को कि वह तुम्हारे तो अभी ओढ़ने-पहनने के दिन हैं। जब से आई हो कभी अच्छे ओढ़ाव-पहनाव का न सुख तुमने लिया न हमें ही दिया। आज जरा अपने गहने तो पहनकर दिखाओ ! बहू इसका उत्तर देती हुई कहती है—सासूजी, मेरा यह भरापूरा परिवार ही मेरा ओढ़ना-पहनावा है। इस परिवार से बढ़कर मेरा और क्या गहना हो सकता है ?

सास नहीं समझ पाई। बोल उठी 'सो कैसे बहू ?' बहू ने कहा—मेरे ससुर गढ़ के राजवी, आप सास रत्नों की भंडार, जेठजी मेरा बाजूबंद और जेठानी उस बाजूबंद की लूंब। देवर मेरे हाथीदांत के चूड़ले और देवरानी उस चूड़ले की मजीठ। नणद मेरी कसूमल कांचली और नणदोई गजमोतियों का हार। पुत्र मेरा घर का चानणा और पुत्र-वधू दीपक की लौ। पुत्री मेरी हाथ की मूंदड़ी तथा जंवाई चंपे का फूल। पति मेरा सिर का सेवरा और मैं शैय्या-सिणगार। कितनी उदात्त भावना है।

लोक-साहित्य में ऐसे अनेकानेक घटना-प्रसंग हैं जो समग्र वसुधा को समभावी समरूपा नजर से बखानते हैं। आज केवल ये गीत और उनके बोल ही कोरे रह गये हैं। हमारा समाज अपनी इस पारम्परिक सामाजिक सुसंस्कृत विरासत से बहुत कुछ सीख ले सकता है। इन गीतों की बातों को हम सार्थकता दें। इनका जो चुपड़ापन था वह जाता रहा। हमें चाहिये कि हम फिर से उन्हें चोपड़ायें, समता भाव को अधिकाधिक सार्थकता दें।

४७
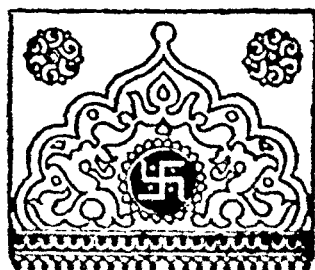
समता–समाज–रचना की प्रक्रिया

□ डॉ० नेमीचन्द्र जैन

समता-समाज की पहल नैसर्गिक :

समत्व क्या है ? माटी-कांचन, महल-कुटिया, अमीर-गरीब, सुखी-दुःखी सबको एक तुला पर तोलना समत्व है, या इसका कोई और गहरा अर्थ है। उक्त द्वन्द्व वस्तुतः आभ्यन्तर में प्रकट हुए समत्व के स्थूल आकार हैं। जब आदमी भीतर से संगठित होता है, अपने को बुहारता है, अपने कलुष को विदा करता है, अपनी बुराइयों पर प्रहार करता है, अपने मनोविकारों के खिलाफ मोर्चा-बन्दी करता है, तब उसे भीतर-बाहर की अनेकानेक विषमताओं से जूझना पड़ता है। तब वह जान पाता है कि जो जीवन वह अब तक जीता आ रहा है वह तो दोगला था, विषम था, दुई और द्वैत का जीवन था। वह करता कुछ था, कहता कुछ था; उसके चरित्र में धोखा था, छल था; वह अन्यों के लिए निष्कण्टक नहीं था। इसलिए जब हम दूसरों के लिए निरापद और निष्कण्टक होने की चेष्टा करते हैं तब वस्तुतः हमारे क़दम समत्व की ओर उठे हुए होते हैं। जो समत्व की दिशा में उद्ग्रीव है, वह भेद-भाव कर ही नहीं सकता। भेद किसमें— प्राणि-प्राणि में, मनुष्य-मनुष्य में; किस आधार पर—सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक आधार पर। ये सारे तो मानवकृत हैं, मनुष्य के बनाये हैं; नैसर्गिक नहीं हैं। हवा यह भेद नहीं करती, वसुन्धरा यह भेद नहीं करती, धूप यह भेद नहीं करती, जल यह भेद नहीं करता, आसमान कब किसी की जात पूछता है। व्यापकता कभी किसी में भेद नहीं करती, यदि ऐसा हो तो आसमान टूक-टूक हो गिरे और हिन्दू आसमान, मुस्लिम आसमान, जैन आसमान, पारसी

समत्व-बोध आत्म-बोध का ही नामान्तर :

कहा जा सकता है कि समत्व को पाना कठिन है। कठिन भले ही वह है, असंभव निश्चित ही नहीं है। वात यह है कि हम समत्व में जन्म लेते हैं, और जिसे हम विरासत में पाते हैं उसे ही भूल से विगलित कर बैठते हैं, और क्रमशः वैषम्य को सीखने लगते हैं। विषमता हमारा स्वभाव नहीं है, समता हमारा स्वभाव है; वैषम्य विभाव है, साम्य स्वभाव। इसलिए इसे अलग से सीखने की जरूरत नहीं है। जो चीज पहले से भीतर मौजूद है, मात्र जिसका पता नहीं है, उसे खोजकर जानने की आवश्यकता मात्र है; अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि समत्व-बोध आत्मबोध का ही नामान्तर है। इसलिए समता-समाज रचना का 'क' हुआ आत्मबोध। आत्मशोध से आत्मबोध तक की यात्रा समता-स्थापना की यात्रा ही है। और फिर मजा यह है कि जो एक वार समत्व का स्वाद पा जाते हैं, उन्हें ऐसा चटखारा लगता है कि फिर वे उसे कभी छोड़ नहीं पाते। अच्छे-अच्छे श्रमण समत्व-बोध से वंचित रह जाते हैं, और एक अदना-सा श्रावक स्वाध्याय या तप में क्षण भर आंखें खोलकर उस आनन्द में अवगाहन कर लेता है। सारी स्थिति सूक्ष्म है। 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ' वाली बात यहाँ चरितार्थ होती है।

अनुभूति एक : अभिव्यक्तियाँ अनेक :

हो सकता है कुछ लोग पूछ बैठें कि क्या जैन-धर्म ने समत्व की ओर कोई कदम उठाया है? उत्तर है बहुत छोटा किन्तु वहुत सार्थक कि जैन-धर्म का एक-एक रग-रेशा समत्व की ओर ही पुरश्चरित है। उसकी सारी लड़ाई सम की है। पुद्गल विषम है, आत्म तत्त्व से उसकी कोई समता नहीं है, अतः उसके विगलन के लिए ही उसका सारा आयोजन है। इस संयोजन में अनुभूतियों के जो वातायन उसमें खुलते हैं वे उसे समत्व की ओर ही ले जाते हैं। समत्व एक अनुभूति है, अभिव्यक्तियाँ जिसकी अनेकानेक हो सकती हैं। वह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक किसी भी क्षेत्र में आकर प्रकट हो सकती है। जैनाचार में वर्णित पंच अणुव्रत, दश धर्म इत्यादि समत्व के ही आयोजन हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य समत्व के ही प्रवर्तन हैं, इतने सशक्त ये हैं कि इनमें से किसी एक का अनुधावन संपूर्ण की उपलब्धि है। उसी तरह क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य भी समत्व की रचनात्मक भूमिकाएँ हैं। इनमें से किसी एक रस्सी को पकड़कर समता के महल की अन्तिम मंजिल तक पहुँचा जा सकता है। क्षमा के माध्यम से सारी समता-समाज रचना संभव है।

खुद बना खुद का चिराग :

कभी किसी ने प्रश्न किया था, मुझे याद है, कि क्या जैन-धर्म की

...नहीं है ? तब उत्तर में मैंने कहा था—कई बार ऐसा होता है कि प्रश्न का उत्तर—उत्तर न होकर प्रश्न ही होता है इसलिए मुझे पूछना चाहिये कि जब आप जानते थे तो आपने इसकी पुष्टि के लिए ऐसा प्रश्न किया ही क्यों ? समत्व जैन-धर्म का पर्याय शब्द है। जो जीतता है वासनाओं को वह जानने लगता है, और जानना, सम्यक् जानना ही मुक्ति का पहला सोपान है। जानने में सर्वत्र समत्व है। ज्ञान की सीढ़ियाँ चढ़कर आनेवाला समत्व कभी अपूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए समता-समाज रचना का 'ख' हुआ 'ज्ञान या स्वाध्याय।' जो जानेगा स्वयं को, वह स्वयं की रोशनी स्वयं बनेगा। महावीर ने कहा भी है 'खुद बना खुद का चिराग—अप्प दीपो भव'। इसलिए जो जानेगा वह समतावान बनेगा। समता की कोख में ज्ञान है और ज्ञान वैषम्य का परिहार है।

सिद्धान्त में जो जानें, व्यवहार में उसे प्रकट करें :

एक सवाल जो इस लेख के मध्य में उठाया जाना चाहिये वह यह कि हम सैद्धान्तिक समत्व की अपेक्षा व्यावहारिक समत्व की ओर ध्यान दें। चर्चा में समत्व कोई महत्त्व नहीं रखता। समत्व पर शास्त्रार्थ हम करें, और वैषम्य का आचरण करें तो यह दुई हमें स्वयं को किसी क्षण ललकार सकती है। पिछले दिनों हुआ यह है कि हमने चर्चा-समीक्षा समत्व की अनगिन की है, किन्तु आचार में कहीं उसे प्रतिबिम्बित नहीं किया है। कथनी में हम उसे लाये हैं, करनी में उसे अनुपस्थित रखा है। बात हमने की है, काम हमने नहीं किया है। धर्म का क्षेत्र कर्म क्षेत्र है, बकवास का क्षेत्र वह नहीं है। भगवान् महावीर बारह वर्ष मौन रहे, कर्मरत रहे, साधना-तल्लीन रहे; कर्म में ही स्वयं को प्रतिबिम्बित रखा। उनके चरित्र में कहीं कोई दुई नहीं थी। समत्व को उन्होंने जिया। रिश्तों के प्रति वे जितने विनम्र थे शत्रु के प्रति उतने ही विनयवान थे। उनकी करुणा सबपर एक-सी थी। वह बरसती थी तो एक सजल मेघ-सी जो कभी यह कहाँ पूछता है कि वह ईख पर बरसे या नीम पर, आम पर बरसे या नीबू पर; उसे निष्पक्ष बरसना होता है, समत्व में बरसना होता है, यही स्थिति महावीर की थी, उनकी करुणा की थी; वह बिना किसी भेद-भाव के बरसती थी। इसलिए समता-समाज रचना का 'ग' होगा सिद्धान्त में हम जानें किन्तु व्यवहार में हम उसे प्रकट करें। हमारे प्रतिपादन में और चरित्र में एकता होना जरूरी है। समता-समाज के प्रवर्तकों या उद्घोषकों को इस बात का ध्यान रखना होगा कि जो वे कह रहे हैं, वह उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में प्रकट हो रहा है। समता-समाज की घड़न में इसका बेहद महत्त्व है।

सहिष्णुता का पड़ाव :

समता-समाज रचना की प्रक्रिया में एक पड़ाव सहिष्णुता का भी

यदि हम सह नहीं सकते तो समता का बोध हमें हो, यह आवश्यक नहीं है; जो अन्धकार को सह सकता है वही प्रकाश की अनुभूति कर सकता है; जो अन्याय सहता है, वह क्रान्ति का नेतृत्व करता है, जिसने जाना नहीं है, उसके विरोध में कोई ऊर्जा और स्फूर्ति जन्म ही नहीं लेगी। सहने का मतलब होगा रहना, यानी अस्तित्व की रक्षा। सहना या सहिष्णुता एक तरह का कवच है जिससे आदमी बना रहता है, किन्तु इस सहने से यह मतलब न निकाला जाए कि जुल्म सहे जाएँ, शोषण सहा जाए, या कोई बद-चलनी सही जाए; इस सहने का सीधा अर्थ है साधना में जो कुछ सहने को हो उसे सहो। यदि कोई भूखा है और हमारे पास आहार इतना ही है कि हमारा उदर मात्र भरता है तो हमें इतनी भूख तो सहनी ही होगी जिससे दूसरे का भी आधा या पूरा पेट भर जाय। होता तो यह है कि सहनशीलता के क्षेत्र में हमारा पेट भूखे रहकर भी भर जाता है। इसे सहिष्णुता कहा जाएगा चूंकि इसका एक गर्भ द्वार आत्मानन्द भी है। इसलिए हम कहेंगे कि समता-समाज की रचना-यात्रा में 'घ' है, सहिष्णुता।

इस तरह समता-रचना की रचना-यात्रा आत्मबोध से शुरू होकर सहिष्णुता के पड़ाव तक पहुँचती है। यहाँ 'आत्मबोध' 'ज्ञान' का और 'सहिष्णुता' 'सर्वबोध' के प्रतिनिधि शब्द हैं।

४८
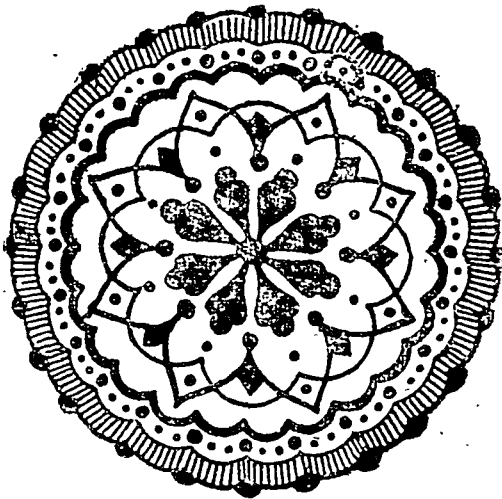
समता-तत्त्व के प्रसार में आचार्य नानेश का योगदान

□ श्री ज्ञानेन्द्र मुनि

विषमता का ज्वालामुखी सर्वत्र प्रज्वलित हो रहा है। मानव जीवन अशान्त, विक्षिप्त और विश्रृंखल हो विकृति के गर्त की ओर अग्रसर हो रहा है। अमावस्या की रात्रि के घने अंधकार की तरह विषमता व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व तक विस्तृत होकर, मानव हृदय की सुजनता तथा शालीनता का नाश करती हुई, प्रलयकारी विकराल दृश्य उपस्थित कर रही है।

विषमता का उद्भव :

सर्व विनाशिनी इस विषमता का मूल उद्भव स्थल मानव की मनोवृत्ति है। जिस प्रकार वट वृक्ष का बीज राई के समान सूक्ष्म होता हुआ भी उपयुक्त साधन मिलने पर विशाल रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार मानव की मनोवृत्ति से समुत्पन्न विषमता का बीज भी हर क्षेत्र में अपनी शाखा-प्रशाखाएँ प्रसारित कर देता है, जिससे दमन, शोषण और उत्पीड़न की चोटें सहन करता हुआ प्राणी चैतन्य से जड़त्व की ओर बढ़ता जाता है।

धरती की समानता तथा सर्वत्र एक रूप से वर्षा होने पर भी धरा के अंचल में एक ओर सुस्वादु इक्षु व दूसरी ओर मादक अफीम का [illegible] तो इसका अनुभव किया होगा कि [illegible] जीवन-क्षेत्र में [illegible] है [illegible]

मृत्यु का कारण। इसी प्रकार दो हृदय एक से होने पर भी यदि एक में समता का और दूसरे में विषमता का बीज वपन किया जाय तो दोनों की अवस्था गन्ने एवं अफीम के सदृश्य होगी। समता जीवन का सर्जन करती है तो विषमता जीवन की मानसिक, वाचिक, कायिक अवस्था को विषमय करती हुई, उसको विनाश के कगार पर पहुँचा देती है। कहा है—

अज्ञान कर्दमे मग्नः जीवः संसार सागरे।
वैषम्येण समायुक्तः, प्राप्तुमर्हति नो सुखम् ।।

अर्थात्—संसार-सागर में अज्ञान रूपी कीचड़ में लीन, विषमता से युक्त जीव कभी भी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है।

अतः मानव समाज में जितने भी दुर्गुण हैं, वे सभी विषमता की जड़ से ही उत्पन्न हुए हैं और मानव के द्वारा सिंचित होकर विराटता का रूप धारण कर रहे हैं।

महावीर का समता सिद्धान्त :

भगवान् महावीर ने कहा कि सभी आत्माएँ समान हैं। सभी को जीने का अधिकार है। कोई भी किसी की सुख-सुविधा का अपहरण नहीं कर सकता। जिस प्रकार चोरी करने वाला दण्डित किया जाता है, क्योंकि उस वस्तु पर उसका अधिकार नहीं है, वैसे ही किसी अन्य के जीवन, इन्द्रिय, शरीर पर किसी का कोई अधिकार नहीं है। सभी को समान रूप से जीने का अधिकार है। अतः किसी का प्राण व्यपरोपणादि करना अपराध है। एतदर्थ भगवान् का मूल उद्घोष है—'जीओ और जीने दो' इस सिद्धान्त को ज्ञान आचरणपूर्वक अपनाने से अवश्य ही जीवन में समता रस की प्राप्ति हो सकती है।

आचार्य नानेश द्वारा समता-प्रसार :

विषमता के इस वातावरण में व्यक्ति और विश्व के जीवन में शान्ति का सौरभमय वातावरण उपस्थित करने के लिये आचार्य नानेश द्वारा समता का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है। सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों की, चाहे वे ऋद्धिवान् हों या निर्धन, सेठ हों या किंकर, तिर्यंच हों या मनुष्य, देव हों या नारकी, गुरु हों या शिष्य, सभी की आत्मा समान है। कर्मावरण से किसी की आत्मा अधिक आच्छादित है तो किसी की अल्प किन्तु आत्म विषयक विभेद नहीं है। 'स्थानाङ्ग सूत्र' में भगवान् ने स्पष्ट फरमाया है—'एगे आया' आत्मा एक है।

आत्मा की समानता का ज्ञान सुगमता से करने के लिये एक दीपक का

प्रदान किया जाता है। जिस प्रकार दीपक कमरे में रखा हुआ प्रकाशित करता रहता है, वैसे ही उसे छोटे से छोटे स्थान में स्थापित करने पर भी उसके प्रकाश में कोई व्याघात की स्थिति नहीं आती। डिब्बे में स्थित किया जाएगा तो वह उसी स्थान को प्रकाशित करेगा, बाहर नहीं। वैसे ही आत्मा को कदाचित् पिपीलिका का शरीर प्राप्त होगा तो वह उसी शरीर में व्याप्त हो जाएगी, बाहर नहीं। उसे हाथी का शरीर प्राप्त होने पर दीपक के प्रकाश की भांति वह संपूर्ण उस देह में व्याप्त हो जाएगी। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, विकलेन्द्रिय, पशु-पक्षी, मनुष्यादि में भी जानना चाहिये। इसमें सुख-शान्ति की अभिलाषा रखने वाले मानव को चाहिये कि वह सम्पूर्ण जीव जगत् पर समता का सुभाव रखे। आचार्य नानेश ने समता के चार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—[1]

(१) सिद्धान्त-दर्शन
(२) जीवन-दर्शन
(३) आत्म-दर्शन
(४) परमात्म-दर्शन

(१) सिद्धान्त-दर्शन—समता का सैद्धान्तिक स्वरूप है कि सम-सोचें, सम-जानें, सम-मानें, सम-देखें, सम-करें। जीवन के प्रत्येक कार्य में समभाव का होना अत्यन्त आवश्यक है। एतद् विषयक एकता के लिये भोगविलास से हटकर जीवन में त्याग-वैराग्य संयमित अवस्था की अपेक्षा है। संयम से तात्पर्य कुण्ठित होना ही नहीं, किन्तु मन-इन्द्रियों को संयमित-सुरक्षित रखना है। मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि पहुँचने पर राग-द्वेष की भावना उत्पन्न न करना, श्रोत्रेन्द्रिय को संयमित करना है। इसको वश में न करने से बहुत अनर्थ होने की संभावना रहती है। महाभारत का युद्ध इसी का परिणाम है। द्रौपदी ने दुर्योधन से यही कहा था कि 'अंधे के पुत्र अंधे ही होते हैं।' इस शब्द के तीव्र व्यंग्य-बाण का आघात दुर्योधन सहन नहीं कर सका जिससे कि हजारों-लाखों निरपराध प्राणियों का संहार हो गया। अतः श्रवणेन्द्रिय को वशीभूत रखना आवश्यक है। इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के आगे किसी भी प्रकार का अच्छा बुरा, श्लील-अश्लील चित्र आए, नाक में अच्छी या बुरी गंध आए, जिह्वा द्वारा खट्टा-मीठा कोई भी स्वाद आए, शरीर का स्पर्श कठोर या रूक्ष हो, राग-द्वेष की उत्पत्ति न होना समता का सच्चा स्वरूप एवं सिद्धान्त है। कहा है—

गृह्णातिहृदि भद्रेण, त्यागवैराग्य संयमम्।
लभते सम सिद्धान्तं, जीवनोन्नति कारकम्॥

१—विशेष विवरण के लिए देखें आचार्यश्री की 'समता-दर्शन और व्यवहार' पुस्तक।

अर्थात्—त्याग, वैराग्य, संयम को सरलता से हृदय में जो ग्रहण करता है, वह जीवन उन्नतिकारक समता सिद्धान्त को प्राप्त करता है।

(२) **जीवन-दर्शन**—विषमता के घने अन्धकार में समता की एक ज्योति ही आशा का संचार करती है। जिस प्रकार एक दीपक अनेक दीपकों को अपनी शक्ति से प्रज्वलित कर देता है, वैसे ही सज्जन ज्ञान सहित आचरण से स्वयं के जीवन को प्रज्वलित करते हुए अनेकों के जीवन का भी नव-निर्माण करते हैं। इसके लिए व्यक्ति में पहले समता भाव होना परमावश्यक है। समता भाव की साधना के लिये सप्त कुव्यसनों का त्याग करते हुए जीवनोपयोगी, आत्म-दर्शन की साक्षात् कराने वाली उपादेय वस्तुओं का आचरण यथा-शक्ति करना चाहिये। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के सिद्धान्त को समक्ष उपस्थित कर जीवन का सर्जन करना समता का द्वितीय सोपान जीवन-दर्शन है। कहा भी है—

पलं सुरापणाखेयै, चौर्यं वेश्यापराङ्गना।
सप्तव्यसनसंत्यागः, दर्शनं जीवनस्य तत ॥

अर्थात्—सप्त कुव्यसनों का आचरण नहीं करना तथा जीवन को सदा सादा, शीलवान, अहिंसक बनाये रखना समता-जीवन का दर्शन है।

(३) **आत्म-दर्शन**—जब जीवन पूर्णरूप से संयमित हो जाता है तब आत्म-दर्शन की अवस्था प्राप्त होती है। एक मानव शरीर, जिसे हम चैतन्य कहते हैं, उसमें तथा अपर मृत मानव शरीर में क्या अन्तर है? एक क्षण पूर्व जिसकी इन्द्रियाँ सजग एवं जागरूक थीं, मन चिन्तन में रत था, वचन से शब्द परिस्फुटित हो रहे थे, काया से परिस्पन्दन हो रहा था, दूसरे ही क्षण हृदय गति रुकी और वह मृत हो गया। निष्कर्ष यह कि चेतना शक्ति जब तक शरीर के अन्दर रहती है, तब तक देह का संचार चलता रहता है। ज्योंही चेतना शक्ति शरीर से बाहर निकल जाती है, तत्क्षण शरीर को मृत कहा जाता है। पौद्गलिकता के कारण शरीर की उत्पत्ति तथा विनाश होता रहता है, जिसे मृत या जीवित की संज्ञा दी जाती है, किन्तु आत्मा का न कभी नाश हुआ है न कभी उत्पत्ति। वह अनादि काल से एक रूप में चली आ रही है। कर्म की विचित्रता से सूर्य पर मेघपटल की तरह आवरण आता रहता है जिससे चैतन्य प्रकाश आच्छादित हो जाता है। कर्म के क्षयोपशम होने पर पुनः प्रकट सूर्य की तरह चैतन्य-प्रकाश प्रकट हो जाता है, किन्तु आत्मा सदा तिर्यंच, मनुष्य, नरक, देव और भूत, भविष्य, वर्तमान में एक समान रहती है। वह अपने कर्मों का स्वयं कर्ता-भोक्ता है, यह प्रमाणों से सिद्ध है। कहा भी है—

सिद्धान्तों, व सूत्रों का जो कोई भी व्यक्ति जीवन में आचरण करेगा, वह अवश्य-मेव शान्ति, सुख और आनन्द की अनुभूति कर सकेगा, इसी भावना के साथ—

वैपम्येणा जनस्यचित्त कमले स्थातुं क्षमा नो क्षमा,
ज्ञात्वा जीवन प्रोन्नतेः सुसमता सिद्धान्तकं संसृतौ ।
चातुर्येणवरांगनां विपमता-मुच्छिद्य प्राचारितं,
तन्नानेशगुरौ सुभावसुमनं ज्ञानार्पितं राजताम् ।।

अर्थात्—विशमता के कारण हृदय-कमल में क्षमा ठहरने में समर्थ नहीं हुई, ऐसा जानकर चातुर्य से विलासिनी विपमता का नाश करके, सम्यक् समता (सिद्धान्त, जीवन, आत्म, परमात्म) सिद्धान्त को सृष्टि में प्रचारित किया, ऐसे नानेश गुरु के चरण-वंचरीक मुनि 'ज्ञान' द्वारा अर्पित सुभाव-सुमन शोभित हों।

४९
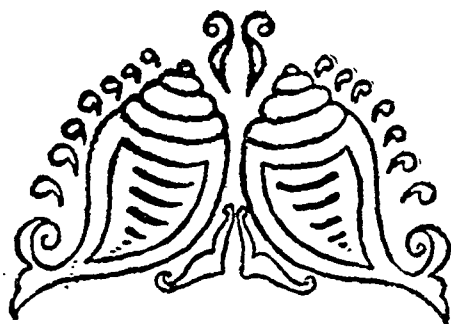
समता–समाज और धार्मिक संगठन

□ श्री जवाहरलाल मूणोत

समता से हम क्या समझते हैं ?

मुझे डर है कि 'समता' शब्द के सही अभिप्राय को समझने में भी, हम सबका शायद एकमत न हो। जैन साहित्य में समता बहुत व्यापक अर्थों में काम में लाया जाता है। आधुनिक जैन आचार्यों ने भी जैन धर्म और दर्शन की व्याख्या करते हुए, समता शब्द पर खूब जोर दिया है, और आचार्य श्री नानालालजी म० सा० के प्रतिपादन में समता शब्द ने एक अधिक प्रौढ़ अर्थ ग्रहण कर डाला है। सो, समता से हम क्या समझें ?

कुछ लोगों को जैन-धर्म को, आधुनिक व्याख्या के समाजवाद के समकक्ष ला खड़ा करने की जल्दी है सो वे समता का अर्थ लगा लेते हैं—समानता—या कह दें तो साम्यवाद। कुछ ऐसे भी हैं जो समता को रूढ़ अर्थों में 'सब-एक-समान' के नारे का पर्याय मान बैठे हैं। ऐसे भी मित्र हैं जिनके अनुसार, यह शब्द समता–लोकतंत्र या प्रजातंत्र के लिये काम में आना चाहिये। मेरी अपनी राय में, ये सभी अर्थ, हमारे धर्म के मूल सिद्धान्त—समता—के साथ, न्याय नहीं करते।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में, मेरा विश्वास है कि अन्यत्र, समता का अर्थ और परिभाषा स्पष्ट कर दी गई होगी। फिर भी, मैं भी अपनी ओर से इसके उस अर्थ को आपके सामने रख रहा हूँ जिस अर्थ में मैं इसे ग्रहण करता हूँ और चाहता हूँ कि इसी सही अर्थ में इसका उपयोग हो।

समता–वह सापेक्षता है जो किसी भी वस्तु अथवा कृति के विभिन्न अंगों में आपस में, एक दूसरे के साथ हो। समता यानी अंगरेज़ी की सिमैट्री (Symmetry), समता यानी प्रतिसाम्य, सममिति। अगर किसी भी बात में सम्यक् संगति है तो ही वह समता का उदाहरण है। नमूने के लिये—आप आदमी के शरीर को ही लीजिये। यह शरीर समता का उपयुक्त उदाहरण है। और अब इस व्याख्या को ध्यान में रखकर आप किसी भी वस्तु को जांचिये, आप पता लगा सकेंगे कि वह वस्तु विशेष, समतामय है या नहीं ? यानी उसका बैलेंस, संगति समग्र रूप से उचित और सही है या नहीं ? जैन-धर्म और उसका दर्शन, इसी समता को सही आदर्श मानता है। और अगर इसी सही परिभाषा को हम पकड़ें तो हमारा भटकाव कम हो जायेगा। तब सस्ते समाजवादी नारों के भ्रम में बिना भटके हम सारे संसार के लिये समीचीन समता को पेश कर सकेंगे।

समता-व्यवहार :

इस कसौटी से परखने पर हमारे लिये समता-व्यवहार के स्वरूप को समझना भी बहुत सरल हो जाता है।

आधुनिक जगत् की आर्थिक और सामाजिक विकास की बात लीजिये। समता की कसौटी हमें बतला देगी कि वर्तमान आर्थिक-विकास की कथा एकांगी और असंतुलित है। हमारे जैसे देश में, इस आर्थिक विकास की विसंगति यह हुई है कि इसने केवल एक बहुत छोटे अल्पमत को संपन्नता और समृद्धि दी है और बहुत विशाल जनसमूह को अधिक विपन्न और दीन-हीन बना डाला है। और तो और, जो देश विकसित और सम्पूर्ण-समृद्ध होने का दावा करते हैं, वहाँ भी हमारी समता-कसौटी बतलाती है कि उस विकास में भी यही असंगति का घुन लगा हुआ है। यह विकास, ख़तरनाक प्रदूषण, प्रकृति के साथ अक्षम्य बलात्कार और परिवेश के विनाश की कीमत पर ख़रीदा हुआ है और बहुत जल्द इसकी सज़ा सारे समाज को, सारी मानवता को चुकानी पड़ेगी।

यही बात आधुनिक शिक्षा पर लागू होती है। लोक-तंत्र और समानता के नारों से अभिभूत तथा सड़ी-गली रूढ़िवादिता से दुःखी समाज ने, धार्मिक शिक्षा को तिलांजलि देकर, सामूहिक सैक्यूलर शिक्षा के तंत्र को आँख मूंद कर अपनाया। और नतीजा क्या निकला ? निरक्षरों की संख्या में बेतहाशा वृद्धि, विवेक के स्थान पर कदाचार और आपाधापी और नितान्त निरर्थक जानकारी को ज्ञान के पद पर आसीन करने की हास्यास्पद चेष्टा ! अगर यहाँ भी, समता के सिद्धान्त को अपनाया गया होता तो परिणाम बिलकुल भिन्न होते।

लेकिन मुझे तो आपको यह बतलाना है कि इस समता-व्यवहार के मामले में, हमारे धार्मिक संगठनों की भूमिका क्या रही है ?

आदर्श से अवनति की ओर :

एक बार जैन-धर्म इतिहास पर नजर घुमाइये, आपको भगवान् महावीर और उनके परवर्ती काल में, इसी समता-युक्त धार्मिक संगठनों का आदर्श रूप दिखलाई देगा। श्रमणों का भी अपना संगठन, अपने यम-नियम, अनुशासन और शास्ता का आपसी उपयुक्त सम्बन्ध। और इसके साथ सम्पूर्ण संगति बिठलाती, श्रावक-श्राविकाओं की अपनी संस्थाएँ—जो समता के ही आदर्श पर श्रमण संगठनों से अपना सम्बन्ध बनाये रखती हैं। और चूंकि इन संगठनों का अपना निजी कलेवर, समता-व्यवहार पर ही आधारित था, इसलिये, ये संगठन, समता-व्यवहार का लगातार विकास ही करते गये।

लेकिन स्वयं इतिहास का समता-मूलक अध्ययन हमें बतला देगा कि किसी भी आदर्श काल-स्थिति को स्थायी नहीं बनाया जा सकता। उसमें परिवर्तन अपरिहार्य है। यही हमारे साथ हुआ। समता-व्यवहार का संक्रमण शुरू हो गया। ऐसे मौके आये जब श्रमण संगठन, अपने समता-स्थान को भूलकर या छोड़कर, श्रावक संगठनों पर हावी हो गये। ऐसे भी दिन हमारे समाज ने देखे हैं जब श्रमण संगठनों की तात्कालिक कमजारियों से शह पाकर श्रावकों के संगठन निरंकुश अथवा श्रमणों से विरक्त बन गये। इस हालत में समता-व्यवहार की ही हत्या हुई है और इस समता-हिंसा ने समाज को अवनति की ओर ढकेला है।

परन्तु जब तक समता-व्यवहार संतुलित विकास करता रहा है, हमारे धर्म ने अपना स्वर्ण युग भोगा है। इस समता-व्यवहार ने, उस काल के समाज में छिपे विरोधाभासों को नियंत्रित रखा है और समाज के सभी वर्गों के सतत विकास और प्रगति को प्रोत्साहन दिया है।

क्या वह काल फिर से दुहराया जा सकता है ? क्या हमारे लिये यह सम्भव है कि हम अपने धार्मिक संगठनों में फिर से सही समता का आदर्श प्रस्थापित करें ? और क्या इस युग में, समता-व्यवहार का विकास, इन संगठनों के सहारे, सम्भव है भी ?

संगठन और समता-व्यवहार, एक दूसरे के पूरक हैं :

समता-व्यवहार के विकास की चर्चा करने से पहले हम संगठनों से इस सिद्धान्त का सम्बन्ध पहिचान लें। समता-व्यवहार और धार्मिक संगठनों का आपस में एक दूसरे पर निर्भर, पूरक सम्बन्ध है। अगर हमारे धार्मिक सं

का गठन और काम-काज, सही समता-संगति के आदर्शों पर नहीं है, तो आप समता-व्यवहार की उम्मीद नहीं कर सकते। उसी तरह, अगर संगठनों में आपस में संगतिमय समता-व्यवहार ही नहीं है तो समाज में समता-व्यवहार का विकास हो ही कैसे सकता है? दूसरे शब्दों में, हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि आज के जैन-समाज में, श्रमणों के बीच सही संगठन का अभाव, इसी समता-व्यवहार के अभाव का दूसरा नाम है। उसी तरह, यह भी सच है कि श्रावकों के धार्मिक संगठनों में असंगति और समता-हीनता, उसी हद तक श्रमणों की इस मनोवृत्ति के लिये जिम्मेदार है। आप किसी एक ही पहलू को सुधारने के फेर में पड़ेंगे तो मामला सुधरेगा नहीं। समता-व्यवहार का तकाज़ा है कि इन दोनों पहलुओं पर साथ-साथ ध्यान दिया जाय।

समता : पारायण का पाठ नहीं, आचरण की संहिता है :

सभी दर्शन, व्यवहार में लाने के लिये होते हैं, आचरण करने के लिये रचे जाते हैं। भला समता-दर्शन इसका अपवाद कैसे होगा? भक्ति-भाव से पूजा करने की वस्तु नहीं होती है कोई भी दार्शनिक भावना। उसे तो रोजमर्रा के व्यवहार में, हमेशा और हर समय अमल में लाने, आचरने की ज़रूरत होती है। व्यवहार की शून्यता ने विकास के दरवाज़ों पर ही ताले जड़ दिये हैं।

सही रूप से समझी गई जैन-दर्शन की समता, सारे मानव समाज, सारी पृथ्वी की प्रकृति और स्वयं हमारे अपने जीवन को विशिष्ट और मूल्यवान संगति, विकास और अनोखा अर्थ देगी। और खुद जैन-धर्म को फिर से, आचरण से व्याप्त जीवत दर्शन-धर्म का सिंहासन प्राप्त करायेगी।

५०
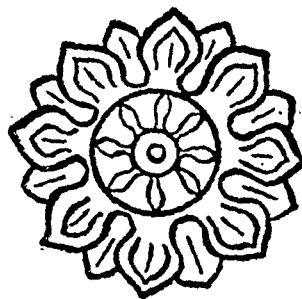
समता-समाज-रचना और धर्मपाल प्रवृत्ति

☐ श्री मानव मुनि

भगवान् महावीर के युग में भी आगमों से ऐसा ज्ञात होता है कि समाज में असमानता थी। मानव-मानव में भेद थे, जाति, सम्प्रदाय थे, ऊँच-नीच की भावना थी, गरीब-अमीर का भेद था, यज्ञ में पशु बलि की जाती थी। यह सारी परिस्थिति राजकुमार वर्धमान ने देखी व चिंतन किया कि इस समस्या को कैसे हल किया जावे। राजकुमार वर्धमान कानून बनाकर भी समता-समाज की रचना कर सकते थे। हिंसा की जगह अहिंसा का साम्राज्य स्थापित कर सकते थे। किन्तु ऐसा हो नहीं सका। उन्होंने सारे राजवैभव व सुख-सुविधा का त्याग किया, साधना की। यह सारा इतिहास पाठक अच्छी तरह जानते हैं, इसलिये इतना ही लिखना चाहता हूँ कि महावीर युग में भी चांडाल थे, हरिजन थे। इसलिये उन्हें धर्मोपदेश दिया। जिस पर चलकर हरिकेश मुनि जो चांडाल थे, केवलज्ञानी बन गये। इस प्रकार भगवान् महावीर ने जातिगत ऊँच-नीच का भेद-भाव मिटाकर दिशा-दर्शन दिया कि धर्म सम्पूर्ण मानव समाज के लिये कल्याणकारी मार्ग है।

गांधी युग में भी सबने देखा कि गांधीजी ने भी त्याग का मार्ग अपनाया व समाजवाद लाने के लिये विचार दिया कि छुआछूत हिन्दू समाज पर कलंक है, स्वराज्य प्रगति में बाधक है। महात्मा गांधी स्वयं हरिजन बस्ती में [illegible] थे। अपने आश्रम में भी हरिजन, परिवार रखा था। समाजवाद का [illegible]

लाना है तो छुआछूत का जो भेदासुर विकराल रूप धारण करके खड़ा है, उसे मिटाना होगा। मानव-मानव में भेद न हो ऐसी व्यवस्था लानी होगी। तब अहिंसा टिकेगी। स्वतंत्रता-प्रगति के बाद देश में छुआछूत मिटाने का कानून भी बनाया गया पर उस पर अमल नहीं हुआ। आज भी स्वराज्य प्राप्त हुए तीस वर्ष हो गये फिर भी छुआछूत का भेद मिटा नहीं। समाजवाद की स्थापना नारों में उलझ गयी। कानून से समस्या का समाधान नहीं होता। जितने महापुरुष हो गये हैं, तीर्थंकर, अवतारी, पैगम्बर या संत-महात्मा सबों ने त्याग का ही रास्ता बताया। पर नेताओं में कथनी व करनी का अन्तर होने से, सफलता प्राप्त हो नहीं सकी।

स्वराज्य होने के बाद देश में हरिजन कहलाने वाली बलाई जाति जिसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, पानी भी कुए से भरने नहीं देते थे। जागीर-जमींदार उच्च कुल वालों से ये लोग पीड़ित थे। इनकी बस्ती बिलकुल गाँव के बाहर, विवाह-शादी होती तो बाजे-गाजे बजा नहीं सकते थे ये लोग। औरतें पांव में चांदी का जेवर पहन नहीं सकती थीं। दूल्हा घोड़े पर सवार होकर गाँव में घूम नहीं सकता था। बेगार इनसे ली जाती थी। यहाँ तक कि होली के दूसरे दिन धूलेंडी के दिन उच्च कुल की महिलाओं द्वारा बलाई जाति की महिलाओं को आँखों पर पट्टी बाँधकर हाथ में मूसल देकर सिर पर बांस की टोकरी में बासी रोटी रखकर, सारे गाँव में घुमाया जाता था।

होली के दिनों में इनमें गल प्रथा प्रचलित थी। इसके अनुसार ज़मीन से तीस-चालीस फीट ऊँचे लकड़ी के खम्भे पर लोहे के कांटो से पेट को बांधकर घुमाते थे व आनन्द लेते थे। यह था पिशाची कृत्य। मानवता के दर्शन इस जाति में मुश्किल से होते थे। यह जाति शराब, मांस, पशु बलि और कुव्यसनों में फँसी थी। इनमें गरीबी थी। स्वराज्य के बाद कानून बने। इनमें प्रचलित समाज की ज्यादतियाँ तो बंद हो गयीं पर वृहत्तर समाज ने इन्हें अपनाया नहीं। उन्हें विश्वास व प्यार नहीं मिला। कइयों ने घृणा से पीड़ित होने के नाते ईसाई धर्म स्वीकार किया, कई मुसलमान बने, सिक्ख भी बने। जिन्होंने धर्म परिवर्तन किया, उनकी परेशानी तो बन्द हो गयी पर समाज में प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी।

युग ने करवट बदली। एक आध्यात्मयोगी विज्ञान युग में प्रकट हुए। महावीर के संदेश-वाहक, आत्म-साधना में लीन, जैन समाज के ही नहीं समस्त मानव-समाज के कल्याणकारी महापुरुष, आचार्य श्री नानालालजी महाराज-मालवा की पवित्र भूमि पर विहार कर, करीब १५ वर्ष पूर्व रतलाम में आपका चातुर्मास हुआ। चातुर्मास समाप्ति के बाद अनेक नगरों से समाज के प्रमुख अपने यहाँ पधारने की विनती करने आये। सबकी विनती झोली में डालकर

अधिवेशन में मुख्य अतिथि के रूप में मध्य प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री पाटसकरजी आये थे। आचार्य श्री जी से एक घंटा चर्चा की व कहा—जो कानून द्वारा नहीं हो सकता था वो आपने आध्यात्मिक तपोबल से कर दिखाया। आपने धर्मपाल समाज का जीवन ऊँचा उठा दिया। उन्हें इन्सान बना दिया। अब उनकी आर्थिक व सामाजिक स्थिति में भी सुधार होगा। शिक्षा में भी ये आगे बढ़ेंगे। शासन इन्हें हर तरह से मदद देगा।

अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ ने धर्मपाल प्रवृत्ति को प्रमुख मानकर क्रांतिकारी योजना बनाई—प्रचार कार्य, शिक्षा, नैतिक संस्कार आदि। मालवा क्षेत्र में मंदसौर, जावरा, नागदा, खाचरौद, उज्जैन, मकसी, शाजापुर इसके विशेष क्षेत्र बने।

आचार्य श्री के उद्बोधन से इस अहिंसक क्रांति का दर्शन हुआ, जिसके कारण हजारों परिवारों का जीवन बदला, वे संस्कारी बने, महावीर के अनुयायी बने। विज्ञान युग में समता-समाज-रचना का दर्शन वैज्ञानिक रूप से धर्मपाल प्रवृत्ति से हुआ, जहाँ किसी भी प्रकार का भेद नहीं। साथ बैठकर भोजन करते हैं, धर्मपाल परिवारों के यहाँ जलपान करते हैं। धर्मपाल परिवारों का वर्षों का जो स्वप्न था, वो समता-समाज-रचना से साकार हुआ।

चतुर्थ खण्ड

परिचर्या

५१
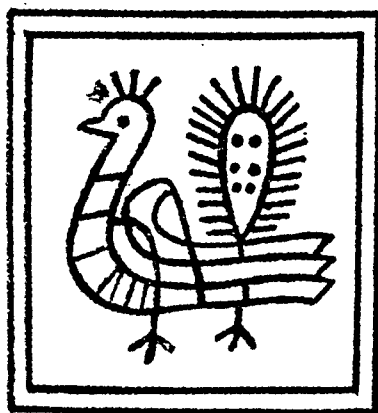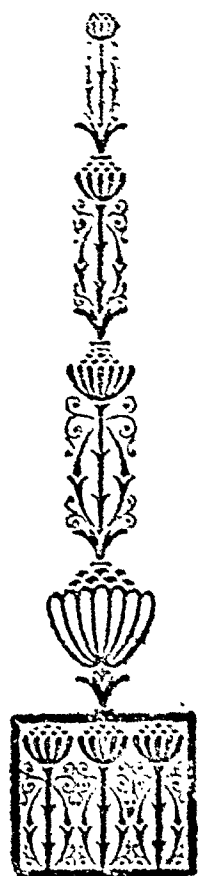
समतावादी समाज-रचना स्वरूप और प्रक्रिया

☐ आयोजक—श्री संजीव भानावत

आयोजकीय वक्तव्य :

आज का युग वैज्ञानिक युग है। विज्ञान की प्रगति ने मनुष्य को विभिन्न भौतिक सुख-सुविधायें प्रदान कर उसके जीवन को काफी आराम दिया है। किन्तु विडम्बना यह है कि विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य अपनी मानसिक शांति भी खोता जा रहा है। पाश्चात्य देश आज विज्ञान की दौड़ में बहुत आगे निकल चुके हैं किन्तु वहाँ के जीवन में व्याप्त संत्रास, तनाव, कुण्ठा और अशांति से हम अपरिचित नहीं हैं। वहाँ की गलियों में गूंजता 'हरे राम हरे कृष्ण' का नारा और आम जन-जीवन में बढ़ती हिप्पीवाद की प्रवृत्ति शायद उसी मानसिक शांति की खोज में है। क्या भौतिक सुख-सुविधायें ही हमारे जीवन का लक्ष्य हैं? क्या कारण है कि आज मनुष्य का जीवन इतना सस्ता और औपचारिक हो गया है? क्या कारण है कि आज विश्व में सर्वत्र विषमता की खाई और चौड़ी तथा गहरी होती जा रही है? ऐसी विषम परिस्थिति में हमारे जीवन में समता का क्या महत्त्व है? किस प्रकार इसकी प्राप्ति की जा सकती है? जैसे कुछ प्रश्नों को लेकर समाज के विभिन्न वर्गों के विशिष्ट व्यक्तियों से मैंने विचार-विमर्श किया। इन व्यक्तियों में प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता, चिन्तक, विद्वान्, प्रशासनिक अधिकारी, विश्वविद्यालय के प्राध्यापक तथा युवा पीढ़ी के प्रतिनिधि शामिल हैं। तो लीजिए प्रस्तुत हैं कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ उनके विचार।

जीवन में समता के महत्त्व को सभी ने स्वीकार करते हुए आत्मिक तथा लौकिक समता को एक दूसरे की पूरक बताया। जहाँ आत्मिक समता व्यक्ति पर निर्भर करती है वहीं लौकिक समता के संदर्भ में लगभग सभी का यह मानना था कि यह पूर्ण संभव नहीं, लेकिन कुछ विशेष क्षेत्रों में हम समता स्थापित करने का प्रयास कर सकते हैं।

समतावादी समाज-रचना के आधारभूत तत्त्व सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह तो हो ही सकते हैं, साथ ही व्यक्ति पर भी यह निर्भर करता है कि वह मानसिक रूप से तथा व्यावहारिक दृष्टि से समता-समाज-रचना हेतु प्रयास करे।

यह तथ्य कि विज्ञान से विषमता बढ़ी है—किसी ने स्वीकार नहीं किया। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि विषमता का एक प्रमुख कारण अभाव की स्थिति है। विज्ञान के माध्यम से हम उस अभाव की स्थिति को समाप्त कर सकते हैं। सभी व्यक्तियों ने इस बात पर जोर दिया कि विज्ञान का उपयोग किस प्रकार हो, यह मनुष्य की बुद्धि पर निर्भर है। इसके विवेकपूर्ण सदुपयोग पर विज्ञान की सार्थकता और दुरुपयोग पर निस्सारता निर्भर है।

कानून के औचित्य को भी किसी ने पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया। अधिकांश का मत यह था कि समता व्यक्ति के अंतस् से स्थापित होनी चाहिए, बाहर से उसे थोपना न्यायोचित व तर्कसंगत नहीं है।

युवा पीढ़ी की महत्त्वपूर्ण भूमिका को सभी ने स्वीकार करते हुए उसे आदर्शवादी बनने पर जोर दिया।

◆ ◆

प्रश्न जो पूछे गए

१. समता से आपका क्या अभिप्राय है ? आपकी दृष्टि में आत्मिक और लौकिक समता का क्या स्वरूप है ?

२. समतावादी समाज-रचना के आधारभूत तत्त्व क्या हो सकते हैं, और उनकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है ?

३. कहा जाता है कि विज्ञान से विषमता बढ़ी है। क्या समता-समाज-रचना में विज्ञान उपयोगी हो सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ?

४. कानून के माध्यम से समतावादी समाज-रचना को आप कहाँ तक उपयुक्त मानते हैं ?

५. समतावादी समाज-रचना में युवा पीढ़ी से आपकी क्या अपेक्षा है ?

◆ ◆

समता का आधार जीवन की समग्रता हो

☐ श्री सिद्धराज ढढ्ढा

परिचर्चा के लिए सबसे पहले मैं मिलता हूँ अखिल भारतीय समग्र सेवा संघ के अध्यक्ष, लोकनायक जयप्रकाश नारायण के निकट सहयोगी, प्रसिद्ध सर्वोदय नेता तथा प्रबुद्ध विचारक श्री सिद्धराज ढढ्ढा से। औपचारिक परिचय के बाद मेरे प्रश्नों को सुनकर तनिक गंभीरता से उन्होंने कहा—

समता को हम दो रूपों में समझ सकते हैं—व्यक्ति के आन्तरिक मन से तथा व्यक्ति और समाज के विभिन्न पहलुओं के आपसी सम्बन्धों से। यही आत्मिक और लौकिक समता है। व्यक्ति स्वयं अपने चिन्तन-मनन द्वारा अपनी आन्तरिक और बाह्य वृत्तियों में समता-भाव उत्पन्न कर सकता है। गीता में भी सुख-दुःख में समान भाव रखने को कहा गया है। सम भाव में रहने के लिए कहना अत्यन्त सरल है, पर उसमें स्थित होना उतना ही कठिन है।

बाहरी सम्बन्धों में समता का आधार भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों रूपों में है। किन्तु आध्यात्मिक आधार मुख्य है। आध्यात्म से मेरा तात्पर्य 'यूनिटी ऑफ लाइफ' अर्थात् जीवन की समग्रता से है। दृश्-अदृश् सभी की एकात्म भावना वास्तविक समता है। भौतिक आधार भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है इसमें कोई शक नहीं, किन्तु भौतिक समता के माध्यम से उत्पन्न होने वाली आपसी ईर्ष्या-द्वेष की भावनाओं को रोकना कठिन है। अतः समता के आध्यात्मिक आधार का प्रचार हमें जन-जन में करना है। इसका सर्वश्रेष्ठ तरीका है—education and example. अपना स्वयं का उदाहरण रखते हुए जन-जन में समता-भाव प्रतिष्ठित करने के लिए हमें निरन्तर प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी।

समता-मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था की उपयोगिता सिद्ध करते हुए आपने कहा—

प्राचीन वर्ण व्यवस्था में कार्य का उचित व समान बंटवारा किया जाता

था। कोई कार्य हीन नहीं माना जाता था। कालान्तर में इसमें जो विकृति आ गई उसके बारे में मैं कुछ नहीं कहना चाहता। मेरा तात्पर्य वर्ण व्यवस्था की उस आदर्श व्यवस्था से है जिसमें कार्यों का उचित वंटवारा होता था तथा जिससे आर्थिक–सामाजिक आदि सभी प्रकार की विषमताओं का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। यह वर्ण व्यवस्था एक प्रकार की ऐसी "वैज्ञानिक व्यवस्था" थी जैसी आज तक नहीं हो सकी। इसी प्रकार आश्रमों का भी हमारे जीवन में विशिष्ट महत्त्व रहा है। जीवन की पूर्णता इसी में निहित थी।

विज्ञान से विषमता बढ़ी है पर विज्ञान अपने आप में बुरा नहीं है। यह व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है कि वह इसका उपयोग किस प्रकार करता है। पश्चिम के लोगों ने विज्ञान का उपयोग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए किया जिसका परिणाम आज हम देख रहे हैं। लगभग २०० वर्ष पूर्व तक जीवन-यापन की क्रियायें मनुष्य और पशु शक्ति से सम्पन्न होती थीं। फिर विज्ञान अर्थात् तकनीकी ज्ञान की वृद्धि से जैविक शक्ति (organic power) अजैविक शक्ति (power) में वदल गई। महत्वपूर्ण बुनियादी परिवर्तन हुए और विषमता बढ़ने लगी। इस विषमता को कम करने के लिए आवश्यक है टेकनीक का जीवन-क्षेत्र में मर्यादित उपयोग। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ श्रम से पूरी होनी चाहिए। यंत्र स्वयं अपने द्वारा नियंत्रित होने चाहिए न कि हम यंत्रों द्वारा। इसीलिए गांधीजी ने चर्खे की वात कही थी। मूल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति श्रम से होनी आवश्यक है अन्यथा हम गुलामी की ओर अग्रसर होंगे। विज्ञान का उपयोग समाज का शोषण करने में नहीं होना चाहिए। इसका मर्यादित प्रयोग समता की दिशा में कदम होगा।

कानून के माध्यम से बुनियादी परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। छुआछूत विरोधी कानून बना किन्तु क्या इससे छुआछूत कम हुई? कानून तभी सफल हो सकता है जब वह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवस्था को संरक्षित करने में प्रयुक्त हो। उस व्यवस्था को पहले वैचारिक मान्यता मिलनी चाहिए। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर ही कानून प्रभावी सिद्ध होगा।

जहां तक प्रश्न समतावादी समाज-रचना में युवा-पीढ़ी के सहयोग का है, मैं तो मानता हूँ कि वे ही इसे सम्पन्न कर सकते हैं। समाज में व्याप्त विषमता व शोषण प्रवृत्ति को वे समझें। युवा-पीढ़ी को समझना चाहिए कि बाहरी दिखावा व शान-शौकत सभ्यता नहीं है बल्कि सभ्यता की परिभाषा है परिस्थितियों के प्रति संवेदनशील होना। दूसरे के दुःखों को स्वयं हमें आत्मसात् करना होगा। गलत मूल्यों का विरोध युवा-पीढ़ी को करना होगा।

◆ ◆

समतावादी समाज-रचना अनेक आदर्शों की तरह एक आदर्श है

□ डॉ० दयाकृष्ण

राजस्थान विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के प्रोफेसर व अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त दार्शनिक डॉ० दयाकृष्ण से मुलाकात करने के लिए मैं विश्वविद्यालय के मानविकी भवन में स्थित दर्शन विभाग में उनके कक्ष में पहुँचा। मेरे प्रश्नों को पढ़कर दार्शनिक मुद्रा में उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

भौतिक समता से अर्थ यदि देश-काल के हिसाब से लिया जाय तो मैं यह मानता हूँ कि भौतिक रूप से समता संभव नहीं है। मनुष्य के तो जन्म से ही भेद हो जाते हैं। उनमें किसी न किसी प्रकार का वर्ग विभाजन अवश्य रहेगा। कुछ क्षेत्रों में हम समता स्थापित कर सकने का प्रयास कर सकते हैं। जैसे कोई नियम है तो वह सभी के लिए समान रूप से लागू होगा। यह न्याय भी कहलाता है। नियमों की रूपरेखा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है कि उससे अनावश्यक भेद-भाव को प्रश्रय न मिले। किन्तु कई बार उपस्थित भेदों को समाप्त करने के लिए भी भेदों को प्रश्रय दिया जाता है। उदाहरणार्थ निम्न या पिछड़े वर्ग को प्रोत्साहित करने हेतु उन्हें कम प्रतिशत पर भी विश्वविद्यालयों में प्रवेश दिया जाता है, नौकरी में स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं। किन्तु इसका लक्ष्य या उद्देश्य पहले के भेद को समाप्त करना है। इसी प्रकार लौकिक समता भी संभव नहीं। हम तो यह कहते हैं कि भगवान् की दृष्टि से सभी समान हैं किन्तु फिर भी भगवान् भी अपने भक्तों से ज्यादा प्रसन्न होता है। जो असीम है उसकी दृष्टि में सभी समान हैं चाहे वह एक हो या एक लाख।

मेरा यह मानना है कि समतावादी समाज की रचना मुश्किल है। अनेक आदर्शों की तरह यह भी मात्र एक आदर्श है। हम केवल यह विचार कर सकते हैं कि किन क्षेत्रों में समता आवश्यक है और कितनी आवश्यक है? और यदि पूर्ण समता हो जाए तो स्थिति अत्यन्त हास्यास्पद होगी। अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ विषमता आवश्यक है। जैसे खेल के क्षेत्र में, बुद्धि, सौन्दर्य आदि के क्षेत्र में। समाज कोई स्थिर चीज नहीं है। यदि हम पूर्ण समता ला भी सकें तो चूँकि व्यक्ति-व्यक्ति में भेद होता है अतः पुनः असमानता उत्पन्न होगी। [illegible] क्षेत्र में तो यह विषमता और ज्यादा है। अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में [illegible]

विषमता नहीं होनी चाहिए। किन्तु यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि मनुष्य ने जन्म कहाँ लिया है ? अतः हमें केवल इस बात पर विचार करना चाहिए कि किन क्षेत्रों में असमानता पर नियंत्रण किया जा सकता है। पूर्ण समता एक मधुर, सुनहरा स्वप्न ही है।

ऐसा कहना कि विज्ञान से विषमता बढ़ी है, ठीक नहीं है। विज्ञान ने हमें शक्ति प्रदान की है, उत्पादन के साधनों में वृद्धि की है। विज्ञान ही समता लाने की दिशा में कदम बढ़ा सकता है। विषमता की कल्पना कमी के सिद्धान्त पर आधारित है। विज्ञान के माध्यम से अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन करके उसे वितरित कर इस विषमता को कम किया जा सकता है। विज्ञान ने हमें ऐसी अर्थ व्यवस्था को सोचने की प्रेरणा दी है जो समता ला सकती है। मनुष्य की मूल-भूत आवश्यकताओं की पूर्ति इसके माध्यम से की जा सकती है।

कानून निःसन्देह प्रभावशाली होता है। यह समता तथा असमता दोनों के लिए होता है। कुछ साम्यवादी देशों में कानून सबके लिए समान नहीं माना जाता है। वह कानून जाति विशेष तक सीमित रहता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि कानून के माध्यम से समता स्थापित की जा सके। और फिर हमारे यहाँ कानूनों का पालन भी उचित रूप से कहाँ होता है ?

युवा-पीढ़ी से मैं यही कहना चाहूँगा कि उनमें आदर्श होना चाहिए। वे उस आदर्श को स्वयं निभायें भी तभी वे कुछ कर सकने की स्थिति में होंगे। किन्तु भारत की युवा-पीढ़ी की वर्तमान मानसिकता देखकर मुझे लगता है कि वे अधिक कुछ नहीं कर सकेंगे। आज की युवा-पीढ़ी स्वाधीनता का युद्ध लड़ने वाली १९४७ की पीढ़ी से भी कमजोर है। स्वयं युवा-पीढ़ी में असमानताएँ हैं। हिन्दी माध्यम से पढ़े हुए तथा पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए छात्रों में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। उनमें त्याग की भावना नहीं है। युवा-पीढ़ी स्वयं अपने आपको उचित नेतृत्व नहीं दे पा रही है। उसमें आदर्शोन्मुख प्रतिभा की कमी है।

◆ ◆

वास्तविक समता तो आध्यात्मिक होती है

□ श्री श्रीचन्द गोलेछा

जयपुर के प्रतिष्ठित जौहरी और जैन-धर्म-दर्शन के तत्त्ववेत्ता श्री श्रीचन्द गोलेछा से मैं मिलता हूँ लाल भवन में स्थित आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञान भंडार

हर्ष और विषाद में तटस्थ भाव रखें

☐ श्री गुमानमल चोरड़िया

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष एवं प्रसिद्ध जौहरी श्री गुमानमल चोरड़िया से, जिनका जीवन त्याग, तप से परिपूर्ण और सात्विक वृत्ति का है, जब मैं मिला तो उन्होंने कुछ सोचते हुए आत्मीयतापूर्ण लहजे में कहा—

समता से हमारा अभिप्राय है हर्ष और विषाद में हम तटस्थ भाव रखें, न सुख में मग्न हों न दुःख आने पर घबरायें। विभिन्न परिस्थितियों में एकसी भावना रखना ही समता है। आत्मिक समता से मेरा तात्पर्य है कि जीवन में प्रत्येक स्थिति में हम यह अनुभव करें कि जो सुख और दुःख हमें प्राप्त हो रहे हैं उनसे आत्मा परे है। आत्मा का स्वभाव अव्याबाध सुख में रमण करना है। लौकिक समता का मतलब है कि हम अच्छे और बुरे प्रसंगों में, वांछित या अवांछित प्रसंगों में समता-भाव रखें जिससे हमारे मन, परिवार और समाज में शांति रहे।

समतावादी समाज-रचना के आधारभूत तत्त्व सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हो सकते हैं। इनकी प्राप्ति जीवन में बारह अणुव्रतों का यथाशक्ति पालन करने से हो सकती है।

विज्ञान से विषमता बढ़ी है, यह कहना ठीक नहीं है। वस्तु के उपयोग और अनुपयोग साधक पर निर्भर करते हैं। जहाँ भूख के समय भोजन प्रिय लगता है वहीं अधिक मात्रा में भोजन का सेवन रोग का कारण बन जाता है। इसी प्रकार अणुशक्ति लाभदायक और हानिकारक दोनों रूपों में प्रयुक्त की जा सकती है। भौतिक सुख-साधन मानसिक शांति में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते। यह तथ्य इस बात से स्पष्ट है कि भारत में जहां भौतिक साधन विदेशों की अपेक्षा अल्प मात्रा में हैं वहां आध्यात्मिक और आत्मिक शांति अधिक अनुभूत की जा रही है।

श्री चोरड़िया कानून के माध्यम से समतावादी समाज-रचना संभव नहीं मानते। उन्होंने इस हेतु सामाजिक कार्यकर्ताओं से ऐसा वातावरण बनाने का आह्वान किया जिससे समता अपने सही अर्थों में प्रतिष्ठित हो सके।

युवा-पीढ़ी की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा कि युवक समाज विषमता से समता की ओर ले जाने हेतु क्रांतिकारी प्रयास करे। ♦♦

विषमता की जड़ अर्थ-व्यवस्था में है

☐ श्री रणजीतसिंह कूमट

अब मेरी मुलाकात होती है विशेष सचिव, सहकारिता एवं जयपुर के भूतपूर्व जिलाधीश श्री रणजीतसिंह कूमट से। प्रशासकीय कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी सामाजिक-धार्मिक कार्यों में आपकी गहरी रुचि है। मैं जब आपके पास पहुँचा तो आप सामायिक से निवृत्त हुए ही थे। सीधे-सादे, सरल व्यक्तित्व और सात्विक प्रवृत्ति के श्री कूमट मेरे प्रश्नों को सुनकर गंभीर हो गये और कहने लगे—

समता से हमारा अभिप्राय जीवन में एक ऐसी स्थिति से है जिसमें संतोष, साम्य और संतुलन झलकता हो। जब तक जीवन में संतुलन की स्थिति नहीं आती तब तक जीवन विषमता में रहता है और इधर-उधर भटकता है। समता जीवन का एक दृष्टिकोण हो सकता है। और यदि उसी दृष्टिकोण से जीवन जीने का प्रयत्न किया जाए तो लौकिक और पारलौकिक दोनों ही जीवन सुखी हो सकते हैं।

आत्मिक और लौकिक समता के बीच कोई मूल भेद नहीं है। यदि वर्तमान जीवन में समता आ गई तो आत्मिक समता अपने आप आ सकती है। हमारा भौतिक वस्तुओं के प्रति क्या दृष्टिकोण है वही इस बात का निर्धारण करेगा कि हम जीवन कैसे जी रहे हैं और उसका आत्मिक समता पर क्या असर पड़ेगा। यदि भौतिक वस्तुओं के पीछे हम पागल बन के घूमे तो समता हम से कोसों दूर रहेगी। किन्तु यदि भौतिक वस्तुओं के प्रति संतोष और संतुलन की स्थिति उत्पन्न करली है तो आत्मिक समता वहीं हो जाती है।

समतावादी समाज रचना के आधारभूत तत्वों की चर्चा के प्रसंग में आपने कहा कि अपरिग्रह द्वारा यह संभव हो सकता है। जब तक अपरिग्रह जीवन में वास्तविक रूप से नहीं आता तब तक किसी भी प्रकार से समतावादी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। जब हम अपनी बजाय दूसरों की इच्छा पूर्ति करेंगे और संग्रह की बजाय त्याग को महत्व देंगे तभी समतावादी समाज की रचना संभव होगी।

विज्ञान ने विषमता बढ़ी है, यह कहना गलत है। विज्ञान एक साधन है जिससे हम अधिक मात्रा में उत्पादन कर सकते हैं और श्रम शक्ति की बचत कर सकते हैं। लेकिन विषमता की जड़ हमारी अर्थ व्यवस्था में है न कि विज्ञान

में। जब तक पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था रहेगी तब तक विषमता रहेगी। विज्ञान के साधनों से पूंजी का महत्त्व बढ़ा है और पूंजी वाले ही अधिक उत्पादन कर सकते हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि पूंजी के साधन कुछ व्यक्तियों के हाथ में ही केन्द्रित रहें। पूंजी के साधन यदि राज्य के नियंत्रण में हों तो विषमता कम हो सकती है जैसे कि समाजवादी देश रूस और चीन में है।

कानून के प्रयोग के औचित्य पर आपने कहा कि इससे समाजवादी समाज की रचना हो सकती है जो समतावादी समाज का बाहरी रूप है। यदि सही रूप से समतावादी समाज की रचना करनी है तो जहाँ आर्थिक समानता होनी चाहिए वहीं लोगों के मन में इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था कायम रखने के लिए अन्दरूनी इच्छा भी होनी चाहिए। समाजवादी समाज और समतावादी समाज में मूल भेद यही है कि एक में समानता ऊपर से थोपी गयी है जबकि दूसरे में समानता आन्तरिक प्रवृत्ति के परिवर्तन का परिणाम है। जो चीज ऊपर से थोपी जाती है वह अस्थिर होती है और जो आन्तरिक प्रवृत्ति के परिवर्तन से स्थापित होती है वह स्थायी उपलब्धि है।

युवा-पीढ़ी को सचेत करते हुए आपने कहा कि वे उन गलतियों को न दोहरायें जो उनसे बड़े लोग कर चुके हैं या कर रहे हैं। उन्हें चाहिए कि वे त्याग और सेवा की भावना से राष्ट्र निर्माण में जुटें। उनकी इन्हीं भावनाओं से समतावादी समाज की स्थापना संभव है। अपनी बात जारी रखते हुए आपने कहा कि पुरानी पीढ़ी अपने विचारों को जल्दी छोड़ नहीं सकती जबकि युवा-पीढ़ी में पुराने विचारों को त्यागने की और नये विचारों को आत्मसात् करने की क्षमता है। आजकल एक और विशेष बात देखने में आ रही है वह है युवा-पीढ़ी का कार्य और मेहनत के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण। हर काम में वे 'शार्टकट' चाहते हैं। अपेक्षित मेहनत वे नहीं करना चाहते। उन्हें यह समझना चाहिए कि किसी भी कार्य की सफलता के लिए सुगम और शाही रास्ता अभीष्ट नहीं है। सफलता के लिए दुर्गम राह से गुजरना होता है। कठिनाइयों का सामना करने से अनुभव प्राप्त होता है। जो बात युवा-पीढ़ी पर लागू है वह हर नागरिक पर भी लागू होती है किन्तु युवा-पीढ़ी से हमें विशेष अपेक्षाएँ हैं!

◆ ◆

समता सकारात्मक सिद्धान्त है

□ श्री देवेन्द्रराज मेहता

राजस्थान सरकार के उद्योग सचिव व भगवान् महावीर निर्वाण समिति के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता के विचार जानने हेतु मैं पहुँचता हूँ सचिवालय।

लम्बे कद तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी श्री मेहता के पास उस समय अनेक लोग अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर आये थे। इतनी व्यस्तता के बावजूद चेहरे पर कहीं तनाव या थकान का चिह्न नहीं। ऑफिस का समय हो चुका था और अन्यत्र वे एक आवश्यक मीटिंग में सम्मिलित होने जा रहे थे। जब मैंने उन्हें अपने आने का प्रयोजन बताया तो तुरन्त आपने मुझे अपने विचार बताने हेतु कार में बिठा लिया। कार चली मीटिंग-स्थल की ओर तथा हमारी बातचीत का सिल-सिला प्रारम्भ हुआ—

विचार और व्यवहार में सभी को अपने बराबर समझना समता है। आत्मिक समता अपने तक ही सीमित नहीं है वरन् यह दूसरे प्राणियों पर भी लागू होती है क्योंकि हर प्राणी में आत्मा होती है। लौकिक समता व्यावहारिक कारणों से सीमित हो जाती है। सभी व्यक्ति अपनी क्षमता और स्तर में समान नहीं होते। अतः व्यवहार में कुछ असमानता उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु यदि दूसरे व्यक्तियों के प्रति हमारी सद्भावना रहे तो इस अन्तर के उपरान्त भी लौकिक समता मानी जा सकती है।

समतावादी समाज-रचना के लिए आवश्यक है कि हमारा मानस इस प्रकार का हो कि बाह्य अन्तरों के उपरान्त भी सभी व्यक्तियों को हम मूलतः समान समझें और इसी आधार पर उनसे व्यवहार करें। समता सकारात्मक सिद्धान्त है जिसमें दूसरों के प्रति श्रद्धा एवं सहानुभूति निर्धारित है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन उपर्युक्त तथ्यों को समझें और उसी के अनुरूप व्यवहार करें।

विज्ञान से भौतिक विषमता तो अवश्य बढ़ी है, क्योंकि ऐसे साधनों की प्राप्ति के नये-नये तरीके विज्ञान ने ईजाद किये हैं जिनसे भौतिक सुख-समृद्धि में वृद्धि हुई है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना है कि मानसिक स्तर पर विज्ञान से समानता का सिद्धान्त भी प्रतिष्ठित हुआ है। छोटे और बड़े के भेद को विज्ञान ने स्वीकार नहीं किया है। यही कारण है कि पाश्चात्य समाज जो भारतीय समाज से ज्यादा वैज्ञानिक है, ज्यादा समतावादी समाज भी है। समाज का आधार अगर विज्ञान हो तो भारतीय समाज भी समतावादी समाज की ओर तेजी से बढ़ सकता है। जहाँ तक भौतिक विषमताओं का प्रश्न है, विज्ञान अपने आप में निरपेक्ष है और उसका प्रयोग उपयोग में लाने वाले व्यक्ति पर निर्भर करता है। यदि हमारा मानस उचित होगा तो अवश्य ही विज्ञान समतावादी समाज रचना में सहायक होगा।

कानून के प्रयोग के औचित्य को स्वीकार करते हुए श्री मेहता ने कहा कि कानून के प्रभाव में समाज में पहले से चिरन्तन असमानताओं को दूर करना

में । जब तक पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था रहेगी तब तक विषमता रहेगी । विज्ञ के साधनों से पूंजी का महत्त्व बढ़ा है और पूंजी वाले ही अधिक उत्पादन क सकते हैं । लेकिन यह आवश्यक नहीं कि पूंजी के साधन कुछ व्यक्तियों के हा में ही केन्द्रित रहें । पूंजी के साधन यदि राज्य के नियंत्रण में हों तो विषमत कम हो सकती है जैसे कि समाजवादी देश रूस और चीन में है ।

कानून के प्रयोग के औचित्य पर आपने कहा कि इससे समाजवादं समाज की रचना हो सकती है जो समतावादी समाज का बाहरी रूप है । यदि सही रूप से समतावादी समाज की रचना करनी है तो जहाँ आर्थिक समानत होनी चाहिए वहीं लोगों के मन में इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था कायम रखने के लिए अन्दरूनी इच्छा भी होनी चाहिए । समाजवादी समाज और समतावादी समाज में मूल भेद यही है कि एक में समानता ऊपर से थोपी गयी है जबकि दूसरे में समानता आन्तरिक प्रवृत्ति के परिवर्तन का परिणाम है । जो चीज ऊपर से थोपी जाती है वह अस्थिर होती है और जो आन्तरिक प्रवृत्ति के परिवर्तन से स्थापित होती है वह स्थायी उपलब्धि है ।

युवा-पीढ़ी को सचेत करते हुए आपने कहा कि वे उन गलतियों को न दोहरायें जो उनसे बड़े लोग कर चुके हैं या कर रहे हैं । उन्हें चाहिए कि वे त्याग और सेवा की भावना से राष्ट्र निर्माण में जुटें । उनकी इन्हीं भावनाओं से समतावादी समाज की स्थापना संभव है । अपनी बात जारी रखते हुए आपने कहा कि पुरानी पीढ़ी अपने विचारों को जल्दी छोड़ नहीं सकती जबकि युवा-पीढ़ी में पुराने विचारों को त्यागने की और नये विचारों को आत्मसात् करने की क्षमता है । आजकल एक और विशेष बात देखने में आ रही है वह है युवा-पीढ़ी का कार्य और मेहनत के प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण । हर काम में वे 'शार्टकट' चाहते हैं । अपेक्षित मेहनत वे नहीं करना चाहते । उन्हें यह समझना चाहिए कि किसी भी कार्य की सफलता के लिए सुगम और शाही रास्ता अभीष्ट नहीं है । सफलता के लिए दुर्गम राह से गुजरना होता है । कठिनाइयों का सामना करने से अनुभव प्राप्त होता है । जो बात युवा-पीढ़ी पर लागू है वह हर नागरिक पर भी लागू होती है किन्तु युवा-पीढ़ी से हमें विशेष अपेक्षाएँ हैं !

◆ ◆

समता सकारात्मक सिद्धान्त है

☐ श्री देवेन्द्रराज मेहता

राजस्थान सरकार के उद्योग सचिव व भगवान् महावीर निर्वाण समिति के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता के विचार जानने हेतु मैं पहुँचता हूँ सचिवालय ।

लम्बे कद तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी श्री मेहता के पास उस समय अनेक लोग अपनी-अपनी समस्याएँ लेकर आये थे। इतनी व्यस्तता के बावजूद चेहरे पर कहीं तनाव या थकान का चिह्न नहीं। ऑफिस का समय हो चुका था और अन्यत्र वे एक आवश्यक मीटिंग में सम्मिलित होने जा रहे थे। जब मैंने उन्हें अपने आने का प्रयोजन बताया तो तुरन्त आपने मुझे अपने विचार बताने हेतु कार में बिठा लिया। कार चली मीटिंग-स्थल की ओर तथा हमारी बातचीत का सिल-सिला प्रारम्भ हुआ—

विचार और व्यवहार में सभी को अपने बराबर समझना समता है। आत्मिक समता अपने तक ही सीमित नहीं है वरन् यह दूसरे प्राणियों पर भी लागू होती है क्योंकि हर प्राणी में आत्मा होती है। लौकिक समता व्यावहारिक कारणों से सीमित हो जाती है। सभी व्यक्ति अपनी क्षमता और स्तर में समान नहीं होते। अतः व्यवहार में कुछ असमानता उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु यदि दूसरे व्यक्तियों के प्रति हमारी सद्भावना रहे तो इस अन्तर के उपरान्त भी लौकिक समता मानी जा सकती है।

समतावादी समाज-रचना के लिए आवश्यक है कि हमारा मानस इस प्रकार का हो कि बाह्य अन्तरों के उपरान्त भी सभी व्यक्तियों को हम मूलतः समान समझें और इसी आधार पर उनसे व्यवहार करें। समता सकारात्मक सिद्धान्त है जिसमें दूसरों के प्रति श्रद्धा एवं सहानुभूति निर्धारित है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन उपर्युक्त तथ्यों को समझें और उसी के अनुरूप व्यवहार करें।

विज्ञान से भौतिक विषमता तो अवश्य बढ़ी है, क्योंकि ऐसे साधनों की प्राप्ति के नये-नये तरीके विज्ञान ने ईजाद किये हैं जिनसे भौतिक सुख-समृद्धि में वृद्धि हुई है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना है कि मानसिक स्तर पर विज्ञान से समानता का सिद्धान्त भी प्रतिष्ठित हुआ है। छोटे और बड़े के भेद को विज्ञान ने स्वीकार नहीं किया है। यही कारण है कि पाश्चात्य समाज जो भारतीय समाज से ज्यादा वैज्ञानिक है, ज्यादा समतावादी समाज भी है। समाज का आधार अगर विज्ञान हो तो भारतीय समाज भी समतावादी समाज की ओर तेजी से बढ़ सकता है। जहाँ तक भौतिक विषमताओं का प्रश्न है, विज्ञान अपने आप में निरपेक्ष है और उसका प्रयोग उपयोग में लाने वाले व्यक्ति पर निर्भर करता है। यदि हमारा मानस उचित होगा तो अवश्य ही विज्ञान समतावादी समाज रचना में सहायक होगा।

कानून के प्रयोग के औचित्य को स्वीकार करते हुए श्री मेहता ने कहा कि कानून के अभाव में समाज में पहले से विकसित असमानताओं को दूर करना

कठिन है। जैसे हरिजनों का स्तर आदि समस्यायें जितनी आज कम हुई हैं उतनी पहले नहीं। यह कानून का ही प्रभाव है। कानून का आधार नैतिक होना चाहिए तथा उसका उपयोग भी उपयुक्त हो।

समतावादी समाज-रचना में युवा-पीढ़ी के सक्रिय योगदान की चर्चा करते हुए आपने कहा कि यवकों को चाहिए कि वे भेद-भाव से ऊपर उठकर और पुरानी सामाजिक कुप्रथाओं व संकीर्ण मूल्यों को ठुकराते हुए समतावादी समाज-रचना के पुनीत कार्य में संलग्न हों।

◆ ◆

समता–समाज के लिए इच्छाओं पर क़ाबू पाना आवश्यक है

☐ कुमारी शुद्धात्म प्रभा जैन

प्रस्तुत विषय पर युवा-पीढ़ी के विचार जानने हेतु अब मैं पहुँचता हूँ राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में। वहाँ मेरी मुलाकात होती है एम० ए० फाइनल की छात्रा कुमारी शुद्धात्म प्रभा जैन से जो एक मेधावी छात्रा हैं। मेरे प्रश्नों के उत्तर देते हुए आपने कहा—

समाज के स्वरूप निर्माण में व्यक्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। व्यक्तियों के स्वभाव व रुचि के अनुरूप ही समाज का स्वरूप निर्धारित होता है और उनकी क्षमता तथा योग्यता पर ही समाज की उन्नति और अवनति निर्भर होती है।

पारस्परिक एकता, सौहार्द, संवेदनशीलता, सामंजस्य आदि भावनाएँ व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से पाई जाती हैं और इन्हीं भावनाओं के प्रतिफलन परिवार और समाज हैं। इन भावनाओं के अभाव में समाज का निर्माण असंभव है। इनके आधार पर समतावादी समाज की नींव रखी जा सकती है।

समाज में व्याप्त विघटन और अराजकता के कारणों का उल्लेख करते हुए कुमारी शुद्धात्म ने कहा कि प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति अपने सामर्थ्य से ज्यादा इच्छाएँ करने लगता है जिनकी पूर्ति स्वाभाविक रूप से असंभव है। किन्तु फिर भी व्यक्ति येनकेन प्रकारेण उन इच्छाओं की पूर्ति करना चाहता है

जिससे अराजकता, विघटन और मानसिक तनाव को प्रोत्साहन मिलता है जो विषमता के कारण हैं। अतः आवश्यकता है ऐसी स्थिति पर काबू पाने की।

हर व्यक्ति में विभिन्नताएँ होती हैं। जैसे किसी व्यक्ति का मन खेल में रमता है तो कोई पढ़ाई को सर्वस्व समझता है। कोई वाक् कौशल पर रीझता है तो कोई हस्त कौशल पर मर मिटता है। कोई रणधीर है तो कोई वचनवीर। कहने का तात्पर्य यही है कि हर व्यक्ति की बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक क्षमता अलग-अलग है। इसी कारण उसकी आवश्यकताओं में भी पर्याप्त अंतर है। अतः समतावादी समाज में प्रत्येक व्यक्ति की उसकी रुचि, योग्यता, क्षमता और आवश्यकता के अनुरूप इच्छाओं की पूर्ति होनी चाहिए।

मानव में जो विभिन्नताएँ हैं, वे बाह्य नहीं हैं वरन् आन्तरिक हैं। जिस तरह सभी व्यक्ति मानव-अपेक्षा समान हैं, पर फिर भी बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष आदि का उनमें भेद है उसी प्रकार जीव की दृष्टि से उनमें भेद नहीं है, पर फिर भी वर्तमान की अपेक्षा से जीव के ज्ञानादि गुणों में हम स्पष्ट अन्तर पाते हैं। लौकिक समता और आत्मिक समता काफी हद तक एक दूसरे से प्रभावित होती हैं। आत्मिक समता का ही बाह्य रूप लौकिक समता है।

समतावादी समाज का आधारभूत तत्त्व कार्यों का उचित वितरण ही हो सकता है। इस कार्य में आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण काफी सहयोगी हो सकते हैं।

केवल कानून के बल पर समाज-रचना नहीं हो सकती। हां, कानून सहयोगी अवश्य हो सकता है। कानून सर्वस्व न होकर इसका एक अंश मात्र है।

युवा वर्ग समाज का ही एक अंग है, उससे पृथक् उसका अस्तित्व नहीं है। युवा वर्ग समाज की रीढ़ है, इसके सहारे ही समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है। युवा-पीढ़ी को स्वयं अपने विवेक से अपने बुजुर्गों के मार्ग निर्देशन से समाज में व्याप्त विषमता को दूर करना है। पुरानी व समाज की प्रगति में बाधक परम्पराओं को उन्हें अस्वीकार करके नये मूल्यों का सृजन करना है जिनकी नींव पर समतावादी समाज का भव्य प्रासाद निर्मित किया जा सके।

◆ ◆

समता आत्मा का स्वभाव है, विषमता आत्मा का विभाव है

☐ श्री सरदारसिंह जैन

अन्त में मैं पहुँचता हूँ श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान। यहां मेरी मुलाकात होती है श्री सरदारसिंह जैन से जो संस्कृत के स्नातकोत्तर कक्षा के छात्र होने के साथ-साथ जैन दर्शन में भी गहरी रुचि रखते हैं। अपने विचारों को व्यक्त करते हुए वे कहने लगे—

जाति, वर्ण, लिंग आदि के आधार पर किसी प्रकार का भेद न होना, सभी के एक से अधिकार और एक से उत्तरदायित्व, परिश्रम एवं योग्यता के आधार पर विकास के समान अवसर, साथ ही उत्तरदायित्वहीन जीवन के लिए एकसा दंड व प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते हुए समस्त व्यवहार को चलाने का नाम ही समता है। आत्मा के दो धर्म होते हैं—समता और विषमता। समता आत्मा का स्वभाव है और विषमता आत्मा का विभाव। दूसरे शब्दों में विनम्रता, सरलता और संतोष की अवस्था समता है और छल, कपट, लोभ, क्रोध आदि विषमता के सूचक हैं। अतः राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषय-कषायों से रहित अवस्था ही आत्मिक समता है। लौकिक समता में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्र लिए जा सकते हैं।

श्री सरदारसिंह का मानना है कि समतावादी समाज की सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठा करने हेतु सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में प्रयास होना चाहिए। इस हेतु ऐसे कार्यकर्ता तैयार होने चाहिए जो इन क्षेत्रों के समतापरक सिद्धान्तों को जन सामान्य में प्रचारित कर सकें। जातिगत अथवा आर्थिक दृष्टि से किसी भी प्रकार का भेद-भाव समतावादी समाज-रचना में प्रमुख बाधा है।

विज्ञान कभी विषमता का हेतु नहीं होता। विषमता का हेतु अभाव है। इस अभाव की पूर्ति विज्ञान द्वारा संभव है। विज्ञान प्रकृति का अनुसंधान करके मानव जीवन की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन में वृद्धि करने में सक्षम है। इसमें कोई शक नहीं कि उत्पादन वृद्धि से अभाव कम होंगे और समता की स्थापना में तेजी आयेगी। विषमता का अन्य कारण वितरण की अव्यवस्था भी है। अतः वितरण प्रणाली में समुचित सुधारों द्वारा समता लायी जा सकती है।

समतावादी समाज-रचना में कानून के प्रयोग का विरोध करते हुए आपने कहा कि कानून द्वारा समता ऊपर से थोपी जाती है। इससे अन्दर-ही-अन्दर घोर विषमता बढ़ती जाती है। यह विषमता परिस्थितिवश संघर्ष का रूप भी ले सकती है। समता के लिए आवश्यक है कि हमें अपने कर्त्तव्यों का बोध हो। कर्त्तव्य-बोध होने पर हम स्वतः सत् कार्यों की ओर प्रेरित होंगे। सत् कार्यों के मधुर फल से जीवन मधुमय बन जाता है तथा इससे प्राप्त सामर्थ्य से मानव अपने समतावादी समाज-रचना रूपी रथ को प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाता चलता है जो कानून से संभव नहीं है।

यदि युवा-पीढ़ी उचित संस्कारों से संस्कारित है तो अवश्य ही समतावादी समाज-रचना में उसका योगदान निर्णायक हो सकता है। युवा-पीढ़ी को यह तथ्य भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि संसार की समस्त समस्याओं, संघर्षों, दुःखों और अभावों का कारण विषमता में निहित है। जहाँ समता की प्रतिष्ठा है वहाँ अपने और पराये की सीमा रेखा नहीं होती है। इससे शोषण मिटता है तथा सहकारिता और भ्रातृत्व का विकास होता है। यही सोचकर यदि युवा-पीढ़ी कार्य करेगी तो अवश्य ही समतावादी समाज की स्थापना होगी।
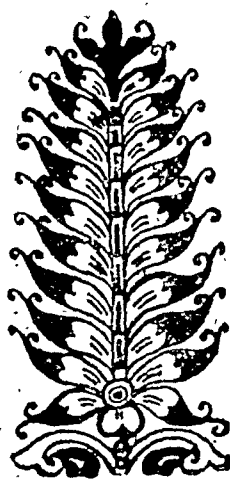
११. **श्री भानीराम अग्निमुख :** प्रवुद्ध विचारक और लेखक।

१२. **डॉ० उदय जैन :** इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान विभाग में रीडर, प्रवुद्ध विचारक व लेखक।

१३. **श्री रिषभदास रांका :** स्वर्गस्थ, सुप्रसिद्ध समाजसेवी, विचारक व लेखक, जैन जगत् के सम्पादक, भारत जैन महामंडल के मंत्री, पूना।

१४. **श्री पी० सी० चोपड़ा :** अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ के अध्यक्ष, प्रवुद्ध विचारक, आयकर सलाहकार, दालू मोदी बाजार, रतलाम (म० प्र०)।

१५. **श्री अगरचन्द नाहटा :** हिन्दी व राजस्थानी के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान्, जैन-धर्म, दर्शन व साहित्य के विशेषज्ञ, अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर।

१६. **डॉ० संघसेनसिंह :** दिल्ली विश्वविद्यालय में बौद्ध विद्या विभाग के अध्यक्ष, प्रवुद्ध विचारक।

१७. **डॉ० हरिराम आचार्य :** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में संस्कृत-विभाग में रीडर, प्रसिद्ध कवि, लेखक और नाटककार।

१८. **श्री के० एल० शर्मा :** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में दर्शन शास्त्र विभाग में प्राध्यापक, प्रवुद्ध चिन्तक और लेखक।

१९. **श्री जेड़० आर० मसीह :** ईसाई धर्म के मर्मज्ञ, चौमूं हाऊस, जयपुर।

२०. **डॉ० फ़ज्ले इमाम :** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में उर्दू प्राध्यापक, लेखक, कवि और समीक्षक।

२१. **डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय :** विश्वविद्यालय राजस्थान कॉलेज के प्राचार्य, कवि, उपान्यसकार, समीक्षक और प्रवुद्ध विचारक।

२२. **श्री काशीनाथ त्रिवेदी :** प्रमुख सर्वोदयी विचारक और लेखक, २२, साजन नगर, इन्दौर-१।

२३. **मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'कमल' :** जैन मुनि, प्रबुद्ध चिन्तक, लेखक और कवि।

२४. **श्री प्रकाशचन्द्र सूर्या :** प्रसिद्ध व्यवसायी और लेखक, २६, जवाहर मार्ग, उज्जैन (मध्य प्रदेश)।

२५. **आचार्य श्री हस्तीमलजी म० सा० :** सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, गवेषक विद्वान् और इतिहासज्ञ।

परिशिष्ट

हमारे सहयोगी लेखक

१. **आचार्य श्री नानालालजी म० सा० :** सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, आगमवेत्ता और शास्त्रज्ञ, समता-दर्शन के गूढ़ व्याख्याता।

२. **डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन :** विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत और जैन-दर्शन के विद्वान् लेखक।

३. **श्री रमेश मुनि शास्त्री :** राजस्थान केसरी श्री पुष्कर मुनिजी के शिष्य, विद्वान् लेखक।

४. **डॉ० भागचन्द जैन भास्कर :** नागपुर विश्वविद्यालय में पालि और प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, जैन और बौद्ध साहित्य के विशेषज्ञ।

५. **डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी :** विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, कला संकाय के अधिष्ठाता, प्रबुद्ध विचारक और समीक्षक।

६. **श्री भंवरलाल पोल्याका :** 'महावीर जयन्ती स्मारिका' के प्रधान सम्पादक, विद्वान् लेखक, ५६६, मनिहारों का रास्ता, जयपुर-३।

७. **श्री रतनलाल कांठेड़ :** जैनधर्म-दर्शन के विद्वान् लेखक, रतन निवास लॉज, नीम चौक, जावरा (म० प्र०)।

८. **डॉ० वीरेन्द्रसिंह :** राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में हिन्दी प्राध्यापक, प्रबुद्ध विचारक, लेखक और समीक्षक।

९. **श्री शान्तिचन्द मेहता :** 'ललकार' के संस्थापक सम्पादक, प्रबुद्ध विचारक व लेखक, ए-४ कुम्भा नगर, चित्तौड़गढ़ (राज०)।

१०. **श्री कन्हैयालाल लोढ़ा :** जैनधर्म-दर्शन के विद्वान् लेखक व विचारक, अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, रामललाजी का रास्ता, जयपुर-३।

३९. **डॉ० के० एल० कमल** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के राजनीति विज्ञान विभाग में प्राध्यापक, विश्वविद्यालय पत्राचार संस्थान में उप-निदेशक, प्रवुद्ध विचारक और लेखक ।

४०. **मुनि श्री रूपचंद्र** : आचार्य श्री तुलसी के शिष्य, प्रसिद्ध कवि, विचारक और लेखक ।

४१. **डॉ० मदनगोपाल शर्मा** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक, हिन्दी-राजस्थानी के प्रसिद्ध कवि और लेखक ।

४२. **डॉ० सी० एस० बरला** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के अर्थ-शास्त्र विभाग में प्राध्यापक, कृषि अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ, प्रवुद्ध विचारक और लेखक ।

४३. **श्री सौभाग्यमल श्रीश्रीमाल** : वाल मन्दिर महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, जयपुर में प्राध्यापक, प्रवुद्ध विचारक, लेखक और शिक्षा-विद्, वी-८१, वापूनगर, जयपुर-४ ।

४४. **डॉ० नरेन्द्र भानावत** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक, 'जिनवाणी' के सम्पादक, कवि, लेखक और समीक्षक, सी-२३५ ए, तिलक नगर, जयपुर-४ ।

४५. **डॉ० प्रेमसुमन जैन** : उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर में जैन विद्या और प्राकृत विभाग के अध्यक्ष, प्रवुद्ध विचारक और लेखक, ४, रवीन्द्र नगर, उदयपुर ।

४६. **डॉ० महेन्द्र भानावत** : भारतीय लोक-कला मंडल, उदयपुर में उप-निदेशक, लोक-साहित्य, कला और संस्कृति के विद्वान्, 'रंगायन' और 'लोक-कला' के सम्पादक, ३५२, श्रीकृष्णपुरा, उदयपुर ।

४७. **डॉ० नेमीचन्द जैन** : इन्दौर विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक, 'तीर्थंकर' के सम्पादक, लेखक, समीक्षक और भाषाविद्, ६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-१ ।

४८. **श्री ज्ञानेन्द्र मुनि** : आचार्य श्री नानालालजी म० सा० के विद्वान् शिष्य ।

४९. **श्री जवाहरलाल मूणोत** : अ० भा० श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कांफ्रेंस के अध्यक्ष, प्रसिद्ध व्यवसायी, प्रवुद्ध विचारक और लेखक, अमरावती (महाराष्ट्र) ।

२६. **डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल** : जैन-धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के निदेशक, ए-४, बापू नगर, जयपुर-४ ।

२७. **श्री रणजीतसिंह कूमट** : प्रबुद्ध विचारक और लेखक, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी, विशेष सचिव, सहकारिता, सचिवालय, जयपुर ।

२८. **श्री आनन्दमल चोरड़िया** : प्रबुद्ध विचारक और लेखक अमर निवास, लाखन कोटड़ी, अजमेर (राज०) ।

२९. **श्री चंदनमल 'चाँद'** : कवि और लेखक, 'जैन जगत्' के सम्पादक, भारत जैन महामंडल के मंत्री, मर्कन्टाइल बैंक बिल्डिंग, सातवी मंजिल, फोर्ट, बम्बई-२३ ।

३०. **श्री केशरीचन्द सेठिया** : प्रसिद्ध व्यवसायी, लेखक और कथाकार, ५, तुलसिंगम स्ट्रीट, मद्रास-१ ।

३१. **श्री प्रतापचंद भूरा** : लेखक और विचारक, गंगाशहर (बीकानेर) राजस्थान ।

३२. **महासती उज्ज्वल कुमारीजी** : स्वर्गस्थ, विदुषी साध्वी, प्रखर वक्ता और तेजस्वी व्यक्तित्व ।

३३. **श्री अभयकुमार जैन** : हिन्दी प्राध्यापक और लेखक, कानूनगो वार्ड, बीना (म० प्र०) ।

३४. **श्री जशकरण डागा** : लेखक और विचारक, डागा सदन, संघपुरा, टोंक (राजस्थान) ।

३५. **श्री चाँदमल कर्णावट** : विद्या भवन शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, उदयपुर में हिन्दी प्राध्यापक, प्रबुद्ध विचारक और लेखक ।

३६. **श्री मोतीलाल सुराणा** : प्रसिद्ध व्यवसायी और बोधकथा लेखक, १/१, महेश नगर, इन्दौर-२ ।

३७. **डॉ० महावीर सरन जैन** : जबलपुर विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर हिन्दी एवं भाषा-विभाग के अध्यक्ष, लेखक, समालोचक और भाषाविद् ।

३८. **श्री ओंकार पारीक** : प्रसिद्ध कवि, लेखक और पत्रकार, एफ-३२, भोपालपुरा, उदयपुर ।

पंचम खण्ड

संघ-दर्शन

५०. **श्री मानव मुनि** : सर्वोदयी विचारक, रचनात्मक कार्यकर्ता और लेखक, विसर्जन आश्रम, नौलखा, इन्दौर (म०प्र०)।

५१. **श्री संजीव भानावत** : राजस्थान विश्वविद्यालय में एम० ए० के छात्र, लेखक, सी-२३५ ए, तिलक नगर, जयपुर-४।

५२. **श्री सिद्धराज ढढ्ढा** : अ० भा० सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष, सुप्रसिद्ध सर्वोदयी विचारक व लेखक, चौरू का रास्ता, जयपुर-३।

५३. **डॉ० दयाकृष्ण** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में दर्शन शास्त्र के आचार्य, सुप्रसिद्ध दार्शनिक, विद्वान् और लेखक।

५४. **श्री श्रीचन्द गोलेछा** : प्रसिद्ध रत्न व्यवसायी, प्रबुद्ध विचारक, सी-२३, भगवानदास रोड, जयपुर।

५५. **श्री गुमानमल चोरड़िया** : अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ के भूतपूर्व अध्यक्ष, साधक व विचारक, पितलियों का चौक, जयपुर-३।

५६. **श्री देवेन्द्रराज मेहता** : भारतीय प्रशासनिक अधिकारी, उद्योग सचिव, कर्मठ व्यक्तित्व व विचारक, बी-५, बजाज नगर, जयपुर-४।

५७. **कुमारी शुद्धात्म प्रभा जैन** : राजस्थान विश्वविद्यालय में एम० ए० की छात्रा, लेखिका, ए-४, बापू नगर, जयपुर-४।

५८. **श्री सरदारसिंह जैन** : राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में एम० ए० के छात्र, लेखक।

५२
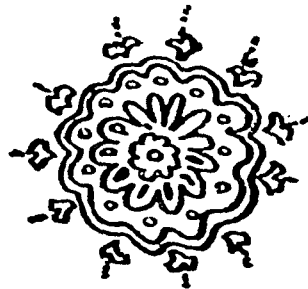
अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ

संस्थाओं के घोषित उद्देश्यों से उनके कार्यक्रमों का साम्य नहीं होता, ऐसा प्रायः सुनने में आता है। अर्थात् कथनी और करनी के अंतर की बात दुहराई जाती है। श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ सिद्धान्त और व्यवहार का अन्तर मिटाने के लिए प्रयत्नशील है। यहाँ प्रस्तुत है संघ के सिद्धान्त व आदर्श 'प्रवृत्तियाँ' शीर्षक से, तथा संघ का व्यावहारिक स्वरूप, जयपुर में आयोजित संघ की कार्यसमिति बैठक की एक झलक के रूप में।

—**सम्पादक**

(१)

साधुमार्गी जैन संघ की प्रवृत्तियाँ

□ **श्री भंवरलाल कोठारी**

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ की स्थापना वि० सं० २०१६, मिती आश्विन शुक्ला द्वितीया को हुई। संघ का उद्देश्य सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अभिवृद्धि करते हुए समाजोन्नति के कार्यों को करना है। इन उद्देश्यों की पूर्ति एवं प्राप्ति हेतु वर्तमान में संघ की निम्न मुख्य प्रवृत्तियाँ चालू हैं :—

जवाहराचार्य शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में हमने 'श्रीमद् जवाहराचार्य' विशेषांक प्रकाशित किया है तथा इसी प्रेरणा के संबल पर यह 'समता' विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है।

शिक्षण :

शिक्षण की दृष्टि से हमारी अनेक बहु उद्देश्यीय बहु आयामी प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके द्वारा नैतिक शिक्षण और लोक-शिक्षण के अभिनव भागीरथ प्रयत्नों को मूर्त रूप प्रदान करने के प्रयास चल रहे हैं।

धार्मिक परीक्षा बोर्ड :

धार्मिक परीक्षा बोर्ड का कार्य निरन्तर प्रगति कर रहा है। गत वर्ष कार्तिक मास में बोर्ड की विविध परीक्षाओं में लगभग अढ़ाई हजार विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। संख्यात्मक विकास के साथ ही साथ छात्रों में गुणात्मक विकास भी स्पष्ट परिलक्षित किया जा सकता है। इस वर्ष परीक्षाओं के लिए नई नियमावली व पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया है, साथ ही तदनुसार पुस्तकों का मुद्रण भी किया गया है।

धार्मिक शिक्षण शालाएँ :

संघ द्वारा १२ धार्मिक शिक्षण शालाओं को अनुदान दिया जा रहा है। इन शालाओं के निरीक्षण हेतु 'निरीक्षक-मंडल' का भी गठन किया गया है। इस दिशा में विशेष प्रगति के लिए संघ-शाखाओं पर बालक मंडलियों एवं धार्मिक शिक्षण शालाओं का गठन किया जा रहा है।

छात्रवृत्ति :

प्रतिभावान छात्रों को छात्रवृत्ति देने की योजना का लाभ उठाने के लिए अधिकाधिक छात्र आगे आए हैं और उनकी अपेक्षाओं की पूर्ति का प्रयास किया जा रहा है।

छात्रावास :

श्री गणेश जैन छात्रावास, उदयपुर के नव-निर्मित भवन से द्विगुणित क्षमता का लाभ उठाने के प्रयास किए जा रहे हैं। यहाँ लौकिक शिक्षण प्राप्त कर रहे छात्रों के निवास, भोजन तथा धार्मिक शिक्षण की सुव्यवस्था है।

विश्वविद्यालयों में जैनोलॉजी की शिक्षा :

उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर में जैनोलॉजी एवं प्राकृत शिक्षण विभाग की स्थापना हेतु संघ द्वारा दो लाख रुपये की राशि भेंट की गई है। एक लाख रुपये की राशि सरकार ने अनुदान स्वरूप दी है। इन तीन लाख रुपये की

सम्यक् ज्ञान :

सम्यक् ज्ञान के अन्तर्गत हमारी निम्न प्रवृत्तियाँ संचालित हो रही हैं :—

प्रकाशन :

(१) साहित्य प्रकाशन

(२) 'श्रमणोपासक' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन

शिक्षण :

(१) धार्मिक परीक्षा बोर्ड का संचालन
(२) धार्मिक शिक्षण शालाओं को अनुदान
(३) प्रतिभावान छात्रों को छात्रवृत्ति
(४) श्री गणेश जैन छात्रावास, उदयपुर का संचालन
(५) श्री गणेश जैन ज्ञान भंडार, रतलाम का संचालन
(६) विश्वविद्यालयों में जैनोलॉजी शिक्षण व शोध का प्रयत्न
(७) श्री सुरेन्द्रकुमार सांड सोसाइटी के माध्यम से सम्यक् शिक्षण

साहित्य प्रकाशन :

संघ द्वारा श्री गणेश स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत सत्साहित्य प्रकाशन का कार्य हो रहा है। अब तक बत्तीस ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के ग्रन्थों में—समता-दर्शन और व्यवहार, प्राकृत पाठमाला, समराइच्च-कहा प्रथम खण्ड (प्रथम व द्वितीय भव), भगवान् महावीर एण्ड हिज रिलेवेन्स इन मॉडर्न टाइम्स, लॉर्ड महावीर एण्ड हिज टाइम्स, भ० महावीर : आधुनिक संदर्भ में तथा सुगम पुस्तकमाला के अन्तर्गत श्रीमद् जवाहराचार्य जीवन और व्यक्तित्व, समाज, शिक्षा, सूक्तियाँ व राष्ट्र-धर्म उल्लेखनीय हैं।

इन में से कुछ ग्रन्थों को भारत और विदेश (फ्रैंकफुर्त के पुस्तक मेले आदि) में विशेष रूप से समादृत किया गया है।

'श्रमणोपासक' पत्र प्रकाशन :

'श्रमणोपासक' पत्र को उच्च स्तरीय बनाने की दिशा में विशेष प्रयास जारी हैं। इसके आकार एवं बाह्य आवरण को अधिकाधिक सुरुचिपूर्ण तथा कलात्मक बनाने के साथ ही साथ इसकी सामग्री में श्रमण संस्कृति के अनुरूप विचार-सरणी तथा सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अभिवृद्धि करने वाले लेखों को [illegible]यतापूर्वक स्थान देने की ओर सतत ध्यान दिया जा रहा है। श्रीमद्

स्वधर्मी सहयोग :

स्वधर्मी सहयोग के क्षेत्र में संघ अपने साधन-सामर्थ्य के अनुसार यथा-शक्य सहयोग करने में प्रवृत्त रहा है तथा हम इस दिशा में और आगे बढ़ने को उत्सुक हैं।

जीवदया–प्रवृत्ति :

संघ द्वारा इस क्षेत्र में सघन प्रयास किए जा रहे हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों से 'पशु-पक्षी बलिवध निषेध विधेयक' पारित करने हेतु समय-समय पर पत्राचार किया गया है। राजस्थान में पारित पशु-पक्षी-बलि-वध निषेध विधेयक के विरुद्ध उच्च न्यायालय में प्रस्तुत याचिका के विरुद्ध अपना पक्ष प्रस्तुत करने हेतु हमने उच्च न्यायालय में पार्टी बनने का आवेदन किया है।

स्वाध्याय संघ, रतलाम :

स्वाध्याय के माध्यम से ही धर्म को वास्तविक स्वरूप में समझने और सम्यक् चिन्तनपूर्वक आचरण में उतारना सम्भव है। इस कार्य में सहयोग प्रदान करने हेतु स्वाध्याय संघ, रतलाम विशेष प्रयत्नशील है।

श्री धर्मपाल प्रचार-प्रसार समिति :

इस समाजोन्नति एवं राष्ट्र जागृति मूलक प्रवृत्ति द्वारा पिछड़े हुए वर्गों के व्यसनयुक्त, अशिक्षित व असंस्कारित लोगों को व्यसनमुक्त, शिक्षित एवं संस्कारित करके उनकी सामाजिक स्थिति को समुन्नत बनाने का एक महान् युगप्रवर्त्तन-कारी कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। प्रवृत्ति कार्य का विविध रूपों में विभाजन किया गया है तथा नियमित प्रवासों द्वारा इसे द्रुत गति प्रदान करने के प्रयास किए गए हैं। लगभग ७५ धर्मपाल शालाओं से संस्कारों के साथ ही साक्षरता का अभिनव, लोक शिक्षणकारी, जनोपयोगी कार्य प्रारम्भ किया गया है। यह प्रवृत्ति (१) सर्वेक्षण, (२) शिक्षण, (३) प्रशिक्षण, (४) निरीक्षण एवं (५) परीक्षण की सुनियोजित कार्य पद्धति से अपने पांचों क्षेत्रों (१) रतलाम, (२) जावरा, (३) खाचरौद–नागदा, (४) मक्सी और (५) मन्दसौर में सुयोग्य निष्ठावान कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से सतत प्रगति कर रही है।

श्रीमद् जवाहराचार्य शताब्दी वर्ष :

संघ ने युगस्रष्टा, युगद्रष्टा ज्योतिर्धर स्व० श्री जवाहरलालजी म० सा० के शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में अनेक जीवन-उन्नायक, युग-निर्माणकारी योजनाएँ एवं कार्यक्रम हाथ में लिए और उन्हें क्रियान्वित किया।

राशि पर प्राप्त ब्याज से उदयपुर में 'जैनोलॉजी एवं प्राकृत शिक्षण विभाग' प्रारम्भ हो गया है, जो हम सबके लिए परम हर्ष का विषय है। संघ इस दिशा में दीर्घकाल से प्रयत्नशील था।

शोध :

प्रकाशन व शिक्षण की उपादेयता को पूर्णता के स्तर तक पहुँचाने के लिए शोध का महत्त्व निर्विवाद है। इस दृष्टि से रतलाम में स्थापित श्री गणेश जैन ज्ञान भंडार प्राचीन अलभ्य पुस्तकों के संकलन और उपयोग की योजना को मूर्त रूप प्रदान करने में उत्साहपूर्वक जुटा हुआ है।

श्री सुरेन्द्रकुमार सांड शिक्षा सोसाइटी, नोखा :

उपर्युक्त शिक्षण प्रवृत्तियों के साथ ही संघ की यह सहयोगी संस्था अध्ययनरत पूज्य संत-सतियाँ जी म० सा० एवं वैरागी भाई-बहिनों के धार्मिक शिक्षण की व्यवस्था करती है।

दर्शन और चारित्र्य :

सम्यक दर्शन व सम्यक् चारित्र्य की आराधना करने हेतु संघ ने भगवान् महावीर के परिनिर्वाण वर्ष और श्रीमद् पूज्य जवाहराचार्य के जन्म-शताब्दी वर्ष के स्वर्णिम सन्धियोग में जीवन और व्यवहार में समभाव साधना की ओर जन-जन को उन्मुख करने हेतु विविध प्रयास किए, जिनमें से उल्लेखनीय हैं, प्रथम, द्वितीय व तृतीय जीवन साधना, संस्कार-निर्माण एवं धर्म जागरण पद-यात्रा तथा स्वाध्याय एवं साधना-शिविरों का आयोजन। यात्रा और शिविर की इन जीवनोन्नायक प्रवृत्तियों को प्रत्येक वर्ष के कार्यक्रम में स्थायी रीति से सम्मिलित कर लिया गया है।

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन महिला समिति :

संघ की सहयोगी संस्था के रूप में 'महिला समिति' नारी जागरण हेतु विशेष रूप से क्रियाशील है। समिति द्वारा रतलाम में 'श्री जैन महिला उद्योग मन्दिर' की स्थापना की गई है, जिसके माध्यम से बहिनें घरेलू उद्योगों का प्रशिक्षण एवं रोजगार प्राप्त कर रही हैं।

श्री जैन आर्ट प्रेस :

संघ का यह निजी प्रेस कार्यक्षम एवं सुसंगठित रीति से कार्य कर रहा है, जिससे पिछले कुछ समय में प्रकाशन की गति व स्तर में सन्तोषजनक सुधार हुआ है।

स्वधर्मी सहयोग :

स्वधर्मी सहयोग के क्षेत्र में संघ अपने साधन-सामर्थ्य के अनुसार यथा-शक्य सहयोग करने में प्रवृत्त रहा है तथा हम इस दिशा में और आगे बढ़ने को उत्सुक हैं।

जीवदया-प्रवृत्ति :

संघ द्वारा इस क्षेत्र में सघन प्रयास किए जा रहे हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों से 'पशु-पक्षी बलिवध निषेध विधेयक' पारित करने हेतु समय-समय पर पत्राचार किया गया है। राजस्थान में पारित पशु-पक्षी-बलि-वध निषेध विधेयक के विरुद्ध उच्च न्यायालय में प्रस्तुत याचिका के विरुद्ध अपना पक्ष प्रस्तुत करने हेतु हमने उच्च न्यायालय में पार्टी बनने का आवेदन किया है।

स्वाध्याय संघ, रतलाम :

स्वाध्याय के माध्यम से ही धर्म को वास्तविक स्वरूप में समझने और सम्यक् चिन्तनपूर्वक आचरण में उतारना सम्भव है। इस कार्य में सहयोग प्रदान करने हेतु स्वाध्याय संघ, रतलाम विशेष प्रयत्नशील है।

श्री धर्मपाल प्रचार-प्रसार समिति :

इस समाजोन्नति एवं राष्ट्र जागृति मूलक प्रवृत्ति द्वारा पिछड़े हुए वर्गों के व्यसनयुक्त, अशिक्षित व असंस्कारित लोगों को व्यसनमुक्त, शिक्षित एवं संस्कारित करके उनकी सामाजिक स्थिति को समुन्नत बनाने का एक महान् युगप्रवर्त्तन-कारी कार्य सम्पन्न किया जा रहा है। प्रवृत्ति कार्य का विविध रूपों में विभाजन किया गया है तथा नियमित प्रवासों द्वारा इसे द्रुत गति प्रदान करने के प्रयास किए गए हैं। लगभग ७५ धर्मपाल शालाओं से संस्कारों के साथ ही साक्षरता का अभिनव, लोक शिक्षणकारी, जनोपयोगी कार्य प्रारम्भ किया गया है। यह प्रवृत्ति (१) सर्वेक्षण, (२) शिक्षण, (३) प्रशिक्षण, (४) निरीक्षण एवं (५) परीक्षण की सुनियोजित कार्य पद्धति से अपने पांचों क्षेत्रों (१) रतलाम, (२) जावरा, (३) खाचरौद-नागदा, (४) मक्सी और (५) मन्दसौर में सुयोग्य निष्ठावान कार्यकर्त्ताओं के सहयोग से सतत प्रगति कर रही है।

श्रीमद् जवाहराचार्य शताब्दी वर्ष :

संघ ने युगस्रष्टा, युगद्रष्टा ज्योतिर्धर स्व० श्री जवाहरलालजी म० सा० के शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में अनेक जीवन-उन्नायक, युग-निर्माणकारी योजनाएँ एवं कार्यक्रम हाथ में लिए और उन्हें क्रियान्वित किया।

वीर संघ :

संघ की शताब्दी-वर्ष-कार्यक्रमों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि रही—वीर संघ का निर्माण। श्रमण संस्कृति के उच्चस्थ शिखर पर आसीन आत्म-साधक, साधुत्व एवं गृहस्थी के दायित्वों में फंसे हुए गृहस्थीजनों के बीच निवृत्ति, स्वाध्याय, साधना और सेवा का अपने जीवन में क्रमिक विकास करने वाले सम्यक् आचरण युक्त सच्चे श्रावकों का यह संघ 'वीर-संघ' एक महान् चारित्रिक क्रान्ति के सूत्रपात का प्रतीक है। सभी क्रियाशील धर्मानुरागीजनों से इस संघ की सदस्यता ग्रहण करने का आत्मिक अनुरोध है।

श्रीमद् जवाहराचार्य चलचिकित्सालय :

इस वर्ष में मालवा की धर्मभूमि के दलित पिछड़े जनों के बीच चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवा के लिए चल-चिकित्सालय का शुभारम्भ किया गया। इस योजना से अब तक सहस्रों जन लाभान्वित हो चुके हैं। इस सतत गतिमान चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवा की योजना से संघ-गौरव में अप्रतिम वृद्धि हुई है।

श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तकमाला :

पूज्य जवाहराचार्य के साहित्य को सहज बोधगम्य रीति से प्रचारित करने के लिए श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तकमाला के अन्तर्गत उनके जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली आठ प्रकाश्य पुस्तकों में से पांच प्रकाशित कर दी गई हैं, शेष शीघ्र प्रकाशित की जा रही हैं।

श्रीमद् जवाहराचार्य स्मृति व्याख्यानमाला :

श्रीमद् जवाहराचार्य की स्मृति में प्रति वर्ष भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य विषय पर इस व्याख्यानमाला का शुभारम्भ किया गया है। इसके अन्तर्गत अब तक 'आत्मधर्मी आचार्य जवाहर की राष्ट्रधर्मी भूमिका' पर डॉ० नरेन्द्र भानावत के उदयपुर में व 'भारतीय दर्शन में मोक्ष का स्वरूप' पर डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, के जयपुर में दो व्याख्यान हो चुके हैं।

युवा संघ :

युवा संघ की संयोजकीय समिति गठित की गई, जिसने विधान और नियमावली बनाकर उसी आधार पर संगठन की निर्मिति के प्रयास कर, युवा संघ का गठन किया है।

बालक-मंडली :

बालक-बालिकाओं में धार्मिक एवं नैतिक संस्कार तथा अध्ययन की

प्रवृत्ति डालने के महत् उद्देश्य से स्थान-स्थान पर बालक मंडलियों के गठन को प्रोत्साहित किया गया है।

कार्यालय :

संघ की इन विविध प्रवृत्तियों के संचालन के गुरुतर दायित्व के निर्वाह हेतु संघ के निजी भवन 'समता भवन' बीकानेर में हमारा मुख्य कार्यालय व प्रेस स्थित है।

◆ ◆

(२)

जयपुर कार्यसमिति बैठक : एक झलक

☐ श्री जानकीनारायण श्रीमाली

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा दिनांक २१ व २२ जनवरी, १९७८ को जयपुर में आयोजित कार्यसमिति बैठक के अवसर पर अनेक लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों के अवलोकन एवं विविध आकर्षक कार्यक्रमों में भाग लेने का अवसर मिला। उसकी एक झलक यहाँ प्रस्तुत है।

कार्यसमिति की बैठक :

श्री उमरावमल चोरड़िया के निवास स्थान 'सरूप-शांति' पर ही आगन्तुक संघ-सदस्यों के आवास-निवास एवं भोजन की व्यवस्था थी। चोरड़िया परिवार स्थानीय जनों के सहयोग से अहर्निश सेवारत था। स्वधर्मी वात्सल्य का यह एक प्रेरक दृश्य था। कार्यसमिति की सभी बैठकें यहीं पर उत्साह भरे वातावरण में सम्पन्न हुईं। कार्यसमिति बैठक के मुख्य निर्णय 'श्रमणोपासक' के १० फरवरी, १९७८ के अंक में प्रकाशित किये गये हैं।

श्रीमद् जवाहराचार्य स्मृति व्याख्यानमाला :

जयपुर के सुप्रसिद्ध रवीन्द्र मंच पर २१ जनवरी को रात्रि ७ बजे श्रीमद् जवाहराचार्य स्मृति व्याख्यानमाला के द्वितीय व्याख्यान का आयोजन था। कड़ाके की शीत में भी विशाल सभा-भवन खचा-खच भरा था।
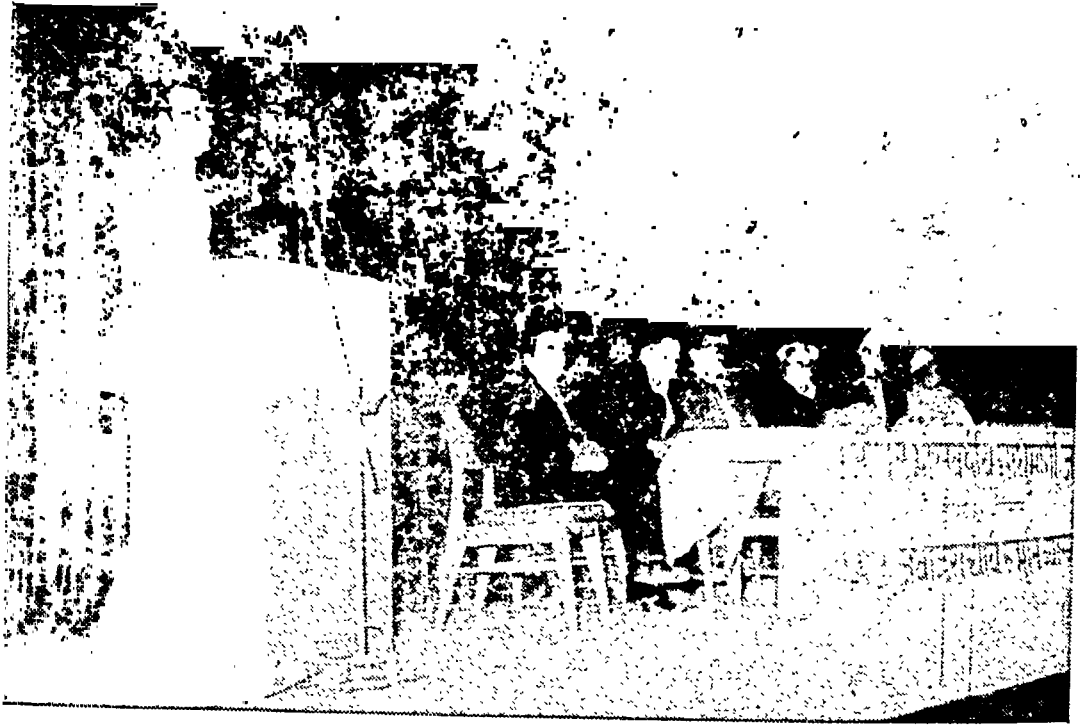
[मंच पर बाएँ से दाएँ—संघमंत्री श्री भंवरलाल कोठारी, संघ की प्रवृत्तियों का परिचय देते हुए, कार्यक्रम संयोजक डॉ० नरेन्द्र भानावत, भूतपूर्व संघ अध्यक्ष श्री गुमानमल चोरड़िया, व्याख्यानदाता डॉ० रामचंद्र द्विवेदी, अध्यक्ष कुलपति श्री वेदपाल त्यागी, संघ अध्यक्ष श्री पी० सी० चोपड़ा एवं भूतपूर्व संघ अध्यक्ष श्री गणपतराज बोहरा विराजमान हैं।]

स्वागत एवं माल्यार्पण :

सर्वप्रथम श्री हंसराज सुकलेचा सहमंत्री श्री अ. भा. साधुमार्गी जैनसंघ ने मंगलाचरण प्रस्तुत किया।

संयोजक डॉ० नरेन्द्र भानावत ने समारोह के अध्यक्ष राजस्थान विश्व-विद्यालय के कुलपति माननीय श्री वेदपाल त्यागी का स्वागत करते हुए कहा कि आज इस पुनीत अवसर पर हमें न्यायमूर्ति और शिक्षाविद् श्री त्यागीजी के रूप में अति श्रेष्ठ सुयोग प्राप्त हुआ है। उन्होंने तथा अन्य संघ प्रमुखों ने श्री त्यागीजी व प्रमुख वक्ता डॉ० रामचंद्र द्विवेदी का माल्यार्पण पूर्वक स्वागत किया।

डॉ० भानावत ने आज के कार्यक्रम के प्रमुख वक्ता उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ. रामचंद्र द्विवेदी का परिचय देते हुए कहा कि द्विवेदीजी भारतीय धर्म व दर्शन के अधिकारी विद्वान् हैं। जैन-धर्म व दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन में आपकी गहरी रुचि है। आप ही के
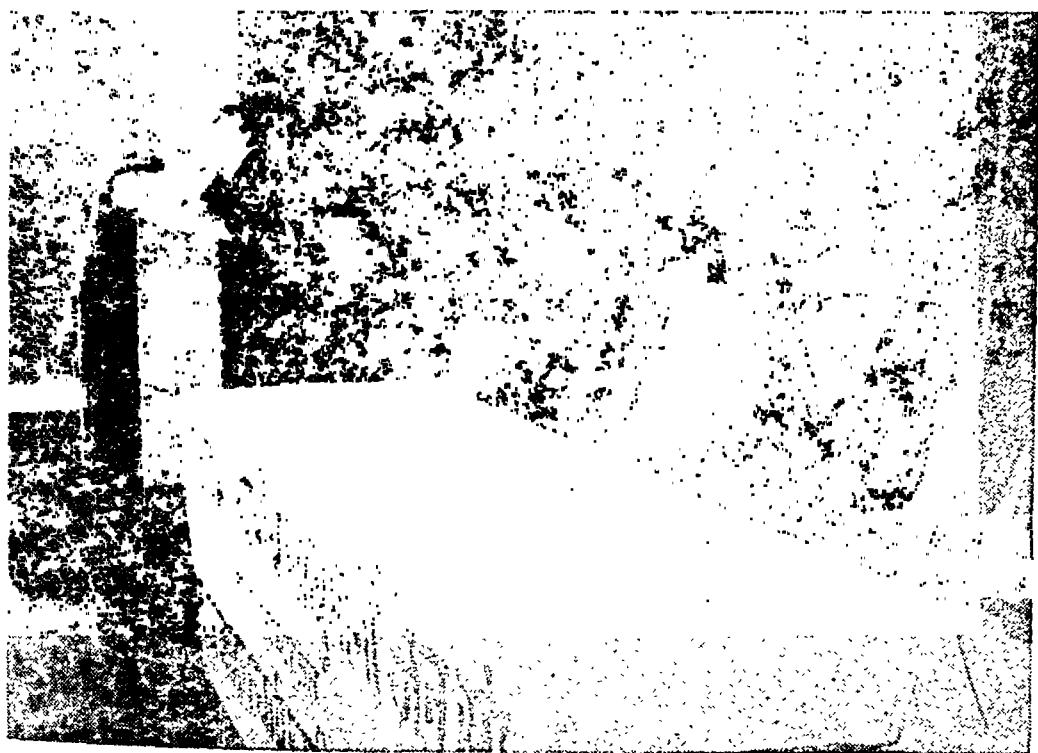
डॉ० भानावत संयोजकीय वक्तव्य देते हुए

प्रयत्नों से उदयपुर विश्वविद्यालय में भगवान् महावीर और जैन-संस्कृति विषयक अखिल भारतीय स्तर के दो सेमिनार आयोजित हो सके। आज जब चारों ओर बंधन है, हम आपके 'मोक्ष' विषयक विचार सुनने यहाँ एकत्र हुए हैं।

भूतपूर्व संघ अध्यक्ष **श्री गुमानमल चोरड़िया** ने स्वर्गीय पूज्य जवाहराचार्य के तेजस्वी जीवन की संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत करते हुए कहा कि उनकी अछूतोद्धार की प्रेरणा को वर्तमान आचार्य श्री नानालालजी म. सा. ने मालवा क्षेत्र में क्रियान्वित किया है। आपके सदुपदेशों से सैकड़ों गांवों के हजारों परिवारों के लाखों लोगों ने व्यसनमुक्त–विकारमुक्त जीवन विताने का संकल्प ग्रहण किया है और भारत का ग्रामीण जन-जीवन वदल रहा है। संघ इस कार्य को गति प्रदान करने के लिए धर्मपाल प्रचार-प्रसार प्रवृत्ति का संचालन करता है।

संघमंत्री **श्री भंवरलाल कोठारी** ने श्रीमद् जवाहराचार्य शताब्दी वर्ष में निर्मित श्रीमद् जवाहराचार्य सुगम पुस्तकमाला प्रकाशन योजना, श्रीमद् जवाहराचार्य चलचिकित्सालय योजना एवं श्रीमद् जवाहराचार्य स्मृति व्याख्यानमाला का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए वताया कि संघ शिक्षा और चिकित्सा के क्षेत्र में अहर्निश सेवारत है। श्री कोठारीजी ने कहा कि व्याख्यानमाला का प्रथम व्याख्यान गत वर्ष उदयपुर में डॉ. नरेन्द्र भानावत ने 'आत्मधर्मी आचार्य

विशाल जनसमूह का एक दृश्य

जवाहर की राष्ट्रधर्मी भूमिका' विषय पर दिया था। द्वितीय व्याख्यान अभी आपके समक्ष होने जा रहा है। हम चाहते हैं कि इसके वार्षिक आयोजनों द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर चिन्तन के क्षेत्र में नये आयाम खुलें। इसी अवसर पर संघमंत्री ने निवृत्ति, स्वाध्याय, साधना और सेवा के चार मूलाधारों पर निर्मित और क्रियान्वित 'वीरसंघ' योजना का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया।

प्रमुख व्याख्यान : भारतीय दर्शन में मोक्ष का स्वरूप :

प्रमुख वक्ता **डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी** ने 'भारतीय-दर्शन में मोक्ष का स्वरूप' विषय पर अपने डेढ़ घंटे के धारा प्रवाह, ओजस्वी, ललित व्याख्यान में भारतीय दर्शन का सांगोपांग निरूपण किया। इस गम्भीर और रूक्ष दार्शनिक विषय पर भी श्रोताओं का शांति और मनोयोगपूर्वक यह दीर्घ भाषण सुनना तथा समाप्ति पर कुछ और सुनने के भाव व्यक्त करना स्वयं में व्याख्यान की अपूर्व सफलता का द्योतक था। [डॉ. द्विवेदी का यह व्याख्यान अलग से पुस्तक रूप में प्रकाशनाधीन है।]

मंच अध्यक्ष श्री वी. डी. [illegible] कुलपति श्री [illegible] का स्वागत करते हुए।

अध्यक्ष श्री त्यागीजी का उद्बोधन :

समारोह के अध्यक्ष श्री वेदपालजी त्यागी ने कहा कि जिस उच्चकोटि का व्याख्यान आपने सुना है, अब उसके बाद मैं कुछ कहूँ, यह उचित नहीं। आज के आयोजन हेतु आमंत्रित करते समय मुझे श्रीमद् जवाहराचार्य के जीवन, व्यक्तित्व, कृतित्व और विचार पर प्रकाश डालने वाली चार पुस्तकें दी गई थीं। उनमें से दो मैंने पढ़ीं। उन्हें पढ़ कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। मैं निमंत्रण-कर्त्ताओं को धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उन्होंने मुझे यहाँ बुलाकर आमंत्रित किया।

समाज के दुःख को अपना दुःख समझने वाले राष्ट्रधर्मी आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. ने उस स्वातंत्र्य संघर्ष के कठिन काल में जो व्याख्यान दिए, वे सच्चे अर्थों में क्रांतिकारी थे। मैं उन क्रांतद्रष्टा आचार्य श्री को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। श्री त्यागीजी ने कहा कि आज जो व्याख्यान मैंने सुना है, वैसा कभी नहीं सुना था। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि भारत में आदि-काल से आज तक भी चिन्तन का प्रजातंत्र बना हुआ है।

इसी अवसर पर श्री त्यागी ने 'श्रीमद् जवाहराचार्य : राष्ट्र धर्मी' पुस्तक का विमोचन किया।

श्री त्यागीजी पुस्तक का विमोचन करते हुए

आभार प्रदर्शन :

संघ, अध्यक्ष श्री पी. सी. चोपड़ा ने जयपुर के कार्यक्रम आयोजकों, कुलपति श्री वेदपालजी त्यागी, प्रमुख वक्ता डॉ. द्विवेदी, संयोजक डॉ. भानावत एवं विशाल उपस्थिति के लिए जयपुर के नागरिकों व सुधी श्रोताओं के प्रति हृदय से आभार ज्ञापित किया। श्री चोपड़ा ने संघ प्रवृत्तियों का भी संक्षिप्त परिचय कराते हुए कहा कि स्वर्गीय आचार्य श्री की सुगन्ध से राष्ट्र आज भी महक रहा है। उन्होंने कहा कि मैं सौभाग्यशाली हूँ, क्योंकि सबसे बढ़िया वाद है—धन्यवाद, और वही देने का मुझे अवसर मिला है।

भव्य स्वागत समारोह :

जयपुर की सुसंस्कृत गौरवपूर्ण ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ही यहाँ की विभिन्न जैन संस्थाओं के प्रतिनिधियों की ओर से दिनांक २२ जनवरी, १९७८ को प्रातः रवीन्द्र मंच पर देश के कोने-कोने से पधारे हुए श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ की कार्यसमिति के सदस्यों एवं विशेष आमंत्रितों के सम्मान में एक स्वागत समारोह का भव्य आयोजन किया गया।

कार्यक्रम का संयोजन करते हुए अपनी ललित भाषा में **श्री उमरावमल चोरड़िया** ने कहा कि यह कार्यक्रम जयपुर के जैन समाज की ऐक्य भावना का प्रतीक और नगर की विशिष्ट परम्परा का द्योतक है।

विशाल मंच पर सर्व श्री उमरावमल चोरड़िया, गुमानमल चोरड़िया,

गणपतराज वोहरा, समारोह अध्यक्ष श्री जगन्नाथसिंह मेहता, संघ अध्यक्ष श्री पी. सी. चोपड़ा एवं स्वागताध्यक्ष श्री खेलशंकर भाई दुर्लभजी विराजमान थे। स्वागताध्यक्ष श्री दुर्लभजी ने सभी का माल्यार्पणपूर्वक स्वागत किया।

सर्वप्रथम श्री जगदीश ने अपने वाद्य वादकों के सहयोग से सुमधुर मंगलाचरण प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् जयपुर की विभिन्न जैन संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने अपने विचार प्रकट किये।

सम्यक् ज्ञान प्रचारक मंडल के प्रतिनिधि **श्री चन्द्रराज सिंघवी** ने कहा कि सब संस्थाओं के प्रतिनिधियों को एक मंच पर एकत्र करने के लिए मैं श्री साधुमार्गी जैन संघ का आभारी हूँ। उन्होंने कहा कि यह अपने प्रकार का प्रथम अवसर है। हमें इस अवसर पर यही सोचना है कि जैन धर्म को किस प्रकार आगे बढ़ावें।

प्राकृत भारती की ओर से बोलते हुए **श्री डी. आर. मेहता** ने कहा कि अपने सांस्कृतिक वैभव और गौरव की स्मृति से प्रेरणा पाकर ही समाज आगे बढ़ता है। हमारे यहाँ मौलिक व दिशादर्शक श्रेष्ठ ग्रन्थों का प्रचुर भंडार है, किन्तु उनमें से अधिकांश ग्रन्थ जन-साधारण की भाषा में नहीं हैं। अतः जन-सामान्य उनके वैचारिक वैभव एवं सौंदर्य-बोध का लाभ उठाने से वंचित है। आज से एक वर्ष पूर्व गठित प्राकृत भारती ऐसे ग्रंथों की शोध कर उन्हें जन-सुलभ कराने हेतु प्रयत्नशील है। इस दिशा में 'कल्पसूत्र' व 'राजस्थान का जैनसाहित्य' हमारे उल्लेखनीय प्रकाशन हैं। श्री मेहता ने अ. भा. साधुमर्गी जैन संघ के समागत प्रतिनिधियों का हार्दिक स्वागत किया।

भारत जैन महामंडल जयपुर शाखा की ओर से बोलते हुए **श्री एन. एम. रांका एडवोकेट** ने कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमों से एकरूपता की अनुभूति को बल मिलता है। श्री रांका ने पधारे हुए महानुभावों का स्वागत करते हुए समाज में फैली कुरीतियों का एकजुट होकर निवारण करने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने सभी विषयों पर तुलनात्मक अध्ययन करके निर्णय करने, सामूहिक विवाह पद्धति को प्रोत्साहित करने, विधवा विवाह और समाज सेवकों को उचित स्थान दिलाने के सम्बन्ध में विशेष प्रयास करने का पुरजोर अनुरोध किया।

राजस्थान जैनसभा के अध्यक्ष **श्री राजकुमार काला** ने अपने संक्षिप्त भावभरे भाषण में मालवा के क्षेत्रों में संघ द्वारा संचालित धर्मपाल प्रचार-प्रसार प्रवृत्ति के माध्यम से दलितों को ऊँचा उठाने के कार्य की चर्चा करते हुए कहा कि मैं ऐसे दलितोद्धारक संघ का अभिनन्दन करता हूँ। संघ ने कुरीति निवारण का भी बीड़ा उठाया है। हमें भी इनसे प्रेरणा लेकर जयपुर में ऐसे श्रेष्ठ कार्य

प्रारम्भ करने चाहिये। राजस्थान जैनसभा की गतिविधियों का परिचय देते हुए श्री काला ने सद्य प्रकाशित 'महावीर जयंती स्मारिका' के अवलोकन का अनुरोध किया।

श्री जैन श्वेतांबर खरतरगच्छ संघ के अध्यक्ष **श्री सौभाग्यचन्द नाहटा** ने आज की सभा को एक होने का अच्छा अवसर बताते हुए सभी पधारे हुए महानुभावों का अपने संघ की ओर से हार्दिक स्वागत किया।

राजस्थान विश्वविद्यालय की प्राध्यापिका **श्रीमती चन्द्रकान्ता डांडिया** ने संघ के सदस्यों का स्वागत करते हुए यह विश्वास व्यक्त किया कि साधुमार्गी जैनसंघ कुरीतियों को मिटाएगा और निरंतर आगे बढ़ेगा।
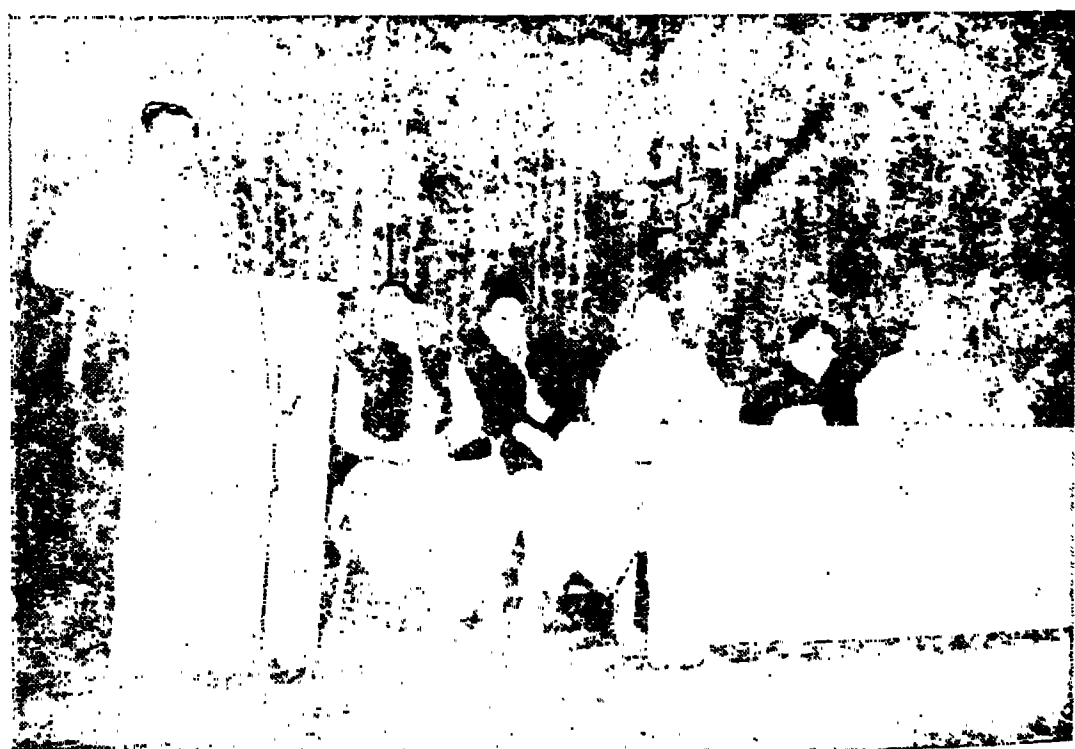
स्वागताध्यक्ष श्री खेलशंकर भाई दुर्लभजी सभा को संबोधित करते हुए।

स्वागत समिति के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध रत्न व्यवसायी **श्री खेलशंकर भाई दुर्लभजी** ने कहा कि श्री अ. भा. साधुमार्गी जैनसंघ की कार्यकारिणी समिति की बैठक का जयपुर में होना हमारे लिए एक प्रेरणा है। मुझे आप सभी का स्वागत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष में हुई राजस्थान की उपलब्धियों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि राजस्थान ने इस वर्ष में देश में सर्वाधिक रकम का योगदान किया है। महावीर

समिति की स्थापना और इसके माध्यम से की जा रही सेवा हमारे लिए गौरव की वात है। इसी वर्ष में उदयपुर वि. वि. में जैनोलॉजी एवं प्राकृत विभाग की स्थापना हुई है। यह वर्ष हमें प्रेरणा देता है कि हमारी थोड़ी सी सक्रियता भी कितनी प्रभावी रहती है।

श्री दुर्लभजी ने संघ की वीरसंघ प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कहा कि यदि समाज धर्म को जीवित रखना चाहता है तो इसे सफल वनाना होगा। वीरसंघ प्रवृत्ति केवल साधुमार्गी जैनसंघ में ही नहीं, भारत जैन महामंडल, वीरायतन और तेरापंथ समुदाय में भी है, पर साधुमार्गी जैनसंघ ने इसको जिस व्यवस्थित रीति से संचालित किया है, उससे मुझे विशेष प्रसन्नता है।

संघ की धर्मपाल प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि यह एक वेसिक (basic) चीज है। इस प्रकार के कार्य समाज और राष्ट्र को ऊँचा उठाते हैं। उन्होंने धर्मपाल क्षेत्रों में संघ द्वारा आयोजित जीवन-साधना, संस्कार-निर्माण एवं धर्म-जागरण पद यात्रा को आदर्श व प्रेरक वताया। इन क्षेत्रों में संचालित श्रीमद् जवाहराचार्य चल चिकित्सालय की सेवाओं का स्मरण करते हुए उन्होंने कहा कि वीरायतन द्वारा भी विहार में इसी प्रकार का एक चल चिकित्सालय संचालित किया जाता है। वहाँ २० हजार पुस्तकों का संग्रह भी है। उन्होंने कहा कि ये चीजें स्थानक या मंदिरों में नहीं मिलतीं, जीवन के कर्म और सेवा क्षेत्र में मिलती हैं। हमें सेवा के लिए आगे आना चाहिये। हम सव एक ही दिशा में कार्य कर रहे हैं, आवश्यकता है कि एक दूसरे के कार्यों से परिचित रहें, जिससे समन्वय सध सके।

समाज सुधार व सेवा के क्षेत्रों में द्रुतगति से कार्य करने की आवश्यकता पर वल देते हुए उन्होंने कहा कि सुधार करता कौन है? वैवाहिक कुरीतियाँ वढ़ रही हैं। सामूहिक विवाह प्रणाली अपनाने में हम हिचकिचा रहे हैं। उन्होंने भाई-वहिनों से कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया।

उन्होंने कहा कि श्रमण संघ अव वापस नहीं आ सकता। अतः हमें समान विचारों वाले साधुओं का फेडरेशन वनाने का प्रयास करना चाहिये।

स्वयं के शिक्षा और चिकित्सा से रहे सुदीर्घ सम्बन्धों की चर्चा करते हुए वीरायतन के अध्यक्ष श्री दुर्लभजी ने पूछा कि ईसाइयत का प्रचार क्यों हुआ? स्वयं ही उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि शिक्षा और चिकित्सा सेवा के सहारे मुट्ठी भर लोगों ने इस देश में तीन करोड़ ईसाई वना दिए। हमारे भी साधन हैं। हमें इन पर और अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

अपने भाषण का समापन करते हुए श्री दुर्लभजी ने कहा कि धर्म गरीबों के बीच में है। मेरी विनती है कि हम गरीबों के बीच जावें।

'शोषित जीवन को बिसरा दो' नामक गीत प्रस्तुत करके रामपुरा के **श्री समरथमल डागरिया** ने वातावरण को मधुर और प्रेरक बना दिया।

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के मंत्री **श्री भंवरलाल कोठारी** ने समय की मर्यादा का पालन करते हुए अत्यन्त संक्षेप में अपने विचार रखे। उन्होंने कहा कि जयपुर की महान् संस्थाओं के मनीषीगणों द्वारा आयोजित इस कार्यक्रम के लिए मैं श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ की ओर से आप सबके प्रति हृदय से आभार ज्ञापित करता हूँ। संघमंत्री ने कहा कि हमने सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के आधारभूत सिद्धान्तों पर अपनी प्रवृत्तियों का भवन निर्मित करने का प्रयास किया है और इन्हीं उद्देश्यों से अनुप्रेरित बालक मंडली, युवासंघ, वीरसंघ आदि क्रमिक और सहज विकास के संस्थान स्थापित किए हैं। उन्होंने कहा कि व्रतों की गणना करने की नहीं, इन्हें जीवन में उतारने की आवश्यकता है। व्रतों को जीवन में उतारने की अभ्यास यात्राएँ ही हमारी पदयात्राएँ हैं। हमने इन पदयात्राओं द्वारा मालवा में सामूहिक व्यसन त्याग के दृश्य प्रत्यक्ष देखे हैं। हम जब तक जीवन की दिशा नहीं बदलेंगे तब तक व्रत शब्दाडंबर मात्र रहेंगे।

भूतपूर्व संघ अध्यक्ष **श्री गणपतराज बोहरा** ने कहा कि हम जो कुछ कहें वह करें भी। भाषण से पूर्व आचरण को सुधारें। अपनी आत्मा को टटोलें। कथनी-करनी की एकता होने पर ही हमारा सही विकास हो सकेगा। उन्होंने माताओं और बहिनों से नई पीढ़ी को सुसंस्कारित बनाने का अनुरोध करते हुए कहा कि यदि प्रसव करें तो उसे सार्थक भी बनावें। इसी संदर्भ में उन्होंने राजस्थानी का यह प्रेरक दोहा प्रस्तुत किया—

"जननी जणे तो दोय जण, कै दाता कै शूर।
नातर रैजे बांझड़ी, मती गमाजै नूर।।

श्री बोहरा ने एक संवत्सरी के विषय में श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म. सा. के मंतव्य को 'ओपन-कार्ड' कहकर संबोधित किया। उन्होंने कहा कि आचार्य श्रीजी सांवत्सरिक एकता के लिए महत्त्वपूर्ण घोषणा कर चुके हैं। संवत्सरी के लिए उनका कोई आग्रह नहीं है। सब मिलकर जिस दिन भी संवत्सरी मनाने का निर्णय करें, वे उसे स्वीकार करने की भावना रखते हैं।

श्री बोहरा ने कहा कि जयपुर के प्रबुद्ध जनों और संघ नेताओं ने जिस

प्रकार का एकता की भावना से ओतप्रोत, यह आयोजन किया है, उस पर हमें गर्व है। मैं इसके लिए जयपुर के सभी बन्धुओं को साधुवाद अर्पित करता हूँ।

सुप्रसिद्ध उद्योगपति एवं संघप्रमुख **श्री सरदारमल कांकरिया** ने कहा कि जयपुर के जागरूक भाई समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहते हैं। मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ। आज के कार्यक्रम से यह स्पष्ट हो गया है कि सभी की यह भावना है कि जैन समाज एक हो। हमें इस भावना को साकार बनाने में जुट जाना चाहिये। श्री कांकरियाजी ने उपस्थित महानुभावों को धर्मपाल प्रवृत्ति को निकट से देखकर अनुभव करने के लिए पदयात्रा में पधारने का निमंत्रण दिया।

संघ अध्यक्ष **श्री पी. सी. चोपड़ा** ने कहा कि संघ आज जिन ऊँचाइयों को छू रहा है, उसका श्रेय श्री गुमानमलजी सा. चोरड़िया को है। ये हमारे संघ की रीढ़ की हड्डी हैं। साधुमार्गी जैन संघ को इस बात पर गर्व है कि हमारे पांचों भूतपूर्व अध्यक्ष संघ को सुदृढ़ पीठबल प्रदान करते रहे हैं। श्री चोपड़ा ने कहा कि जयपुर में सहिष्णुता का जो भाव है, वह प्रशंसनीय है। सम्प्रदाय होना गलत नहीं है, पर सम्प्रदायवाद होना गलत है। जयपुर इस दिशा में आदर्श स्थापित करने को प्रयत्नशील है।

संघ अध्यक्ष ने आज प्रातःकाल संघप्रमुखों द्वारा देखे गए श्री सन्तोकबा दुर्लभजी हॉस्पिटल की सुव्यवस्था की सराहना करते हुए कहा कि यह अस्पताल नहीं, मानवसेवा का मंदिर है। यह महान् सेवा कार्य है।

श्री चोपड़ा ने मालवा क्षेत्र के गाँव-गाँव में स्थापित व्यसनमुक्त तीर्थों को देखने के लिए पधारने का सभी से अनुरोध किया। संघ अध्यक्ष ने इस आयोजन के लिए आयोजकों, विविध संस्थाओं तथा उपस्थित श्रोता समदाय के प्रति हृदय से आभार ज्ञापित किया।

वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी, शिक्षा शास्त्री एवं महावीर इन्टर नेशनल के संस्थापक अध्यक्ष **श्री जगन्नाथसिंह मेहता** ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा कि श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ ने अपने अच्छे उद्देश्यों एवं अभिनव श्रेष्ठ कार्य प्रणाली से समाज को एक नई दिशा दी है। मैं इसके लिए संघ का अभिनन्दन करता हूँ। श्री मेहता ने महावीर निर्वाणोत्सव को एक महान् उपलब्धि बताते हुए कहा कि इस वर्ष में जैन वर्ग निकट आए हैं। हमें इस सामीप्य को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिये। आपने कहा कि मानवसेवा को धार्मिक क्रियाओं के समान ही महत्त्वपूर्ण मानकर 'महावीर इन्टरनेशनल' की स्थापना की गई है। हमारा घोषित लक्ष्य है—'सबसे प्यार, सबकी सेवा।' इसकी प्राप्ति

में आप भी सहयोग प्रदान करें। श्री मेहता ने लम्बे भाषणों को श
धैर्य से सुनने के लिए सभी के प्रति आभार प्रकट किया।

समारोह-समापन से पूर्व श्री डागरिया पुनः मंच पर आग्रहवश आ
उन्होंने 'महावीर के बेटों' शीर्षक अपने ओजस्वी गीत से सब में
भर दिया।

जयघोषों के साथ यह अनूठा कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न हुआ।

श्री अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसाइटी :

२१-१-७८ को प्रातः कार्यसमिति के सदस्यों ने चौड़ा रास
श्री अमर जैन मेडिकल रिलीफ सोसाइटी द्वारा संचालित चिकित्सालय
श्री उमरावमल चोरड़िया ने सोसाइटी की गतिविधियों की संक्षिप्त ज
प्रस्तुत की। एतद् विषयक साहित्य भी वितरित किया गया। सभ
सुव्यवस्था से प्रमुदित हुए।

सन्तोकबा दुर्लभजी अस्पताल :

दिनांक २२ जनवरी को प्रातः कार्यसमिति के प्रमुख सदस्य स
दुर्लभजी अस्पताल देखने गये। अस्पताल और उसकी सुव्यवस्था देख
प्रसन्न हो उठे। यह जानकर सभी हर्ष मिश्रित आश्चर्य से भर
श्री खेलशंकर भाई नित्य नियमित समय इस अस्पताल के व्यवस्था-
सम्पादन हेतु देते हैं।

महावीर इन्टरनेशनल :

दिनांक २२-१-७८ को दोपहर में महावीर इन्टरनेशनल के
श्री जगन्नाथसिंह मेहता ने एक विशेष बैठक में कार्यसमिति के सदस्यों क
के उद्देश्यों, प्रवृत्तियों एवं कार्यों की जानकारी दी। मंत्री श्री डी० वी०
अन्य सदस्यों ने भी अपने विचार रखे।

इस प्रकार यह द्विदिवसीय आयोजन बड़ा सफल, भव्य और प्रेरक

षष्ठ खण्ड

वि ज्ञा प न

विज्ञापन-सहयोग हेतु सभी प्रतिष्ठानों एवं महानुभावों के प्रति

हार्दिक आभार

> समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय, अर्थात समदर्शी अपने-पराये की भेद बुद्धि से परे होता है।
>
> भ० महावीर
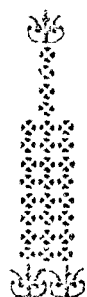
दृष्टि जब सम होती है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता, विकार नहीं होता और अपेक्षा नहीं होती, तब उसकी नजर में जो आता है, वह न तो राग या द्वेष से कलुषित होता है और न स्वार्थभाव से दूषित।

—आचार्य श्री नानेश

जिस प्रकार मुझ को दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है, जो ऐसा जानकर न स्वयं हिंसा करता है न किसी से हिंसा करवाता है, वह समत्वयोगी ही सच्चा श्रमण है।

भ० महावीर

स्व० श्री केशरीचन्द जी सा० कोठारी

को

पुण्य स्मृति में

कोठारी परिवार जयपुर द्वारा
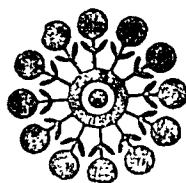
समता मानव मन के मूल में है — उसे भुलाकर जब वह विपरीत दिशा से चलता है तभी दुर्दशा आरंभ होती है।

— आचार्य श्री नानेश

साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनों में ही किसी तरह की आसक्ति न रखे, तटस्थ भाव से रहे।

—भ० महावीर
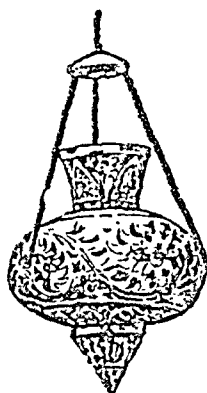
समता का आविर्भाव तभी संभव होगा जब राग और द्वेष को घटाया जाय।

—आचार्य श्री नानेश

> साधक को अन्दर और बाहर सभी ग्रंथियों से मुक्त होकर जीवन यात्रा पूर्ण करनी चाहिए।
>
> —भ० महावीर

फूसराज पूरणमल

६५, काटन स्ट्रीट, कलकत्ता—७.

ईश्वर की प्रार्थना से समभाव पैदा होता है
और समभाव ही मोक्ष का द्वार है।

—श्रीमद् जवाहराचार्य

जो भी ज्ञान और क्रिया के रास्ते पर आगे बढ़ेगा, उस पर निरपेक्ष भाव से अपना पराक्रम दिखायेगा, वह स्वयं समता पाएगा और बाहर समता फैलाएगा।

- आचार्य श्री नानेश

इन्द्रिय और मन के विषय रागात्मक मनुष्य के लिए ही दुःख के हेतु बनते हैं, वीतराग के लिए वे किंचित् भी दुःखदायी नहीं बन सकते।

—भ० महावीर

समता के वातावरण में पला-पोषा संसारी जीवन आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसी आदर्श समता का विकास कर सकेगा जो आत्मा को परमात्मा से मिलाती है।

—आचार्य श्री नानेश

'समो य जो तेसु स वीयरागो'
जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है, वह वीतराग होता है। —भ० महावीर

हार्दिक शुभकामनाओं सहित
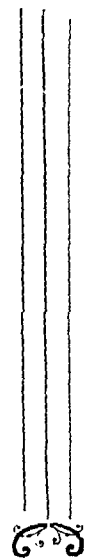
श्री चतुर्भुज हड़मानमल

१६, वोनफिल्ड लेन,

कलकत्ता–१

तुम किसी भी घटना के लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराओगे तो रागद्वेष होना अनिवार्य है, अतएव उसके लिए अपने आप उत्तरदायी बनो। इस तरीके से तुम निष्पाप बनोगे, तुम्हारा अन्तःकरण समता की सुधा से अप्लावित रहेगा।

—श्रीमद् जवाहराचार्य

तुम्हारे भीतर वास्तविक शांति होगी तो कोई दूसरा तुम्हें अशान्त नहीं कर सकेगा।

—श्रीमद् जवाहराचार्य

> जैसे पृथ्वी के आधार बिना कोई वस्तु नहीं टिक सकती और आकाश के आधार बिना पृथ्वी टिक नहीं सकती, इसी प्रकार सामायिक का आश्रय पाये बिना दूसरे गुण नहीं टिक सकते।
>
> —श्रीमद् जवाहराचार्य